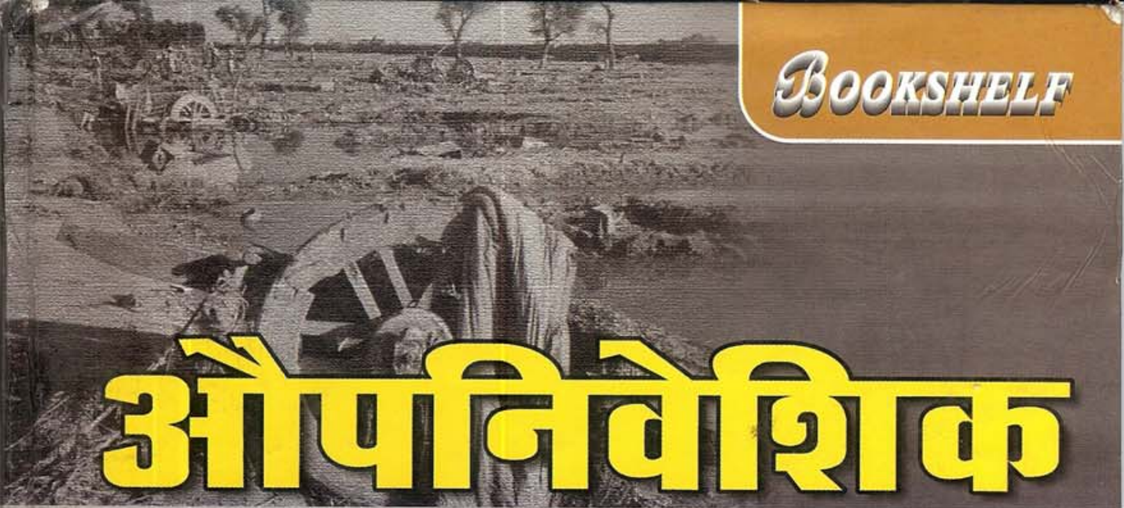
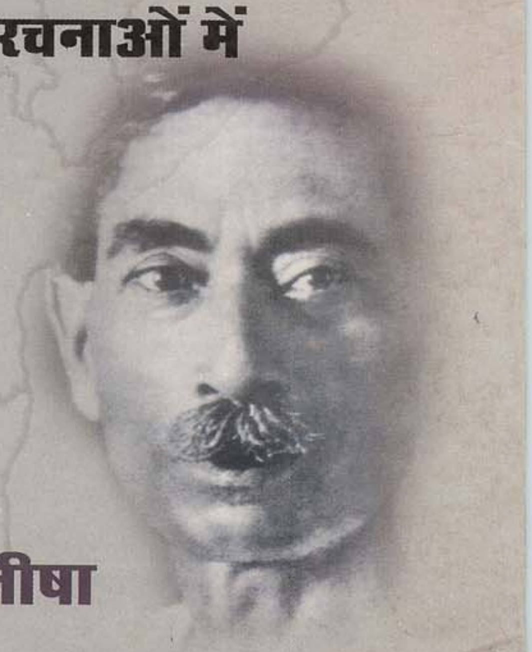


BOOKSHELF

औपनिवेशिक भारत का इतिहास

प्रेमचन्द की रचनाओं में



डा. मनीषा

औपनिवेशिक भारत का इतिहास
प्रेमचन्द की रचनाओं में

मनीषा
असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

BOOKSHELF
Publication Division of
KNOWLEDGE EVOLUTION MEDIA (KEM) PVT. LTD.
A-4, B-49, Joshi Colony, Patparganj, Delhi-110092
Phone : 011-22247119 e-mail : kempvtltd@gmail.com
H.O. : G-1, 418-Sector 5, Vaishali, Ghaziabad-201010

औपनिवेशिक भारत का इतिहास

प्रेमचन्द की रचनाओं में

मनीषा

FIRST EDITION–2011

Published by :
Alok Chauhan, for *BOOKSHELF*
A-4, Building No. B-49, Joshi Colony,
Patparganj, Delhi-110092
Phone : 011-22247119
e-mail : kempvtltd@gmail.com

H.O. : Plot No. 418, Ground Floor-I,
Sector 5, Vaishali, Ghaziabad-201010

Printed at : Shivam Offset Process, Delhi-110093

BOOKSHELF – New Delhi • Agra • Lucknow • Ghaziabad

यह पुस्तक मेरे
पूज्य माता-पिता को
सादर समर्पित

प्रस्तावना

यह कार्य लखनऊ विश्वविद्यालय में पी-एच.डी. की उपाधि के लिए शोध प्रबंध के रूप में लिखा गया था। इसका उद्देश्य प्रेमचन्द की रचनाओं के ऐतिहासिक महत्व की उपलब्ध शासकीय एवं गैर-शासकीय स्रोंतों के आधार पर प्रामाणिकता की जाँच करना है। इस शोध के दौरान कई ऐसे तथ्य मिले जो प्रेमचन्द द्वारा वर्णित घटनाओं की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हैं। इन तथ्यों का पुनरावलोकन करने के उपरांत इस शोध प्रबन्ध को 'औपनिवेशिक भारत का इतिहास—प्रेमचन्द की रचनाओं में' नामक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रेमचन्द एक ऐसे रचनाकार थे जिनकी पहुँच भारत के सामान्य और विशेष रूप से किसान वर्ग के जीवन के प्रत्येक पहलू तक थी। उन्होंने न केवल हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया वरन् अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण तत्कालीन परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करने की सामग्री भी उपलब्ध की। उनकी रचनाओं में उनका सम्पूर्ण युग प्रतिबिम्बित होता है। बीसवीं सदी के आरम्भिक 36 वर्षों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन से संबंधित छोटी-बड़ी सभी विशेषताओं का उनकी रचनाओं में व्यापक और जीवंत वर्णन मिलता है। इस पुस्तक में तथ्यों की वास्तविकता को ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर ज्ञात करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक प्रेमचन्द कालीन औपनिवेशिक समाज की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं हिन्दू-मुस्लिम संबंधों, सामाजिक विषमताओं ही नहीं वरन् महिलाओं की समाज, राजनीति और परिवार में भूमिका तथा तत्कालीन अंधविश्वासों और प्रतिबंधों आदि से भी संबंधित है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों, किसान आंदोलनों की भूमिका और किसानों में अपने अधिकारों के प्रति आई जागृति का भी विश्लेषण करने का प्रयास किया है।

प्रेमचन्द की अधिकतर रचनाएँ किसानों को ही समर्पित हैं। वास्तव में प्रेमचन्द, महात्मा गांधी और पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लगभग एक ही समय किसानों की शक्ति को पहचाना लेकिन प्रेमचन्द उनकी समस्याओं को लेकर ज्यादा मुखर थे। गांधी ने किसानों के लिए सन् 1917 में 'चंपारन आन्दोलन' चलाया, 1920-21 में नेहरू ने प्रतापगढ़ और रायबरेली के किसानों को जाग्रत किया और इसी दौरान 1918 में प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' लिखना शुरू किया था। परिणामस्वरूप राजनीति और साहित्य दोनों के क्षेत्रों का प्रसार भारत के गाँवों में अशिक्षित जनता की ओर हुआ।

यह परिवर्तन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी, जहाँ भारत की आम जनता की शक्ति को पहचानने का प्रयास हुआ। प्रेमचन्द कहीं भी स्वयं को तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों से अलग नहीं रख पाए, जो निश्चित रूप से एक जागरूक साहित्यकार का दृष्टिकोण ही हो सकता है। वह किसान आंदोलन को स्वाधीनता आंदोलन की रीढ़ मानते थे। साथ ही उन्होंने कांग्रेस जैसे अखिल भारतीय संगठन द्वारा गांधी के प्रादुर्भाव से पहले किसानों के संगठन और समस्याओं को महत्व न दिए जाने के प्रति असंतोष व्यक्त किया था। इसके अतिरिक्त वह मध्यवर्गीय भारतीयों की उदासीनता की भी आलोचना करते थे। संगठित किसान आंदोलनों की प्रेरणा उन्हें रूसी क्रान्ति से मिली थी और इसी तरह की व्यवस्था वह भारत में भी चाहते थे। अतः प्रेमचन्द एक शोषणहीन और ऐसे राज्य के समर्थक थे जहाँ मजदूरों और किसानों का शासन हो। इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में जनसाधारण के संगठित आंदोलन की प्रेरणा दी थी।

प्रेमचन्द के साहित्य पर अभी तक अनेक आलोचकों और शोधकर्ताओं ने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। लेकिन इतिहास में ऐसे शोध अपेक्षाकृत कम हैं, जहाँ उनकी रचनाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया गया हो। विगत कुछ वर्षों से सामाजिक विज्ञानों के साथ-साथ, इतिहासकारों का भी जीवन के विभिन्न पक्षों के विश्लेषण के लिए प्रेमचन्द की रचनाओं की ओर झुकाव बढ़ा है। निःसंदेह प्रेमचन्द एक ऐसे अपवाद हैं जो आज पहले से भी ज्यादा महत्वपूर्ण, जीवंत और प्रासंगिक हैं। उन्होंने समाज के उन वर्गों को उभारा जो समाज में अपने अधिकारों और पहचान के लिए संघर्षरत थे। अर्थात् उन्होंने केंद्र के नहीं वरन् परिधि के लोगों को महत्व दिया। आम भारतीयों के साथ-साथ उन्होंने साम्राज्यवादी सरकार की स्वार्थी नीतियों, कांग्रेस के प्रयासों और गांधी के आंदोलनों के प्रभाव एवं व्यापकता का भी विषद् वर्णन किया है। कुछ वैचारिक मतभेदों के बावजूद वह स्वयं गांधी से बहुत प्रभावित थे। जैसे गांधी ने पूरे भारत का प्रतिनिधित्व किया वैसे ही प्रेमचन्द मात्र उत्तर भारत का नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से मेरा यह प्रयास रहा है कि प्रेमचन्द द्वारा वर्णित जीवन के विभिन्न पक्षों का तत्कालीन उपलब्ध सरकारी और गैर-सरकारी स्रोतों के आधार पर विश्लेषणात्मक वर्णन किया जाय। इतिहास में तिथि और स्थान के अतिरिक्त शेष कल्पना होती है। इस कल्पना को साहित्य के माध्यम से यथार्थता में परिवर्तित किया जा सकता है, क्योंकि साहित्य जीवन की यथार्थता पर आधारित होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में तत्कालीन परिस्थितियों का ऐतिहासिक सीमाओं के अंतर्गत वस्तुनिष्ठ वर्णन करने का प्रयास किया गया है। इतिहास और उपन्यास में मोटे तौर पर मात्र इतना ही अंतर होता है कि प्रथम में तिथि और स्थान या देशकाल के अतिरिक्त सभी कुछ कल्पित होता है तो दूसरे में तिथि और स्थान को छोड़कर शेष यथार्थ और मानव परिवेश की घटनाओं पर आधारित होता है। प्रेमचन्द की रचनाओं का मुख्य क्षेत्र उत्तर भारत रहा है। लेकिन व्यवहारिक रूप से वह पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करते थे। उनके द्वारा वर्णित किसानों की विसंगतियाँ, हिंदू-मुस्लिम तनाव, औपनिवेशिक भारत में आम भारतीयों का सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक पतन और साम्राज्यवादी सरकार की नीतियों का प्रभाव मात्र उत्तर भारतीयों पर ही नहीं वरन् पूरे भारत अथवा भारतीयों की विसंगतियाँ थी। प्रस्तुत पुस्तक में तत्कालीन परिस्थितियों का ऐतिहासिक सीमाओं के अंर्तगत वस्तुनिष्ठ और तुलनात्मक वर्णन करने का प्रयास किया है।

विषय से संबंधित अधिकतर अध्ययन सामग्री राम आनन्द की 'प्रेमचन्द रचनावली' से प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द के उपन्यास, कहानियाँ, लेख, संस्मरण, भाषण भी काफी उपयोगी सिद्ध हुए हैं, जो प्रेमचन्द रचनावली के विभिन्न खण्डों के साथ 'विविध प्रसंग' और 'मानसरोवर' में उपलब्ध हैं। साथ ही उनके व्यक्तिगत जीवन की जानकारी उनकी पत्नी शिवरानी देवी और पुत्र अमृतराय के संस्मरणों से भी प्राप्त की है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए राजकीय पुराअभिलेखागार, लखनऊ, नेहरू मेमोरियल पुस्तकालय, नई दिल्ली, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, टैगोर पुस्तकालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, हिन्दी संस्थान, लखनऊ और अन्य पुस्तकालयों से सामाग्री एकत्र की गई है और इन पुस्तकालयों के लाइब्रेरियन्स और कर्मचारियों के सहयोग के प्रति आभार प्रकट करती हूँ। प्रेमचन्द पर लिखी गई पुस्तकों, जिसमें आलोचनात्मक पुस्तकें भी हैं और प्रेमचन्द पर प्रकाशित लेखों से भी अध्ययन सामाग्री प्राप्त की गई है। विभिन्न विषयों पर उनके व्यक्तिगत विचारों को जानने के लिए उनके पत्रों के संकलन (प्रेमचन्द रचनावली भाग-19) अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त एम.एच. सिद्‌दीकी, कपिल कुमार, राम आनन्द, रामविलास शर्मा, एस. गोपाल द्वारा संकलित नेहरू के कार्य और नेहरू मेमोरियल के पाण्डुलिपि विभाग में उपलब्ध बाबा रामचन्द्र के पेपर्स, माइक्रोफिल्मस्, सरकारी फाइलों आदि से बहुत उपयोगी सामाग्री प्राप्त की है।

प्रस्तुत विषय पर शोध करने और इसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की प्रेरणा मुझे मेरे माता-पिता के अतिरिक्त डॉ. अमित वर्धन और लखनऊ विश्वविद्यालय

के इतिहास विभाग के शिक्षकों--प्रो. रश्मि पांडे, प्रो. पी.के. घोष और डॉ॰ अरुप चक्रवर्ती से मिली। यह कार्य प्रेमचन्द की रचनाओं में रुचि रखने वालों के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण से एक नई विचारधारा को जाग्रत करने में सहायक होगा। इसके अतिरिक्त जो प्रेमचन्द को केवल साहित्य तक सीमित मानते हैं, उन्हें उनकी रचनाओं के ऐतिहासिक महत्व को समझने में सहायक होगा।

मनीषा

1.11.2010
इतिहास विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

विषय सूची

भूमिका

वर्तमान युग के बदलते हुए परिवेश, जीवन मूल्यों और नए विचारों के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन के दृष्टिकोण से प्रेमचन्द की रचनाएँ एक उत्कृष्ट विषय-वस्तु प्रदान करती हैं। उनकी रचनाओं में तत्कालीन औपनिवेशिक परिस्थितियाँ स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती हैं। विगत कुछ वर्षों में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की वास्तविकताओं के विभिन्न स्वरूपों का विश्लेषण करने के लिए प्रेमचन्द की साहित्यिक रचनाओं की ओर झुकाव बढ़ा है। अतः इस दृष्टिकोण से इस पुस्तक, 'औपनिवेशिक भारत का इतिहास-प्रेमचन्द की रचनाओं में' का विशेष महत्व है। आज समाज के पास महानताओं को जन्म देने की सामर्थ्य नहीं है। इसीलिए परिवर्तित परिस्थितियों में इतिहास से खोजी हुई विरासत की महानताएँ थकी हुई, बूढ़ी और असहाय नज़र आ रही हैं। लेकिन यह कहना गलत नहीं होगा कि प्रेमचन्द ऐसे अपवाद हैं जो आज पहले से भी ज्यादा महत्वपूर्ण, जीवन्त और प्रासंगिक हैं।

प्रेमचन्द ने कई दशक पहले भावी सामाजिक परिवर्तनों को अपनी रचनाओं के माध्यम से उजागर कर दिया था। प्रेमचन्द का उदय ऐसे समय में हुआ था, जब विश्व में साम्राज्यवादी व्यवस्था चरमराने लगी थी और हमारे देश में रूढ़िवादी और सामन्तवादी परम्पराओं पर निरंतर प्रहार किए जा रहे थे। प्रेमचन्द का साहित्य गांधीवादी विचारधारा से प्रारम्भ होकर आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद का विश्लेषण करता है, अन्ततः इससे आगे बढ़ते हुए समाजवादी विचारधारा का ज़बरदस्त समर्थन करता है। यह प्रेमचन्द की रचनाओं की प्रासंगिकता ही है कि आज भी समाजवादी विचारों को प्राथमिकता दी जा रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस क्षेत्र में कोई व्यापक कार्य नहीं हुआ है, अतः इस दिशा में यह एक नम्र प्रयास है।

पारिवारिक पृष्ठभूमि

बनारस से चार मील दूर एक गाँव 'लमही' में प्रेमचन्द, जिनका वास्तविक नाम धनपतराय श्रीवास्तव था, का जन्म 31 जुलाई, 1880 में हुआ था, यद्यपि उनकी जन्मतिथि को लेकर कुछ अपवाद है। राज्य संग्रहालय में उपलब्ध राजकीय सेवा की उनकी सेवा पुस्तिका के अनुसार उनकी जन्मतिथि 10 अगस्त, 1881 लिखी है। लगभग 20 वर्षों से अधिक की अपनी राजकीय सेवा में वह अध्यापक, सह और उप-विद्यालय निरीक्षक तथा सहायक अध्यापक के पद पर रहते हुए बीस रुपये, पचास रुपये और

साठ रुपये से होते हुए सौ रुपये मासिक वेतन प्राप्त करने लगे थे। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक प्रेमचन्द साहित्य के विशेषज्ञ डॉ. कमल किशोर गोयनका के अनुसार प्रेमचन्द का मूल नाम 'धनपतराय' था। जबकि 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्षों के अनुसार उनका असली नाम नवाबराय और उनके गाँव का नाम पाँडेपुर था। उनकी सेवा पुस्तिका गोयनका का समर्थन करती है। पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त काश्तकारी पारिवारिक व्यय के लिए पर्याप्त नहीं थी, इसीलिए उनके पिता अजायबलाल ने डाकखाने में मुलाजिम की नौकरी की, उनका वेतन बीस रूपए प्रतिमाह था। जब वह आठ साल के थे तभी उनकी माँ का देहान्त हो गया था और यह दुख उन्हें आजीवन रहा। क्योंकि उनके पिता ने दूसरा विवाह किया और अपनी सौतेली माँ से उनकी कभी नहीं बनी। इसीलिए पिता के स्थानान्तरण के कारण वह भी घर के बाहर रहते थे। 'कज़ाकी' कहानी में डाकखाने के एक चपरासी का वर्णन है। उसी में प्रेमचन्द ने अपने पिता के सम्बन्ध में लिखा — "पिताजी को गुस्सा होते देर न लगती थी। उन्हें सख़्त मेहनत करनी पड़ती थी, इसीलिए उन्हें गुस्सा बहुत जल्दी आ जाता था।"[2]

जन्म स्थान और पिता के स्थानान्तरण के कारण प्रेमचन्द जितना गाँव के करीब थे, उतना ही शहर के भी। मुख्यतया बनारस और उसके आस-पास के क्षेत्रों में ही उनका अधिकतर जीवन बीता। गाँव में ज़मींदार, पटवारी, मुंशी, महाजन, पुरोहित, दुकानदार आदि रहते थे और प्रेमचन्द का इनसे प्रभावित होना स्वाभाविक था। इस प्रकार जहाँ एक ओर वह कृषक जीवन से परिचित थे वहीं दूसरी ओर सरकारी नौकरी की वास्तविकता से भी अनभिज्ञ नहीं थे। उनका आरम्भिक जीवन आर्थिक विपन्नता में गुजरा था। स्कूल में पढ़ते हुए कर्ज़ लेने और महाजनों की निगाह बचाने का उनकों व्यक्तिगत अनुभव था। उन्होंने एक दर्ज़ी से कपड़े बनवाए थे। उसे दो ढाई रुपए की रकम का भुगतान करने में तीन साल लग गए। एक बेलदार से उन्होंने आठ आने उधार लिए जो उसने पाँच साल बाद उनके गाँव पहुँचकर वसूल किए।[3]

प्रेमचन्द की आवश्यकताओं के संबंध में शिवरानी देवी ने लिखा कि "उनका मोटा झोटा 'खाना पहरना' था। बारह आने वाला चमरौधा जूता और चार आने गज का कपड़ा यही उनके जीवन की समस्त आवश्यकताएँ थीं।"[4] इन आर्थिक विषमताओं ने उन्हें मितव्ययी बना दिया था और उनके जीवन के सभी अनुभव उनकी रचनाओं में दिखाई देते हैं। प्रेमचन्द ने उर्दू फारसी की शिक्षा मदरसों में प्राप्त की थी। कुछ दिन मिशन स्कूल में भी पढ़े, सरकारी स्कूलों में भी गए। यह सभी उन्हें गैर-मज़हबी बनाने में सहायक हुए। हिन्दी पढ़ना उन्होंने 1904 में, आर्य समाज के प्रभाव के कारण, आरम्भ किया था।

समसामयिक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में विचार करें तो प्रेमचन्द का साहित्य क्षेत्र में पदार्पण और देश के राष्ट्रीय जीवन में नई चेतना के साथ राष्ट्रीय आंदोलन का आरम्भ एक महत्वपूर्ण संयोग था। प्रेमचन्द ने जहाँ एक ओर साहित्य को उपन्यासों की एक नई विधा दी, वहीं आम जनता को अपनी रचनाओं में महत्व देते हुए, एक नया विषय देने का युगान्तकारी काम किया, क्योंकि इससे पहले देवकी नन्दन खत्री के 'चन्द्रकांता' और 'तिलस्म होशरूबा' ही पसन्द किए जा रहे थे। स्वयं प्रेमचन्द ने तेरह-चौदह साल की उम्र में 17 ज़िल्दों वाली जादू टोने और भूत प्रेतों पर आधारित पुस्तक 'तिलस्म होशरूबा' पढ़ी थी। इसके लेखक की कल्पना शक्ति से वह बहुत प्रभावित थे।[5] लेकिन स्वयं उनके जीवन के कटु यथार्थ से उनके चिन्तन और जीवन व्यवहार में बुनियादी अलगाव पैदा किया। कल्पना में सुन्दर राजकुमारियाँ और घोड़े पर सवार राजकुमार होते और व्यावहारिक जीवन में अत्याचार से पीड़ित हिन्दू विधवा थी, भीषण लू में सिर पर गट्ठा बाँधे किसान खेतों पर परिश्रम करता दिखाई दिया। विचारों के इसी संघर्ष में उन्होंने साहित्य साधना आरम्भ की।

1897 में पिता की मृत्यु के समय के हालात के बारे में लिखते हैं, "उस वक्त वे नवें दर्जे में था। घर में बीबी थी, सौतेली माँ थी, उसके दो बच्चे थे और आमदनी धेले की नहीं थी। मेरी इच्छा थी कि मैं एम.ए. पास करके वकील बनूँ, लेकिन मेरे पैरों में जो बेडियाँ पड़ी हुई थीं, वो सिर्फ लोहे की बेडियाँ नहीं, अष्ट धातु की बेड़ियाँ थीं, जबकि मेरी इच्छा यह थी कि मैं पहाड़ों की चोटियों पर पहूँचूं।"[6] इन्हीं हालातों में उन्होंने 1898 में परीक्षा दी, द्वितीय श्रेणी में पास हुए इसीलिए क्वींस कॉलेज में दाखिला नहीं मिला। इसी साल हिन्दू कॉलेज की बुनियाद पड़ी थी। प्रेमचन्द ने उस कॉलेज में दाखिला लेने का निश्चय किया, लेकिन दाखिले के इम्तहान में हिसाब के पर्चे में वह फेल हो गए। प्रेमचन्द ने लिखा "हिसाब मेरे लिए एवरेस्ट की चोटी था, जिस पर पहुँचने की मैं कभी उम्मीद ही नहीं कर सकता था।"[7] अन्ततः 1916 में मैट्रिक पास करने के 16 वर्ष बाद उन्होंने इण्टरमीडिएट का इम्तहान पास किया। 1899 में चुनार के एक छोटे स्कूल में उन्हें 18 रुपए प्रतिमाह के वेतन पर अध्यापक की नौकरी मिली और यहीं उनका बचपन समाप्त होता है।

प्रेमचन्द का साहित्यिक जीवन

भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन, सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन और साम्राज्यवादी शासन की दोषपूर्ण आर्थिक नीतियों ने प्रेमचन्द को एक नया कार्यक्षेत्र प्रदान किया। मूलतः प्रेमचन्द ने 1900 से ही अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत मानी है। लेकिन

उनकी उपलब्ध रचनाएँ। 1903 से ही उपलब्ध हैं। प्रेमचन्द ने पन्द्रह वर्ष की आयु में अपने दूर के एक रिश्तेदार का मजाक उड़ाने के लिए एक ड्रामा लिखा था और उनकी यह पहली कोशिश थी। लेकिन यह ड्रामा स्टेज पर पेश नहीं किया जा सका, क्योंकि ड्रामा उसके हाथ लग गया जिसका उसमें मजाक उड़ाया गया था। उसने उस ड्रामे को जला दिया था। यह नाटक उन्होंने अपने मामाजी के प्रेम और उस प्रेम के फलस्वरूप चमारों द्वारा की गई उनकी पिटाई पर लिखा था। इसका जिक्र उन्होंने 'पहली रचना' नामक लेख में किया है।[8] 1900 के आस-पास प्रेमचन्द ने संजीदगी से लिखना शुरू किया बदकिस्मती से उस ज़माने में उन्होंने जो कुछ लिखा वो सुरक्षित नहीं रह सका।

उनकी पहली उपलब्ध रचना 'असरारे मआदिब उर्फ देवस्थान रहस्य' है, जो उर्दू में लिखा गया एक छोटा उपन्यास है। यह उपन्यास बनारस से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'आवाज-ए-खल्क' में 1903 से 1905 के दौरान विभिन्न किस्तों में छपा था। यह एक शिक्षाप्रद उपन्यास था जिसमें देवस्थानों में व्याप्त व्याभिचार को उजागर किया गया। इसमें महन्तों एवं पुजारियों के अय्याशीपूर्ण जीवन का वर्णन है। जहाँ धर्म की आड़ में पाप किए जाते हैं। डॉ. रामबक्ष के अनुसार 'यह उपन्यास अपने उद्देश्यों में असफल है।'[9] यह एक सुधारवादी विचारधारा को प्रतिपादित करने वाली रचना है। इसमें सामाजिक सुधार की आकांक्षा धर्म क्षेत्र से की गई है जो तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन का नहीं बल्कि समाज सुधार आन्दोलन का प्रभाव था।

प्रेमचन्द का अगला उपन्यास 'हमखुर्मा और हमसवाब' था। यह प्रेमचन्द का पहला राजनीतिक-सामाजिक उपन्यास था। अमृतराय के अनुसार इसका प्रकाशन 1906 में हुआ था, लेकिन सम्भवतः इसकी रचना 1905 के पहले हो चुकी थी। क्योंकि इसमें बंगाल विभाज़न का बिल्कुल भी प्रभाव नहीं है। 1907 में इसका हिन्दी अनुवाद 'प्रेमा' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह एक बाल विधवा पूर्णा की दुख़द जिन्दगी पर आधारित है, जिसका उद्धार समाज सुधारक नायक अमृतराय करता है। 20वीं सदी के समाज सुधार आन्दोलन का प्रभाव इसमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इस उपन्यास में उन्होंने खाली उपदेश ही नहीं दिए वरन् स्वयं उसका पालन भी किया। उनकी पहली शादी नाकाम रही और उन्होंने दुबारा शादी की तो एक बाल विधवा शिवरानी देवी से। यह शादी 1906 में हुई थी।

उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने तत्कालीन समस्त ज्वलन्त विषयों पर अनेक लेख और टिप्पणियाँ लिखीं। 1909 में उर्दू पत्रिका 'ज़माना' में उन्होंने 'संयुक्त प्रान्त में आरम्भिक शिक्षा' नामक लेख में लिखा — "अब एक तरफ तो इस देहाती मदरसे को देखिए और दूसरी तरफ एक हिन्दुस्तानी देहाती मदरसे का ख्याल कीजिए। एक

पेड़ के नीचे, जिसके इधर-उधर कूड़ा-करकट पड़ा हुआ है और जहाँ शायद वर्षों से झाडू नहीं दी गई, एक फटे-पुराने टाट पर बीस-पच्चीस लड़के बैठे ऊँघ रहे हैं। सामने एक टूटी हुई कुर्सी और पुरानी मेज है। उस पर जनाब मास्टर साहब बैठे हुए हैं। लड़के झूम-झूम कर पहाड़े रट रहे हैं। शायद किसी के बदन पर साबित कुर्ता न होगा। यह आर्यावर्त का मदरसा है, जहाँ किसी ज़माने में तक्षशिला और नालंदा विद्यापीठ थे। कितना फर्क है हम तहज़ीब की दौड़ में दूसरी कौमों से कितना पीछे हैं कि शायद वहाँ तक पहुँचने का हौसला भी नहीं कर सकते।"[10] 'ज़माना' में ही प्रेमचन्द की पहली कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' प्रकाशित हुई थी।

सोज़े वतन और औपनिवेशिक सरकार

1909 में 'ज़माना' में प्रेमचन्द का पहला कहानी संग्रह 'सोज़े वतन' नवाबराय के नाम से प्रकाशित हुआ।[11] लेकिन सरकार ने जल्दी ही इसके लेखक का पता लगा लिया। यह कहानियाँ देशप्रेम पर आधारित हैं। इसकी पहली कहानी के अंत में लिखा है कि 'खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाज़त में गिरे दुनिया की सबसे अनमोल चीज है।' सरकार ने इस किताब को ज़ब्त कर लिया। प्रेमचन्द लिखते हैं, "उस समय मैं हमीरपुर जिले में शिक्षा विभाग में डिप्टी इंस्पेक्टर के पद पर काम कर रहा था। छः महीने बाद मेरे पास हुक्म आया कि मुझे डिस्ट्रिक्ट कलेक्टर ने फौरन बुलाया है। कलेक्टर के सामने मेरी किताब की एक प्रति रखी हुई थी, उसने हर कहानी के विषय में मुझसे पूछा और फिर बोले तुम्हारी कहानियों में बगावत भरी हुई है। तुम खुश किस्मत हो किए ब्रिटिश सरकार है। अगर यह मुगल सरकार होती तो तुम्हारे दोनों हाथ काट डाले गए होते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी हैं, तुमने अंग्रेज़ी सरकार की तौहीन की है।[12] अंत में फैसला यह सुनाया गया कि मैं किताब की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूँ और आइन्दा कलेक्टर की इज़ाज़त के बिना कुछ न लिखूँ। श्री रघुपति सहाय 'फिराक' के अनुसार सोज़े-वतन की पाँच सौ प्रतियों में प्रेमचन्द को आग लगा देने पर मजबूर किया गया।[13] लेकिन सोज़े वतन के प्रकाशक दयानारायण निगम के पास जो स्टाक बाकी रह गया था उसकी किसी ने खबर न ली और यह किताबें नष्ट होने से बच गईं।

इस घटना के संबंध में अमृतराय ने प्रेमचन्द की जीवनी में लिखा —"उस किस्से की कोई गहरी छाप उनके मन पर न थी। एक झोंका था जो आया और निकल गया और उसके साथ ही कुछ खेल का सा मज़ा, कुछ यह बात कि जो मैं खेल रहा हूँ, उसमें यह सब तो होना ही है।"[14] प्रतिबन्धों के बावजूद प्रेमचन्द ने निर्भय होकर अपनी रचनाएँ लिखीं। लेकिन उनके दृष्टिकोण में एक बुनियादी अंतर आया

जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से अपनी रचनाओं में देशप्रेम की भावना को जाग्रत किया और मुख्यतया उन्होंने सामाजिक सुधार से सम्बन्धित कहानियाँ लिखीं। इस समय तक उन्हें यह अहसास हो गया था कि साहित्य के माध्यम से भी विशाल ब्रिटिश साम्राज्य के अस्तित्व को खतरा हो सकता है अतः साहित्य देश सेवा का एक प्रमुख शस्त्र सिद्ध हुआ। अमृतराय ने प्रेमचन्द को 'कलम का सिपाही' कहा है जो आज़ादी की लड़ाई कलम रूपी शस्त्र से लड़ रहे थे।

नवाबराय का अन्त और प्रेमचन्द का उदय

प्रेमचन्द जैसे अक्खड़ साहित्यकार के लिए यह असंभव था कि वह अपनी प्रत्येक रचना को प्रकाशित करने के पहले कलेक्टर की अनुमति के लिए भेजें। वैसे भी नवाबराय और उनके जीवन की यथार्थता में काफी विरोधाभास था और स्वयं प्रेमचन्द ने भी इस तथ्य को स्वीकारा था। यद्यपि साहित्य में उनका प्रवेश धनपतराय उर्फ नवाबराय इलाहाबादी के रूप में हुआ था।[15] लेकिन दयानारायण निगम के अनुसार, "उनको इस नाम को त्यागना पड़ा, प्रेमचन्द इसके कायल न थे कि सरकार हर किस्म की ज्यादती करती रहे और वे उसके साथ इंतिहाई ईमानदारी बरतते रहें।"[16] अतः निगम की सलाह पर उन्होंने नवाबराय नाम छोड़कर प्रेमचन्द नाम से लिखना शुरू किया। यद्यपि इसका उन्हें थोड़ा अफसोस था जो 1 सितम्बर, 1910 में निगम को लिखे उनके एक पत्र से स्पष्ट होता है — "प्रेमचन्द अच्छा नाम है। मुझे भी पसन्द है। अफसोस सिर्फ यह है कि पाँच-छः साल में नवाबराय को ख्याति देने में। जो मेहनत की गई, वह सब अकारथ हो गई। यह हज़रत किस्मत के हमेशा लड़ूरे ही रहे और शायद रहेंगे।"[17]

इसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा — "मेरे लिए कलेक्टर को हर मजमून दिखाने की ऐसी पख लगी है कि एक मजमून महिनों में लौटकर आता है। ऐजुकेशनल गजट में प्रेमचन्द का नाम देना नहीं चाहता। मालूम नहीं यह हजरत हाथ पैर सँभालने पर क्या लिख बैठें। इन्हें किस्सागो ही रहने दीजिए। बैठे-बैठे प्रेम और वीर रस के किस्से लिखा करें।"[18] प्रेमचन्द नाम से पहली कहानी दिसम्बर 1910 में जमाना में 'बड़े घर की बेटी' नाम से प्रकाशित हुई। इसके साथ ही एक नए साहित्यकार का जन्म हुआ जिसने जीवन की वास्तविकताओं से स्वयं को जोड़ा। उनकी रचनाओं में आर्य समाज और उसके समकालीन सुधार आन्दोलनों का प्रभाव दिखाई देने लगा। उनका झुकाव बढ़ा —ऐतिहासिक कहानियों, हिन्दू राष्ट्रवाद और धार्मिक सुधार, सामाजिक जीवन, सामाजिक परिस्थितियों और सामाजिक राजनीतिक आन्दोलन के प्रभाव और परिणाम की ओर।

आर्य समाज के प्रभाव से और 1911-12 में 'हिन्दू राष्ट्रवाद' की ओर आंशिक झुकाव के कारण प्रेमचन्द ने 1913 से हिन्दी में लिखना शुरू किया। यद्यपि हिन्दी लिखना-पढ़ना उन्हें 1904 में ही आ गया था। इस संबंध में उन्होंने 1 दिसम्बर, 1915 में निगम को लिखा, अब हिन्दी लिखने की मश्क अर्थात् कोशिश भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुज़र नहीं है। यह मालूम होता है कि बालमुकुन्द गुप्त-मरहूम की तरह मैं भी हिन्दी लिखने में ज़िन्दगी सिर्फ कर दूँगा।[19] प्रेमचन्द का हिन्दी में लिखा गया पहला मौलिक उपन्यास 'सेवासदन'; 1918 था। इस प्रकार हिन्दी साहित्यकार के रूप में उन्होंने 20 वर्षों तक कार्य किया।

अपने बस्ती और गोरखपुर प्रवास के दौरान प्रेमचन्द को दशरथप्रसाद द्विवेदी, मन्नन द्विवेदी गज़पुरी और महावीर प्रसाद पोद्दार जैसे हिन्दी साहित्यकारों ने हिन्दी में लिखने की प्रेरणा दी।[20] शीघ्र ही वह श्रेष्ठतम हिन्दी साहित्यकारों की श्रेणी में आ गए। प्रेमचन्द को अपने जीवन काल में हिन्दी भाषी जनता का प्रबल समर्थन मिला। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान उनकी कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित करके महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने उन्हें हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय बनाया। महावीर प्रसाद पोद्दार ने 'हिन्दी पुस्तक एजेन्सी' से 1917 में उनका हिन्दी का प्रथम कहानी संग्रह 'सप्त सरोज' प्रकाशित किया था। हिन्दी भाषी प्रदेश के बाहर तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशों में भी वह लोकप्रिय हुए। भारत के बाहर सबसे पहले सोवियत संघ के लेखकों ने उनका महत्व पहचाना। 1926 में स्वर्गीय बरान्निकोव ने उनकी 'सौत' कहानी का अनुवाद उक्रेनी भाषा में किया था। तब से निरन्तर उनकी रचनाओं के अनुवाद वहाँ प्रकाशित होते रहे। सोवियत लेखकों के अनुसार — "कृषि प्रधान भारत देश के प्रतिनिधि लेखक प्रेमचन्द हैं।" बेस्क्रोवनी के अनुसार, "भारतीय साहित्य में किसानों की सही ज़िन्दगी की जीती-जागती और बोलती हुई तस्वीरें देने वाले वे पहले लेखक हैं।"[21]

'सेवासदन' के बाद प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों 'प्रेमाश्रम' 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि ने उनकी लोकप्रियता को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया था। इसी दौरान विश्व की दो महत्वपूर्ण घटनाओं, जिन्होंने दुनियाँ भर की राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक स्थितियों को बदल दिया, का प्रभाव प्रेमचन्द पर भी पड़ा और उन्होंने यह घोषणा की कि हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निर्भर है।[22]

1932 का वर्ष प्रेमचन्द के चरमोत्कर्ष का युग था। वह उर्दू और हिन्दी के श्रेष्ठ रचनाकार थे। इसके बावजूद उनकी आर्थिक स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। उनके मासिक पत्र 'हंस' और 'जागरण' के प्रकाशन से होने वाले घाटे ने उन्हें

दिवालिया बना दिया था।[23] अगस्त 1934 के एक पत्र में उन्होंने जैनेन्द्र कुमार को लिखा। हंस में चार हज़ार का घाटा उठा चुका हूँ, लेकिन साप्ताहिक जागरण की योजना को न रोक सका। इसमें भी कई हज़ार का घाटा ही होगा। लेकिन करूँ क्या? यहाँ तो ज़िन्दगी ही एक लम्बा घाटा है।[24] ऐसी आर्थिक कठिनाई के समय बम्बई के अजन्ता सिनेटोन के मोहन भवनानी ने उन्हें बम्बई आने और फिल्मों के लिए कहानियाँ लिखने का निमन्त्रण दिया।[25] न चाहते हुए भी उन्होंने फिल्मी दुनियाँ में प्रवेश किया। 30 अप्रैल, 1934 में जैनेन्द्र को लिखे एक पत्र में उन्होंने लिखा — 'बम्बई की बात नहीं कान्ट्रेक्ट की बात है। आठ हज़ार रूपए साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब मेरे लिए हाँ के सिवा कोई उपाय नहीं रह गया।' मैं सोचता हूँ क्यों न एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कॉन्ट्रेक्ट कर लूँगा कि यहीं बैठे-बैठे चार-पाँच हज़ार रूपए मिल जाया करें। उससे 'जागरण' और 'हंस' दोनों मजे से चलेंगे।[26]

4 जून 1934 को न चाहते हुए भी उन्होंने फिल्मी दुनियाँ में प्रवेश किया। बम्बई पहुँचे।[27] और 4 अप्रैल 1935 को बम्बई छोड़कर वापस बनारस आ गए।[28] बम्बई में काम करना उनके लिए एक नया अनुभव था। सुख-सुविधाओं के बावजूद उनका मन बम्बई में नहीं लगा।[28] नवम्बर 1934 को उन्होंने जैनेन्द्र को फिल्मी दुनियाँ के कटु अनुभव लिखे, 'मैं जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आए हैं, उस लीक से जौ भर हट नहीं सकते। यह लोग बेहूदगी को ही मनोरंजन समझते हैं।'[29] वास्तव में प्रेमचन्द को गुलाम बनकर लिखना स्वीकार नहीं था, वह अपने आत्मसम्मान के साथ समझौता नहीं कर सकते थे और साथ ही उन्होंने काल्पनिक और उद्भुत घटनाओं को नहीं वरन् जीवन की वास्तविकता से देश की अशिक्षित जनता तक अपने विचारों का प्रचार करना चाहा था।

उन्होंने जो कहानियाँ लिखी डायरेक्टर भवनानी ने काट-छाँट कर उसकी सूरत ही बिगाड़ दी। फिल्म 'मज़दूर' के बारे में उन्होंने लिखा था कि "मज़दूर में मैं इतना ज़रा सा आया हूँ कि नहीं के बराबर।"[30] इस काट-छाँट से असंतुष्ट प्रेमचन्द ने 7 फरवरी 1935 में लिखा, 'फिल्म में डायरेक्टर सब कुछ है। लेखक कलम का बादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डायरेक्टर की अमलदारी है और उसके राज्य में उनकी हुकूमत नहीं चल सकती। मैं जनरुचि को जानता हूँ। आप नहीं जानते।' इसके विरुद्ध डायरेक्टर जोर से कहता है, "आप नहीं, मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है और हम जनता की सलाह करने नहीं आए हैं। धन कमाना हमारी गरज है। जो चीज

जनता माँगेगी, वह हम देंगे।" "इसका जवाब यही है, अच्छा साहब, हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं।"[31]

प्रेमचन्द दस महीने बम्बई में रहे और 4 अप्रैल, 1935 को उन्होंने अपने आत्मसम्मान को बचाने के लिए बम्बई हमेशा के लिए छोड़ दिया। यह एक स्मरणीय सत्य है कि 'जयशंकर प्रसाद ने प्रेमचन्द को बम्बई जाने से रोका था।'[32] भवनानी ने बहुत कोशिश की कि प्रेमचन्द एक साल के लिए और रूक जाएँ, लेकिन प्रेमचन्द अपने फैसले पर अटल रहे। हिमांशु राय ने भी उनसे कॉन्ट्रेक्ट करना चाहा। लेकिन प्रेमचन्द ने उदारतापूर्वक उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। बम्बई छोड़ने से पहले उन्होंने 28 नवम्बर, 1934 को जैनेन्द्र को लिखा मुझे अपने उपन्यास 'गोदान' के कुछ आखिरी पन्ने लिखने हैं, लेकिन यहाँ मेरा दिमाग काम करने के लिए तैयार ही नहीं। इस वक़्त मेरी सबसे बड़ी इच्छा यह है कि मैं बम्बई को अलविदा कहूँ और अपनी पुरानी जगह वापस पहुँचूँ। वहाँ शायद पैसा न हो, लेकिन और बहुत कुछ है। यहाँ मुझे हर वक्त यही महसूस होता है कि मैं अपनी ज़िन्दगी तबाह कर रहा हूँ। वास्तव में 'गोदान' का विषय, किसान और बम्बई का फिल्म संसार दोनों एक-दूसरे के विपरीत थे।

बम्बई प्रवास ने उनकी रही सही सेहत भी खराब कर दी थी। बनारस लौटने तक उनके पेट की बीमारी बहुत बढ़ गई थी, लेकिन उन्हें गोदान को पूरा करने की चिन्ता थी और अन्ततः 1936 में उन्होंने 'गोदान' पूरा किया। 'गोदान' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है जिसका विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं में अनुवाद किया गया। 'गोदान' के तुरन्त बाद उन्होंने 'मंगलसूत्र' की रचना आरम्भ की जो एक गरीब और प्रसिद्ध साहित्यकार की कहानी है। इसे मूलतः स्वयं प्रेमचन्द जैसे गरीब और प्रसिद्ध साहित्यकार की जीवनी कही जा सकती है। लेकिन उनका यह उपन्यास अपूर्ण ही रहा। बीमारी के दौरान ही उन्होंने 'कुन' कहानी लिखी थी।

25 जून, 1936 को उन्हें खून की उल्टी हुई और उनकी तबियत और खराब हो गई। इसके बावजूद वह शान्त थे और स्वयं को रचनात्मक कार्यों में व्यस्त रखा। 1936 के प्रगतिशील लेखक संघ की अध्यक्षता प्रेमचन्द के जीवन की एक महान घटना थी। मृत्यु से पूर्व 9 जुलाई 1936 को प्रेमचन्द ने उपेन्द्रनाथ अश्क को एक पत्र में लिखा 'इस महाजनी दौर में पैसे का न होना अजीब है, ज़िन्दगी खराब हो जाती है, लेकिन इसके साथ यह भी न भूलना कि गरीबी और मुसीबतों का एक अख़लाकी पहलू भी है, इन्हीं आजमाइशों में इनसान, इनसान बनता है, उसमें खुद एतमादी पैदा होती है। अगर आदमी का काबू हो तो किसी देहात में जा बैठे। दो एक जानवर पाल

लें, कुछ खेती कर लें और जिन्दगी गाँववालों की खिदमत में गुजार दें। शहर में रहकर, खासकर बड़े शहरों में तो सेहत, ज़िन्दगी, सब कुछ तबाह हो जाती है। फिलहाल इतना ही। थक गया हूँ। अब लेटूँगा।"[33] इसी दौरान रूसी लेखक गोर्की की मृत्यु का उन्हें बहुत दुख हुआ। वह शोक सभा में जाना चाहते थे लेकिन शिवरानी देवी ने कहा — "जब तबियत ठीक नहीं है, तो भाषण केसे लिखा जाएगा? क्या जरूरी है? वह कौन से हिन्दुस्तानी थे।" इस पर प्रेमचन्द ने कहा कि "यही हमारी तंगदिली है, गोर्की इतना बड़ा साहित्यकार था कि उसके मुताल्लिक कौमियत का सवाल ही नहीं उठता।" अन्ततः वह शोकसभा में गए, लेकिन कमजोरी के कारण अपना लेख स्वयं नहीं पढ़ सके।

27 फरवरी, 1936 में उन्होंने अख़्तर हुसैन रायपुरी को अपनी बीमारी और भावी योजनाओं के बारे में लिखा "मैं करीब एक माह से बीमार हूँ। पेट में गैस्ट्रिक अल्सर की शिकायत है। गर बच गया तो बीसवीं सदी नाम का रिसाला अपने लोगों के ख्यालात की इज्जत के लिए जरूर निकालूँगा।"[34] कुछ दिन लखनऊ में डॉ० हरगोविन्द सहाय से इलाज करवाया, लेकिन फायदा न होने और पैसों की समस्या के कारण वह वापस बनारस आ गए। इसी बीच 'हंस' से एक हज़ार की ज़मानत माँगी गई और 12 अगस्त, 1936 को साहित्य परिषद ने उसे बन्द करने का निर्णय लिया। लेकिन उस बीमारी और आर्थिक तंगी के बावजूद उन्होंने ज़मानत भरी और उसका सम्पादन कार्य पुनः सँभाला।[35] सितम्बर 1936 में उनका लेख 'महाजनी सभ्यता' हंस में प्रकाशित उनका अन्तिम लेख था।

अक्टूबर 1936 के पहले सप्ताह में उन्होंने अपने निकटम मित्रों दयानारायण निगम और जैनेन्द्र को बुलवाया। इनके अनुसार जीवन के अन्तिम समय में भी उन्हें अपने परिवार की जितनी चिन्ता थी, उतनी ही चिन्ता हंस और साहित्य के भविष्य को लेकर भी थी। 8 अक्टूबर, 1936 को प्रेमचन्द की मृत्यु हुई। अमृतराय के अनुसार "उनके अन्तिम संस्कार में मुश्किल से दर्ज़न भर लोग शामिल हुए। मामूली और सादे तरीके से उनकी जिन्दगी शुरू हुई थी और उसी तरीके से उसका अन्त हुआ।"[36] "उनकी अर्थी को कन्धा देने वालों में जयशंकर प्रसाद भी थे।"[37] 8 अक्टूबर, 1903 को उनका पहला उपन्यास 'असरारे मआबिद' प्रकाशित हुआ था और 8 अक्टूबर 1936 को ही उनकी लेखनी बन्द हो गई। यह एक ऐसे साहित्यकार की जीवन यात्रा का अन्त था जिसकी आवाज़ भारत की आम जनता की आवाज़ थी।

प्रेमचन्द ने अपने जीवन के कई वर्ष लखनऊ में व्यतीत किए। यहाँ वह अमीनाबाद में एक पुराने मकान में रहते थे, 'माधुरी' नामक साहित्यिक पत्रिका का सम्पादन करते, कहानियाँ लिखते और 'निर्मला' और प्रतिज्ञा जैसे छोटे उपन्यास भी

यहीं रहकर लिखे। यहाँ उन्होंने साम्राज्यवादियों की वास्तविकता देखी, नवाबों के जीवन को करीब से देखा और समझा तथा हिन्दू-मुस्लिम तनाव को स्वयं महसूस किया।[38] प्रेमचन्द का लखनऊ प्रवास उन्हें शहरी मध्यवर्ग का साहित्यकार बनाता है। इस दौरान किसानों से उनका उतना सम्पर्क नहीं रहा जितना मध्यवर्ग की समस्याओं से और यह प्रभाव उनकी कहानियों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

लखनऊ के तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर हेली ने प्रेमचन्द के पास एक संदेश भेजा — "गवर्नर साहब आपको 'रायसाहब' के सम्मान से सम्मानित करना चाहते हैं।" यह संदेश लेकर प्रेमचन्द शिवरानी देवी की राय लेने गए और उन्होंने इसे लेने की सलाह दी। इस पर प्रेमचन्द ने कहा, "जानती हो क्यों देना चाहते हैं? तब मैं जनता का आदमी न रहकर एक पिट्ठू भर रह जाऊँगा। तब गवर्नमेंट मुझसे जो लिखवाना चाहेगी, मैं लिखूँगा।" और शिवरानी देवी का जवाब था कि "सरकार का पिट्ठू बनना बड़े शर्म की बात है।" बाहर आकर प्रेमचन्द ने एक पत्र दिया कि मुझे सरकार की रायसाहबी नहीं चाहिए। यदि जनता की रायसाहबी मिलेगी तो सिर आँखों पर।"[39] इस प्रकार वह सरकार, जिसने प्रेमचन्द की 'सोज़े वतन' जब्त कर ली थी, अब प्रेमचन्द को रायसाहबी से खरीदने का असफल प्रयास किया, लेकिन प्रेमचन्द ने एक स्वतन्त्र लेखक के जीवन को ही प्राथमिकता दी।

शिवरानी देवी ने लखनऊ की कुछ घटनाओं का वर्णन किया है। एक दिन (1928) लखनऊ में वायसराय आए थे, तब चालीस हज़ार रूपए केवल अतिशबाजी में खर्च किए गए। प्रेमचन्द अपने परिवार के साथ इसे देखने गए और जल्द ही लौट आए और बोले, "अब सुनो आतिशबाजी की बात। जो राजे-महाराजे हर साल यहाँ आते हैं वे कुछ-न-कुछ इसीलिए यहाँ रखते जाते हैं कि जब जब वायसराय और युवराज यहाँ पधारें तो वह उनके स्वागत में खर्च हों। और जो कमी पड़ती है वह तुम्हारे यहाँ के काश्तकारों से वसूल किया जाता है। उन गरीबों के खून की कमाई कूड़ा-घास की तरह आतिशबाजी में फूँक दी जाती है। जिस मुल्क के आदमी की कमाई छः पैसे रोज हो, उस मुल्क में किसी को क्या हक है कि एक-एक शहर में 40-40 और 50-50 हजार रूपए अतिशबाजी में फूँका जाए।"[40]

अपने अमीनाबाद के मकान में जमीन पर बैठकर एक छोटी सी मुनीसी डेस्क पर वे कलम-दवात से रचनाएँ लिखते थे। 'रंगभूमि' की रचना यहीं पर हुई थी। प्रेमचन्द की पत्रिका 'हंस' बनारस के सरस्वती प्रेस से प्रकाशित होती थी, लेकिन प्रेमचन्द लखनऊ में ही रहते थे। अमीनुद्दौला पार्क में वह कई दिनों तक रहे और 'माधुरी' का सम्पादन भी किया। इस पत्रिका में छपी उनकी कहानी मोटेराम शास्त्री

ने उन्हें काफी प्रचलित कर दिया था और यह कहानी 'माधुरी' में दुबारा छापनी पड़ी। यहीं से उन्होंने अपनी बेटी कमलादेवी का विवाह 1929 में किया था।

एक बार कालाकांकर के राजा अवधेश सिंह प्रेमचन्द से मिलने गए। तब प्रेमचन्द ने उन्हें अपने साथ ही जमीन पर बैठा लिया। उनकी पत्नी ने इस पर आपत्ति की तो प्रेमचन्द ने कहा कि "मैं तो मज़दूर हूँ जो मोटा-मोटा खाने पहनने को मिलता है यही काफी है। मेरी गद्दी तो ज़मीन है जिसको बैठना हो बैठे नहीं चला जाए।"[41] 1930 के बाद वह बनारस चले गए लेकिन बीच-बीच में लखनऊ आते रहते थे। जिस समय 'रंगभूमि' छप रहा था (1925-26) वे लखनऊ में ही रहे। उनके लिए 'गंगा पुस्तक माला' के मालिक दुलारे लाल भार्गव ने लाटूश रोड पर एक मकान किराये पर लिया था। लखनऊ के गणेशगंज में भी प्रेमचन्द कुछ समय तक रहे। 9 नवम्बर, 1930 को शिवरानी देवी को यहीं कांग्रेस के आन्दोलन के दौरान धरना देने के लिए गिरफ्तार किया गया था। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन लखनंऊ में हुआ जिसकी अध्यक्षता प्रेमचन्द ने की थी।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

"प्रेमचन्द का युग देश के राजनीतिक जीवन में संक्रान्ति का युग था। प्रेमचन्द गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलनों से बहुत प्रभावित थे साथ ही वह उग्रवादी विचारधारा का भी समर्थन करते थे। तिलक भारतीय राजनीति में पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दुस्तान को आज़ाद कराने के लिए आम जनता को जाग्रत करने और उसकी मदद से आज़ादी की लड़ाई को आगे बढ़ाना चाहा। जबकि कांग्रेस के नेता सरकार से स्वयं को हुकूमत चलाने के कार्यों में शामिल करने के लिए प्रार्थनाएँ दे रहे थे। गांधी से पहले वह रूस के सोशलिज्म से प्रभावित हो चुके थे। उनके समय में गांधी के सभी प्रमुख आंदोलन हुए थे और सभी का प्रभाव प्रेमचन्द की रचनाओं में दिखाई देता है, लेकिन वह गांधी के असहयोग और बारदोली आन्दोलन से विशेष रूप से प्रभावित थे। इस प्रकार प्रेमचन्द साहित्य स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ विकसित हुआ, उसमें देशभक्ति और देशोद्धार की लालसा है, देशोन्नीत न हो पाने की खीझ है और देशोद्धार के बाधक तत्वों के प्रति गहरा अक्रोश है।"[42]

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में 1919-22 के वर्षों का विशेष महत्व है। लेकिन 1905 के बंगाल विभाजन की अवहेलना नहीं की जा सकती जिसने स्वदेशी की विचारधारा को प्रचारित किया। 1905 को प्रेमचन्द ने एक लेख लिखा — 'देशी चीजों का प्रचार केसे बढ़ सकता है।' इसमें देश की व्यापारिक और औद्योगिक उन्नति के लिए गाँव की ओर मुखातिब होने की वकालत की गई। "हमारी आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा

देहातों में आबाद है, जिसमें बिना किसी अतिरंजना के निन्यानबे फीसदी तो ऐसे हैं जिनको शहर में आने का बहुत कम इत्तिफाक होता है। लिहाजा शहरों में स्वदेशी दुकानों का खुलना, चाहे वह केसे ही अच्छे उसूलों पर क्यों न हों व्यापार को बहुत लाभ नहीं पहुँचा सकता।' देहाती आमतौर पर ईमानदार होते हैं और सौदा ले लिया तो उसको अदा करने में गड़बड़ी नहीं करते।"[43] इसीलिए उन्होंने देशी वस्तुओं के प्रचार के लिए देहातों में जाने की अपील की।

16 नवम्बर, 1905 में उन्होंने चीनी, रूई आदि के उत्पादन में भारत के आत्मनिर्भर होने के संभावना पर प्रकाश डालते हुए 'स्वदेशी आन्दोलन' का समर्थन किया था।[44] 1908 में उन्होंने यूरोप की अजेयता का भ्रम तोड़ते हुए एक लेख 'तुर्की में वैधानिक राज्य' पर लिखा और एशिया तथा भारत की स्वाधीनता की मांग की। वास्तव में स्वाधीनता की भावना तत्कालीन बौद्धिक वातावरण में व्याप्त थी और देश में हो रही राजनीतिक हलचलों से प्रेमचन्द भी प्रभावित हुए।

पूर्ण स्वराज्य और सभापति के निर्वाचन के प्रश्न पर 1907 में कांग्रेस का विभाजन हुआ, वहीं क्रान्तिकारियों ने कई राजनीतिक हत्याएँ की थीं और साम्राज्यवादी सरकार ने उन्हें फाँसी की सजा दी। 1908 में कलकत्ता में अलीपुर षड्यन्त्र केस में 35 लोगों को फाँसी की सज़ा दी गई। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप प्रफुल्ल चाकी और खुदीराम बोस ने मुजफ्फरपुर के पुलिस मजिस्ट्रेट किंग्जफोर्ड पर बम फेंका जिससे मि. और मिस केनेडी घायल हो गए। चाकी ने स्वयं को गोली मार ली जबकि खुदीराम बोस को 11 अगस्त, 1908 को फाँसी दी गई। 1909 में लन्दन में मदन लाल धींगरा ने सर कर्जन वाइली को गोली मार दी। इसमें धींगरा और उनके वकील दोनों को फाँसी की सजा दी गई। 1914 मे प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हुआ। औपनिवेशिक देश होने के कारण भारत भी इसमें शामिल हुआ। कांग्रेस ने युद्ध में हर संभव सहायता दी थी। स्वयं गांधी ने गुजरात के किसानों से रंगरूट भरती कराए थे, लेकिन साहित्यकार प्रेमचन्द ने युद्ध की विजय के उत्सव में भाग नहीं लिया था।[46] 1919 के 'मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों'[47] को कांग्रेस ने निराशाजनक कहा। इन सुधारों के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने 21 दिसम्बर, 1919 में लिखा — इनसे पढ़े लिखे तबकों को और सहूलियतें मिल जाएँगी, जिनसे ऐसे हालात पैदा होंगे कि जिस तरह यह ज़माअत वकील बनकर रिआया का खून पी रही है उसी तरह आइन्दा यह हाकिम होकर रिआया का गला काटेगी।

1918 में विश्वयुद्ध के बाद भारत को यह आशा थी कि उसे स्वशासन का अधिकार दिया जाएगा, लेकिन ऐसा संभव नहीं हुआ और फरवरी 1919 में 'रौलेट एक्ट' लागू किया गया। गांधी ने यह घोषणा की कि "रौलेट बिल के विरुद्ध

वह सत्याग्रह करेंगे"[49] यहीं से भारतीय राजनीति में गांधी युग आरम्भ हुआ, जिसका प्रभाव केवल बुद्धिजीवियों और शहरी जनता पर ही नहीं वरन् भारत की आम जनता पर भी पड़ा। अप्रैल 1919 में जलियाँवाला बाग की नृशंस घटना हुई। इस घटना के विषय में प्रेमचन्द की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में शिवरानी देवी ने लिखा — "जलियाँवाला बाग में जो जबर्दस्त कत्ले-आम हुआ था इसकी आग सभी के दिलों में होना स्वाभाविक थी। वह शायद मेरे भी दिल में रही हो, मैंने उनसे कहा छोड़ दीजिए नौकरी। पच्चीस साल की नौकरी को छोड़ते हुए संकोच तो होना ही था मगर नहीं। मुल्क पर जो अत्याचार हो रहे थे उन्हें देखते हुए तो यह शायद नहीं के बराबर थी।"[50] भारत में उस समय दमन का कितना जबरदस्त सिलसिला चल रहा था इसका पता इसी से लगाया जा सकता है कि "कांग्रेस कमेटी के नेताओं को भी इस हत्याकांड की जानकारी घटना के चार महीने बाद हुई और लगभग आठ महीनों तक इस हत्याकांड के किसी भी समाचार को सरकार ने न तो अख़बारों मे छपने दिया और न ही इसे ब्रिटिश पार्लियामेन्ट तथा ब्रिटिश जनता के सामने आने दिया।"[51] 1920 में गांधी ने सरकार के विरुद्ध निर्णायक लड़ाई छेड़ने का निर्णय लिया।

उन दिनों प्रेमचन्द गोरखपुर में थे। ''यद्यपि वह साहसी नहीं थे, लेकिन देश के स्वाभिमान और सामाजिक न्याय के विरुद्ध कोई काम हो तो उन्हें फौरन जोश आ जाता था और वे बेधड़क मैदान में कूद पड़ते थे।"[52] शिवरानी देवी गोरखपुर की एक घटना के बारे में लिखती हैं —"एक बार एक इन्सपेक्टर स्कूल का मुआयना करने आया। अगले दिन छुट्टी थी और प्रेमचन्द अपने घर पर दरवाज़े पर आरामकुर्सी पर बैठे अखबार पढ़ रहे थे। सामने से इन्सपेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। वह यह आशा करता था कि उठकर सलाम करेंगे। लेकिन ऐसा न होने पर उन्होंने अपने अर्दली से उन्हें बुलाकर कहा 'तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है, उठकर सलाम भी नहीं करते।' इसके जवाब में उन्होंने कहा 'मैं जब स्कूल में रहता हूँ तब नौकर हूँ। बाद में मैं भी अपने घर का बादशाह हूँ।"[53]

स्वदेशी आन्दोलन के बाद 1920-21 कांग्रेस ने गांधी के नेतृत्व में एक और निर्णायक आन्दोलन अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया। जब गांधी अपने आन्दोलन का प्रचार कर रहे थे तब वह 8 फरवरी, 1921 को गोरखपुर पहुँचे और उन्होंने लोगों से आन्दोलन में शामिल होने की अपील की। प्रेमचन्द काफी दिनों से नौकरी छोड़ना चाह रहे थे, क्योंकि वह अंग्रेजों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहते थे। 16 फरवरी, 1921 को उन्होंने अपनी 20 वर्ष पुरानी सरकारी नौकरी छोड़ दी।[54] साथ ही उनकी आठ साल पुरानी पेचिश की बीमारी भी समाप्त हो गई, जिससे वह भाग्यवादी बन गए थे। लेकिन फिर भी वह सक्रिय राजनीति में शामिल नहीं हुए।

इसके बाद वह कुछ दिन गोरखपुर में रहे, वहाँ पोद्धार जी के साथ चर्खा संघ चलाया, बाद में लमही चले गए। 21 जून, 1922 को वह मारवाड़ी स्कूल, कानपुर में साल भर रहे फिर बनारस से प्रकाशित पत्रिका 'मर्यादा' से जुड़ गए, फिर काशी विद्यापीठ में नियुक्त हुए। 1923 में 'सरस्वती प्रेस' की स्थापना की लेकिन आर्थिक परेशानियों के कारण उन्होंने 'गंगा पुस्तक माला', लखनऊ में लिटरेटी असिस्टेंट का पद सँभाला। कुछ दिन बाद पुनः बनारस आ गए। इस प्रकार प्रेमचन्द के जीवन का यह समय काफी अव्यवस्थित था। इसके बावजूद "उन्होंने भारत की आज़ादी की लड़ाई का ऐसा सिपाही कहा जा सकता है, जिसके हाथ में रायफल के बजाय कलम थी।"[55]

असहयोग आन्दोलन का मूल आधार हिन्दू-मुस्लिम एकता थी और 1922 में उसके निलम्बन के बाद यह भावना भी जाती रही। क्रान्तिकारियों ने हिंसात्मक नीति अपनाई तो कुछ प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवादियों ने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। प्रेमचन्द ने ऐसे संकीर्णतावादियों की अपनी रचनाओं में आलोचना की और सामुदायिक एकता के प्रयास किए। वहीं दूसरी ओर कांग्रेस के कुछ नेता कौंसिल प्रवेश और नवम्बर में होने वाले चुनावों में भाग लेने की माँग कर रहे थे, लेकिन अधिकतर पुराने गांधीवादी नेताओं ने इसका विरोध किया। अन्ततः 1923 में स्वराज्य दल का गठन हुआ। वास्तव में यह समय राजनीतिक शिथिलता का था और रचनात्मक कार्यों का सर्वथा आभाव रहा। 17 फरवरी, 1923 में प्रेमचन्द ने लिखा ''मैं किसी भी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिए कि दोनों में से कोई पार्टी कुछ अमली काम नहीं कर रही है।"[56] 1922-27 तक देश के विभिन्न भागों मे साम्प्रदायिक दंगे हुए जिससे साम्प्रदायिक नेताओं को लोकप्रियता मिली। हिन्दू महासभा का गठन हुआ और मुसलमानों ने भी तबलीग (धर्म प्रचार) पर बल दिया। जिसके लिए हिन्दुओं का शुद्धि आन्दोलन उत्तरदायी था। कांग्रेस एकता कायम रखने में असफल रही, क्योंकि अलगाववादियों को सरकार का समर्थन प्राप्त था। इस सम्बन्ध में यह एक महत्वपूर्ण सत्य है कि ग्रामीण क्षेत्र इन झगड़ों से मुक्त रहे।

फरवरी 1930 में कांग्रेस ने गांधी को 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' आरम्भ करने के अधिकार दिए। लेकिन इससे पहले कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ घट चुकी थीं। 1928 में 'साइमन कमीशन' आया और उसके विरोध में हुए प्रदर्शन पर पुलिस के लाठी चार्ज से लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गई थी। 8 अप्रैल, 1928 में केन्द्रीय संसद भवन में 'ट्रेड डिस्प्यूट बिल' और 'पब्लिक सेफ्टी बिल' पर विचार के समय भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने बम फेंका, 26 जनवरी, 1930 को भारत में स्वाधीनता दिवस

मनाया गया और भारतीयों का अन्तिम लक्ष्य पूर्णस्वराज्य निश्चित किया गया।[57] 12 मार्च को गांधी ने दांडी यात्रा की और 5 अप्रैल को नमक कानून तोड़ा, पूरे देश ने उनका अनुसरण किया। ''प्रेमचन्द उस समय लखनऊ में थे अमीनउद्दौला पार्क में स्वयं सेवक नमक बनाते थे और विदेशी वस्त्रों की होली जलाते थे। प्रेमचन्द ने स्वयं अपने हाथों से कई स्वयं सेवकों को खद्दर का कुर्ता और टोपी पहनाकर नमक बनाने के लिए भेजा था।"[58]

प्रेमचन्द गांधी के नमक सत्याग्रह से बहुत प्रभावित थे। ''उन्होंने लिखा हम तो महात्मा जी की सूझबूझ के कायल हैं जो बात की, खुदा की कसम लाजवाब की। न जाने कहाँ से 'नमक कर' खोज निकाला कि उसने देखते-देखते आग लगा दी।"[59] इस आन्दोलन की व्यापकता, महिलाओं की भागीदारी, और जनसाधारण की सहानुभूति महत्वपूर्ण थी। बहिष्कार आन्दोलन और विदेशी उत्पादनों की दुकानों पर धरना देने की नीति भी काफी सफल रही। लखनऊ में ही शिवरानी देवी को विदेशी वस्त्रों की दुकान पर धरना देने के आरोप में गिरफ्तार किया गया था।[60] 5 मार्च, 1981 में 'गांधी-इरविन समझौते' के साथ यह आन्दोलन समाप्त हुआ। 1932 में 'द्वितीय गोलमेज सम्मेलन' से निराश लौटे गांधी ने पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू किया, लेकिन जनवरी 1932 में गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गए। यह आन्दोलन देशव्यापी था। 3 जून, 1932 को प्रेमचन्द ने लिखा, "मेरी आकांक्षाएँ तो कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविश नही। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो चार उच्च कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य विजय ही है।"[61]

अगस्त 1932 में अछूतों को 'पृथक निर्वाचन' के अधिकार दिए गए जिसके विरोध में गांधी ने 21 दिन का उपवास रखा जो 'पूना पैक्ट' के साथ समाप्त हुआ। प्रेमचन्द ने इस 'महान तप' पर लेख लिखा और गांधी के अछूतोद्धार आन्दोलन का समर्थन किया। प्रतिक्रियावादियों ने जितनी घृणा गांधी के इस आन्दोलन से की उतनी ही प्रेमचन्द की जातीय समानता की विचारधारा से भी की। इस प्रकार प्रेमचन्द की साहित्यिक रचनाओं पर तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव पड़ा। उसमें विदेशी प्रभुत्व को समाप्त करने की भावना थी। प्रेमचन्द पर गांधी का व्यापक प्रभाव पड़ा था, क्योंकि गांधी के संघर्ष और प्रेमचन्द का रचनाकाल एक ही था। अतः दोनों एक ही युग में दो भिन्न क्षेत्रों से एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास कर रहे थे।

सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ

प्रेमचन्द स्वयं एक सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे, इसलिए उन्होंने समाज के निम्न और मध्यवर्ग के जीवन और उसकी समस्याओं को विशेष महत्व दिया। साहित्यकार और समाज स्पष्ट रूप से एक-दूसरे से संबन्धित होते हैं। अतः साहित्य में समाज को प्रतिबिम्बित करने की स्वाभाविक क्षमता है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रभावों से भारतीय समाज प्रभावित हुआ था। पं. नेहरू के अनुसार, "हिन्दुस्तान पर पश्चिमी संस्कृति का आघात, एक गतिशील समाज और आधुनिक चेतना का एक ऐसे गतिहीन समाज पर आघात था, जो मध्यकालीन विचारधारा से बँधा हुआ था।"[62] अंग्रेज़ी शिक्षा में यद्यपि अनेक दोष थे और वह कुछ लोगों तक ही सीमित थी। इसके बावजूद इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस शिक्षा ने नए और सक्रिय विचारों के लिए मस्तिष्क को स्वतन्त्र किया। परिणामस्वरूप 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक और धार्मिक कुप्रथाओं से भारतीयों को मुक्त करने के लिए प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने व्यापक स्तर पर समाज सुधार आन्दोलन चलाए। यह आन्दोलन हिन्दू धर्म और समाज को सुधारने के लिए चलाए गए थे, इसलिए इसे 'हिन्दू नवोत्थान' भी कहा जा सकता है।

प्रेमचन्द युग में 'आर्य समाज', जिसकी स्थापना दयानन्द सरस्वती ने 1875 में की थी, की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई थी। आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा और वैदिक संस्कृति की पुर्नस्थापना पर बल दिया। उन्होंने बाल विवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह का विरोध और विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया था। 'प्रेमचन्द आर्य समाज से प्रभावित थे'[63] और उनके सुधारवादी दृष्टिकोण से भी। 20वीं सदी के आरम्भ में आर्य समाज की विभिन्न शाखाएँ हिन्दी भाषी क्षेत्रों में खुल चुकी थीं। इसके अतिरिक्त विधवा आश्रम, शिक्षा संस्थाएँ और अनाथालय भी स्थापित हुए। प्रेमचन्द न तो रूढ़िवादी और न ही परम्पराओं का अंधानुकरण करने वाले थे बल्कि सामाजिक कुप्रथाओं, विशेषकर महिलाओं से संबन्धित कुप्रथाओं के कटु आलोचक थे। उन्होंने अपने नाटक 'संग्राम' में विधवा पुनर्विवाह के प्रश्न को उठाया और 'प्रेमा' उपन्यास में इसकी पुनरावृत्ति हुई, कुछ कहानियों तथा अन्य उपन्यासों में भी इसे महत्व दिया गया। वह विधवाओं की दयनीय स्थिति से बहुत चिन्तित थे। स्वयं एक विधवा से विवाह करके उन्होंने समाज के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया।

'सेवासदन' में उन्होंने दहेज की समस्या की विसंगतियों का वर्णन किया है। और उसका एकमात्र विकल्प वेश्यावृत्ति जैसी कुप्रथाओं के रूप में देखा जा सकता है। उन्होंने उन सभी आन्दोलनों को गम्भीरता से लिया जो गांधी, तिलक, गोखले और स्वामी विवेकानन्द ने चलाए थे। उनके लिए समाज सेवा किसी देशभक्तिपूर्ण

काम से कम नहीं थी। 'प्रेमा' में विधवा पुनर्विवाह कराकर पारम्परिक मान्यताओं को तोड़ा है, क्योंकि हिन्दू धर्मग्रन्थों और वेदों में विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध नहीं है। प्रेमचन्द युगीन समाज में सुधार आन्दोलन केवल शिक्षित व्यक्तियों तक सीमित था और कहीं-कहीं यह वर्ग भी इन सुधारों को आसानी से स्वीकार नहीं करता था। अशिक्षित व्यक्ति इन सुधारों के विरुद्ध रहे। इस प्रकार प्रेमचन्द युग में कुछ व्यक्ति ही समाज सुधार के पक्षधर थे और शेष समाज परम्परागत मान्यताओं पर कामय था अर्थात रूढ़िग्रस्त था और इन दोनों वर्गों का संघर्ष प्रेमचन्द युग में परिलक्षित होता है। प्रेमचन्द युग में 'नारी शिक्षा' का प्रचार बहुत सीमित परिवारों तक ही था। उच्च शिक्षा प्राप्त इन महिलाओं ने पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण किया और भारतीयता को त्याग दिया था। वह किसी तरह का आर्थिक, सामाजिक या पारिवारिक बन्धन स्वीकारने को तत्पर नहीं थी। समाज सुधारकों ने महिलाओं की समस्याओं की ओर ध्यान दिया था, लेकिन प्रेमचन्द युग में गांधी के प्रादुर्भाव से महिलाओं ने एक क्षेत्र में अपने कदम बढ़ाए और वह था राजनीतिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेना। इसके परिणामस्वरूप उनमें राजनीतिक चेतना और आत्मविश्वास बढ़ रहा था, जिसकी अभिव्यक्ति प्रेमचन्द की रचनाओं में मिलती है।

सामाजिक जीवन में परिवार की विशेष भूमिका होती है और तत्कालीन समाज में पूँजीवादी प्रभाव के कारण परम्परागत संयुक्त परिवार विघटित हो रहे थे और व्यक्तिवाद की भावना प्रबल हो रही थी। 'बड़े घर की बेटी' में उन्होंने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि सामाजिक व्यवस्था में संयुक्त परिवार सामाजिक और आर्थिक दोनों ही रूपों में काफी उपयोगी हैं और इसे आपसी सौहार्द से कायम रखा जा सकता है। लेकिन न केवल शहरों वरन् गाँवों में भी समान रूप से परिवार विघटित हो रहे थे और इसीलिए पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ सामने आईं। संयुक्त परिवार का विघटन कृषि के संयुक्त प्रयासों में विशेष रूप से प्रतिकूल प्रभाव डालता है जिससे खेत छोटी जोतों में परिवर्तित हो जाते हैं। प्रेमचन्द ने इन समस्याओं पर गहराई से विचार कर उन्हें अपनी रचनाओं का आधार बनाया।

इस प्रकार प्रेमचन्द युग में सामाजिक समस्याएँ इस सीमा तक उभर आई थीं कि उनका समाधान आवश्यक हो गया था। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में इन समस्याओं का समाधान देने का प्रयास किया। उस समय तक हिन्दू धर्म की रूढ़ियों का विरोध कर समाज सुधारकों ने उसे एक नया रूप देने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप अवतारवाद, मूर्तिपूजा, धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों का विरोध हो रहा था। प्रेमचन्द ने भी इनका समर्थन किया तो उन्हें 'ब्राह्मण विरोधी' कहा जाने लगा। प्रेमचन्द के लिए ब्राह्मणत्व में बहुत ऊँचे आदर्श होते हैं।

धर्म के नाम पर सर्वाधिक शोषण अछूतों का हुआ। ऊँची जाति के कुंओं से पानी न लेना, मन्दिर प्रवेश पर प्रतिबन्ध आदि ऐसी मान्यताएँ थीं जिनसे उच्च जाति के लोग अपवित्र हो जाते थे। दयानन्द सरस्वती ने अस्पृश्यता का विरोध किया जबकि गांधी के रचनात्मक कार्यों का एक विशेष मुद्दा अछूतोद्धार था। गांधी की प्रेरणा से इस दिशा में कुछ कार्य हुए। 'हरिजन सेवक संघ' द्वारा अछूतों को सामाजिक अधिकार दिलाने का प्रयत्न किया गया। प्रेमचन्द ने अपने युग की धार्मिक कट्टरता, धर्म के नाम पर पंडा-पुरोहितों की स्वार्थी प्रवृत्ति की आलोचना की। अगर हममें इतनी शक्ति होती तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू जाति को धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है, जो एक जोंक की भाँति उसका खून चूस रहा है और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है।[64] अतः प्रेमचन्द ने रूढ़ियों और परम्पराओं पर आधारित धर्म के स्थान पर धर्म के वास्तविक रूप का प्रसार किया जबकि उनके दृष्टिकोण की आलोचना भी की जा रही थी। इस प्रकार उन्होंने एक नई सामाजिक और धार्मिक अवधारणा को जन्म दिया और धार्मिक जागृति को उभारा।

प्रेमचन्द भारतीयों की मानसिक पराधीनता को घातक मानते थे जिसमें अंग्रेजी शासन की सभी अच्छी-बुरी मान्यताओं को सहर्ष स्वीकार किया गया था। भारतीयों का यह मानना था कि अंग्रेज अधिक बुद्धिमान हैं। वास्तव में उन्होंने भारतीय संस्कृति की सम्पन्नता की अवहेलना करते हुए पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण किया। प्रेमचन्द किसी भी तरह से भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता एवं सम्पन्नता और भारतीयों की बौद्धिक श्रेष्ठता को कम नहीं आँकते हैं।

साम्राज्यवादियों ने भारत में जिस आर्थिक नीति को अपनाया उसने देश की अर्थव्यवस्था का संतुलन तोड़ दिया और यह संतुलन कृषि और उद्योगों का था। साथ ही अंग्रेज़ों ने भारत को कच्चे माल के निर्यातक में परिवर्तित किया। भारत, जहाँ की नब्बे प्रतिशत आबादी कृषि पर निर्भर थी और जो खाली समय में कुटीर उद्योगों द्वारा धन अर्जित करते थे, की कृषि का वाणिज्यीकरण किया गया। और उन्हीं फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहन मिला जिनकी यूरोपीय देशों को आवश्यकता थी। अतः "भारत इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास का आधार बना जबकि स्वयं उसके उद्योग-धन्धों का पूर्णतया पतन हो गया था। इस प्रकार जो भारत खेती और उद्योग-धन्धों की मिली-जुली व्यवस्था का देश था, उसे ज़बरदस्ती ब्रिटेन के कल कारखानों वाले पूँजीवाद का खेतीहर उपनिवेश बना दिया गया।"[65]

कृषि और उद्योगों के असन्तुलन ने कृषि पर दबाव डाला। इसी समय प्रेमचन्द की रचनाएँ अपनी परिपक्वता की ओर बढ़ीं और उन्होंने किसानों की दयनीयता को अपनी आँखों से देखा था। यद्यपि 20वीं सदी के आरम्भिक पन्द्रह वर्षों तक यह दबाव हानिकारक नहीं था। "प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भारतीय कृषि और कृषक की स्थिति बहुत दयनीय थी। युद्ध के बाद इसमें आंशिक सुधार आया, लेकिन 1929 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी ने उनकी दयनीयता में अप्रत्याक्षित वृद्धि की थी।"[66] इस समय किसान लगान देने की स्थिति में नहीं थे, लेकिन सरकार की ओर से लगान में छूट नहीं दी गई और लगान न देने पर उनके अधिकार से भूमि जाती रही। इस प्रकार भारतीय कृषि के पतन का उत्तरदायित्व अंग्रेज़ों की भू-राजस्व व्यवस्था का था। "अंग्रेज़ों ने एक निश्चित भू-राजस्व व्यवस्था अपनाई, जिसमें लगान एकत्र करने का काम जमीदारों को दिया गया। यह एक ऐसा वर्ग था जिसे ब्रिटिश सरकार ने खड़ा किया था।"[67]

ज़मींदार का उत्पादन प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं था, लेकिन उत्पादन पर उसका अधिकार भू-राजस्व के रूप में था। साथ ही वह सरकार के प्रति वफादार रहते थे, क्योंकि ऐसा उनके वर्ग हित के लिए आवश्यक था। ''ज़मींदार इस नई भू-राजस्व व्यवस्था से सम्पन्न होते गए और किसान लगान चुकाने में ऋणों में दबते गए। यही ऋण महाजनों के शोषण का कारण बना। प्रेमचन्द युग में गाँव के आर्थिक जीवन में ज़मींदार से अधिक शक्ति सम्पन्न महाजन बनता जा रहा था।"[68] इन शोषणों के विरुद्ध किसानों ने स्वयं को संगठित करना शुरू किया। 1929-30 में कांग्रेस के नेतृत्व में किसानों का लगानबंदी आन्दोलन चला जो भारत में कृषक जागृति का सबसे बड़ा प्रमाण था। यह चेतना और संघर्ष व्यापक रूप से 'कर्मभूमि' में दिखाई देता है। ''देश की नब्बे प्रतिशत जनता के निकट बैठ कर प्रेमचन्द ने जो कुछ सुना और देखा उसे अपने साहित्य में वर्णित किया। हिन्दी में कबीर के बाद प्रेमचन्द का सबसे प्रखर व्यक्तित्व है, जिसने साहित्य को जनसामान्य से जोड़ा। सामन्ती ढाँचे में पिसते संघर्षरत मज़दूर किसानों की वाणी को जो स्वर प्रेमचन्द ने प्रदान किया वह अनूठा है। उनका साहित्य तत्कालीन युग का प्रतिबिम्ब है।"[69]

औद्योगिक अर्थव्यवस्था के साथ पूँजीपति और मज़दूर वर्ग का उदय हुआ और इनके आर्थिक हितों में टकराव होना स्वाभाविक था। 1918-22 तक मज़दूरी बढ़ाने के मुद्दे पर अनेक हड़तालें हुईं जो रूसी क्रान्ति और विश्व युद्ध के कारण आई वर्गीय चेतना का परिणाम था। 1928 में हड़तालों का केन्द्र बम्बई था और 1934 में देशव्यापी मज़दूरों की हड़तालें हुईं। बम्बई में कपड़ा मिल मज़दूरों की हड़ताल के समय प्रेमचन्द वहीं थे। इसीलिए 'गोदान' में, जिसकी रचना वहाँ की जा रही थी, इसका वर्णन मिलता है।

प्रेमचन्द स्वयं अपने जीवन में कभी भी आर्थिक रूप से सम्पन्न नहीं रहे, इसीलिए विभिन्न सामाजिक वर्गों, विशेषरूप से मध्य और निम्न वर्ग, की आर्थिक समस्याओं का और उनके समाधानों का वर्णन उन्होंने किया है। "स्वयं उनका व्यक्तित्व भी बहुत साधारण था। अपने आस-पास वह एक ऐसा चिह्न भी नहीं रखना चाहते थे, जिससे पता चले कि वह दूसरे साधारण जनों से अलग है। कोई तिलक त्रिपुण्ड से अपनी विशेषता की घोषणा करता, कोई रेशम के कुर्ते और उत्तरीय के बीच से झाँकने वाले अपने ऐश्वर्य से, प्रेमचन्द की सरलता सहज है।"[70]

प्रेमचन्द की रचनाओं का पुर्नमूल्यांकन करना और उसे आधुनिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में विश्लेषित करना एक चुनौतिपूर्ण काम है। उनका साहित्यिक युग 1903-1936 था और आज 21वीं सदी में उन परिस्थितियों में व्यापक परिवर्तन आ चुके हैं। इसके बावजूद वह आधुनिक भारत के आधुनिक साहित्यकार थे, जिन्होंने सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन की कुप्रथाओं का मुक्त कण्ठ से विरोध किया था। वर्तमान में यह कुप्रथाएँ अपने परिष्कृत रूप में कायम हैं, इसीलिए प्रेमचन्द की प्रासंगिकता आज भी कायम है। आज उनकी रचनाएँ उनके समकालीनों की अपेक्षा तत्कालीन परिस्थितियों को समझने के लिए अधिक उपयोगी हैं। इतिहास में उनकी उपयोगिता इसी से प्रमाणित होती कि भारतीय प्रशासनिक सेवा के इतिहास के पाठ्यक्रम में उन्हें शामिल किया गया है। उनकी रचनाओं में प्राचीन और नवीन दोनों संस्कारों का प्रभाव है। उनके सभी पात्र एक युग, एक संस्कृति की समस्त चेतनाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं।

1400 पृष्ठों का प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य खोजने वाले डॉ. गोयनका के अनुसार प्रेमचन्द की विडम्बना यह है कि उनके लमही स्थित स्मारक की देखभाल का दायित्व सरकार नहीं लेती। दिल्ली में गालिब का स्मारक अदालत के हस्तक्षेप के बाद बनाया जा रहा है। गालिब तो सरकार को वोट भी दिला सकते हैं, पर प्रेमचन्द में वोट केचिंग पावर नहीं है। आज उनके नाम पर कोई विश्वविद्यालय, कोई सरकारी संस्था, कोई संग्रहालय, कोई एकेडमी नहीं है जबकि वह टैगोर के बाद दूसरे ऐसे आधुनिक भारतीय लेखक हैं, जिनकी अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर पहचान है। राजनीति में जो स्थान गांधी का है, वहीं स्थान साहित्य में प्रेमचन्द का है। गांधी के पास एक विश्व दृष्टि थी तो प्रेमचन्द के पास भी एक जीवन दृष्टि थी। आज उनके नाम पर कोई लखटकिया पुरस्कार भी नहीं है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "यदि आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, आशा-आकांक्षा और सुख-दुख जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द

से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता, वे आपकी उँगली पकड़कर गाँव गलियारों में घूमते नज़र आएँगे।"

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष', पृ. 152-53.
2. 'प्रेमचन्द जीवन परिचय', अमृतराय, इलाहाबाद 1994, पृ. 13-14.
3. 'प्रेमचन्द और उनका युग', रामविलास शर्मा, पृ. 19.
4. 'प्रेमचन्द घर में' शिवरानी देवी, पृ. 2-3.
5. 'प्रेमचन्द जीवन परिचय', अमृतराय, पृ. 17, इसके बारे में प्रेमचन्द ने लिखा कि इस वृहद् तिलस्मी ग्रन्थ के 17 भाग उस वक्त निकल चुके थे एक-एक भाग बड़े सुपर रायल के आकार के दो-दो पृष्ठों से कम न होंगे। और इस 17 भागों के उपरान्त इसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों के पचासों भाग छप चुके थे।
6. प्रेमचन्द जीवन् परिचय, पृ. 18-19
7. 'मेरी पहली रचना', प्रेमचन्द पृ. 16, 1905 में उन्होंने ट्रेनिंग कॉलेज से पढ़ाने की सनद प्राप्त की। उनके सर्टिफिकेट पर विशेष रूप से लिख दिया गया था कि वह हिसाब पढ़ाने के अयोग्य है।
8. 'प्रेमचन्द और उसका युग', रामविलास शर्मा, पृ. 20.
9. 'प्रेमचन्द और भारतीय किसान', डॉ. रामबृक्ष, पृ. 18.
10. 'संयुक्त प्रान्त में आरम्भिक शिक्षा', 'प्रेमचन्द रचनावली', भाग-7, पृ. 85, 'ज़माना', में प्रकाशित लेख।
11. यह पाँच कहानियों का संग्रह था सोज़े वतन, शेख मखमूर, यही मेरा वतन है, शोक का पुरस्कार, सांसारिक प्रेम और देश प्रेम।
12. 'कलम का सिपाही', अमृतराय, पृ. 111.
13. 'प्रेमचन्द और उसका युग', रामविलास शर्मा पृ. 21.
14. 'कलम का सिपाही', पृ. 112.
15. उनका पहला उपन्यास 'असरारे मआबिद' इसी नाम से प्रकाशित हुआ था।
16. कमर रईस, 'प्रेमचन्द की विचार यात्रा', पृ. 6.
17. 'प्रेमचन्द रचनावली', भाग-19, पृ. 181. प्रेमचन्द और नवाबराय इन नामों को लेकर प्रेमचन्द की सुदर्शन जी से बातचीत इस तरह हुई—

   "आपने नवाबराय नाम क्यों छोड़ दिया ?"

   नवाब वह होता है जिसके पास कोई मुल्क भी हो। हमारे पास मुल्क कहाँ ?"

   बेमुल्क नवाब भी होते हैं।"

"यह कहानी का नाम हो जाए तो बुरा नहीं, मगर अपने लिए यह नाम घमण्डपूर्ण है। चार पैसे पास नहीं और नवाबराय। इस नवाबी से प्रेम भला, जिसमें ठण्डक भी है, संतोष भी है।", 'हंस', मई 1937.

18. वही, पृ. 18-19.
19. वही, 19, पृ. 46.
20. 'कर्मभूमि', पृ. 8.
21. रामविलास शर्मा, पृ. 177.
22. रचनावली भाग-8, पृ . 17.
23. रामबृक्ष, पृ. 100.
24. वही, पृ. 411.
25. अमृतराय, प्रेमचन्द-जीवन परिचय, पृ. 42.
26. वही, पृ. 404.
27. 'कलम का मज़दूर', पृ. 274. 15 जून को जैनेन्द्र को लिखे पत्र के अनुसार वह 1 जून को बम्बई पहुंचे, मक़ान लिया और दादर में होटल में खाना खाते थे। रचनावली, भाग-19, पृ.409.
28. अमृतराय 'प्रेमचन्द जीवन परिचय', पृ. 43.
29. रचनावली भाग- 19, पृ. 427-28.
30. वही, पृ. 444.
31. वही, यह पत्र जैनेन्द्र को लिखा गया था।
32. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द और उनका युग', पृ. 27.
33. रचनावली, भाग-19, पृ. 528
34. वही, पृ. 515.
35. इस सम्बन्ध में उन्होंने शिवरानी देवी से कहा था कि "हंस की जमानत करा दो चाहे मैं रहूँ या न रहूँ। हंस चलेगा। यदि मैं जिंदा रहा, तो सब प्रबन्ध कर दूँगा। यदि मैं चल दिया तो यह मेरी यादगार होगी।"
36. अमृतराय, 'प्रेमचन्द जीवन परिचय', पृ. 48.
37. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द और उसका युग', पृ. 28.
38. रामबृक्ष, पृ. 84-85.
39. 'प्रेमचन्द घर में', शिवरानी देवी, पृ. 118.
40. वही, पृ. 109.
41. वही
42. रामबृक्ष, पृ. 36.
43. जून 1905, 'ज़माना' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-7, पृ. 36-37.
44. रचनावली, भाग-7, पृ. 39-40.
45. रचनावली, भाग-7, पृ. 68-70. अगस्त 1908 'ज़माना' में प्रकाशित।

46. युद्ध समाप्ति के बाद गोरखपुर में एक विजय उत्सव मनाया गया। जिलाधीश उसमें नहीं गए। इस पर प्रधानाध्यापक बेचनलाल से जवाब माँगा गया, प्रेमचन्द ने इसका लिखित उत्तर दिया जिसे बेचनलाल ने ही अधिकारियों के पास नहीं भेजा।
47. यह सुधार अंग्रेजों की कूटनीतिज्ञता का प्रभाव था, क्योंकि इसमें उन्होंने भारतीयों को कोई अधिकार तो नहीं दिए, लेकिन भारत के विभिन्न सम्प्रदायों को पृथक निर्वाचन और संरक्षण दिया।
48. रचनावली, भाग-19, पृ. 95.
49. गांधी को सत्याग्रह का अनुभव 1917 के चम्पारन और 1918 के खेड़ा सत्याग्रह से हो चुका था।
50. शिवरानी देवी, 'प्रेमचन्द घर में', पृ. 115.
51. आर. पी. दत्त, 'आज का भारत', पृ. 348.
52. अमृतराय, 'प्रेमचन्द जीवन परिचय', पृ. 25-26.
53. शिवरानी देवी, पृ. 41-45
54. रचनावली, भाग-19, पृ. 123, उन्होंने अपने एक प्रशंसक को लिखा सरकारी नौकरी वह परिस्थितियों के कारण कर रहे थे, असहयोग की हवा के साथ उनकी घुटन भभक उठी और उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया और असहयोग के सैनिक बने। 'कलम का मज़दूर' प्रेमचन्द, पृ. 129.
55. अमृतराय, प्रेमचन्द जीवन परिचय, पृ. 35.
56. रचनावली, भाग- 19, पृ. 142.
57. पट्टाभिसीतारमैया, 'कांग्रेस का इतिहास', भाग-1, पृ. 288.
58. प्रेमचन्द, 'कलम का सिपाही', अमृतराय, पृ. 46.
59. रचनावली, भाग-7, पृ. 336.
60. 'कलम का सिपाही', पृ. 463.
61. रचनावली, भाग-19, पृ. 343.
62. जवाहर लाल नेहरू, 'हिन्दुस्तान की कहानी' पृ. 357-386.
63. 'कलम का सिपाही', पृ. 95, ''वह आर्य समाज के जलसों में जाते थे, हमीरपुर में रहते हुए, आर्य समाज के बाकायदा मेम्बर हो गए।" वही, पृ. 48.
64. 'विविध प्रसंग', भाग-2, पृ. 471, संकलनकर्ता अमृतराय.
65. आर. पी. दत्त, 'भारत वर्तमान और भावी', 1956, पृ. 54.
66. डी. आर. गाडगिल, 'द इंडस्ट्रियल इवोल्यूशन ऑफ इंडिया', पृ. 61.
67. आर. पी. दत्त, पृ. 99.
68. वही, पृ. 96.
69. 'बादाम सिंह रावत, 'प्रेमचन्द का कथा संसार', पृ. 220.
70. अमृतराय, 'प्रेमचन्द जीवन परिचय', पृ. 8.

औपनिवेशिक भारतः भारतीय किसान

प्रेमचन्द ने उस कृषक वर्ग को अपने साहित्य में सर्वाधिक महत्व दिया है जिसकी उपेक्षा करके भारतीय समाज और राष्ट्र की उन्नति नहीं हो सकती। उनकी रचनाएँ किसानों के वास्तविक और यथार्थमय जीवन की सच्ची तस्वीरें हैं। वास्तव में प्रेमचन्द किसानों को समाज का आधारभूत और उत्पादक वर्ग मानते हैं। उनके लिए किसान की उन्नति ही देश की उन्नति है और उसकी बदहाली ही देश की बदहाली है। उनका जीवन समाज के अन्य वर्गों के जीवन को निर्धारित करता है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में उस कृषक वर्ग को केन्द्रीय स्थिति प्रदान की जो स्वयं समाज का केन्द्र था। भारत एक कृषि प्रधान देश है, इसलिए यहाँ किसानों का महत्व भी कहीं ज्यादा है। लेकिन इनका महत्व इसलिए नहीं है कि वह देश की अर्थव्यवस्था का आधार है बल्कि इसलिए है, क्योंकि उन्हें आसानी से लूटा जा सकता है। विशेषकर औपनिवेशिक भारत में जहाँ औपनिवेशिक सरकार की नीतियाँ उनके अपने देश के हितों को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाती थीं न कि शासित देश के पक्ष में। "जमींदार इनका ध्यान रखते हैं, क्योंकि यह उनके ज़मींदाररूपी महल की नींव है। हमारी सरकार इनका ध्यान रखती है कि इनके हृदय में विरोध की भावनाएँ न आने तक ही उनका राज्य कायम रह सकता है। आर्थिक समस्या से प्रधानतः सम्बन्धित होने के कारण किसानों की समस्या आज भी एक राजनीतिक समस्या बन गई है। प्रेमचन्द ने अपने विभिन्न उपन्यासों और कहानियों में इस समस्या के प्रत्येक पहलू का विवेचनात्मक वर्णन किया है।"[1]

प्रेमचन्द के पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण का प्रत्यक्ष प्रभाव उनकी किसानों से संबंधित रचनाओं में देखा जा सकता है, जहाँ एक ओर उन्होंने खेतों की हरियाली को देखा वहीं दूसरी ओर गाँव के किसानों की गरीबी, शोषण आदि के दृश्य खुली आँखों से देखे। अपने लेखों, उपन्यासों और कहानियों में उन्होंने किसानों के जीवन के प्रत्येक पहलू का विस्तृत और व्यावहारिक वर्णन किया है। जैसे 'गोदान' में किसान की गाय खरीदने की महत्वाकांक्षा, 'रंगभूमि' में सूरदास द्वारा अपनी भूमि को पूँजीपतियों और उद्योगपतियों से बचाने का असफल प्रयास करना, 'कर्मभूमि' में किसानों का शोषण के विरुद्ध संगठित होना, 'प्रेमाश्रम' में इज़ाफा लगान और उसे वसूलने के समय किए गए अत्याचारों का वर्णन हुआ है। वहीं 'पूस की रात' में किसानों के खेत मजदूर में परिवर्तित होने का दर्द, 'ज्योति', 'नेउर', 'दूध का दाम' में किसानों की सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का, 'दो बैलों की कथा' में

किसानों के बैलों के प्रति लगाव, 'अंधेर' में किसानों का शोषण करने वाले दारोगा और मुखिया का वर्णन है, 'सवा सेर गेहूँ', में सूद की समस्या को उठाया गया है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने किसानों के सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक जीवन और शोषण का वर्णन किया है और जहाँ तक संभव हुआ इन समस्याओं का समाधान भी बताने का प्रयास किया है।

वह अपनी युग परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना न रह सके। "समाज के शोषित वर्ग के प्रति उनके हृदय में अपार सहानुभूति थी। उनके दुःख दैन्य से उनकी आत्मा व्यथित हो उठी थी। उनकी संवेदना और सहानुभूति ही उनके साहित्य में मूर्तिमान होकर आई है। वे स्वयं देहातों में रह चुके थे, इस कारण ग्राम्य जीवन के सम्बन्ध में उनकी कल्पना नहीं, स्वानुभूतियाँ ही थीं जो उन्हें भारत के गाँवों में बसने वाली अस्सी प्रतिशत जनता का इतना बड़ा 'हिमायती' सिद्ध कर सकीं।"[2] प्रेमचन्द का किसानों से बहुत गहरा संबंध था। 1924 के बाद प्रेमचन्द ने तीन वर्षों तक किसानों पर एक भी उपन्यास या कहानी नहीं लिखी, 1927 में 'सुजान भगत' की रचना की, परिणामस्वरूप "किसानों के न आने से उनके लेखन में आन्तरिक कमजोरी आई — अतः 'रंगभूमि' के बाद प्रेमचन्द की लेखन कला का ह्रास हुआ।"[3] स्पष्ट है कि प्रेमचन्द और किसान में एक अटूट संबंध था। सम्भवतः इसीलिए प्रेमचन्द को 'किसानों' का साहित्यकार कहते हैं।

किसानों की ओर प्रेमचन्द का झुकाव

प्रेमचन्द ने कृषक समाज को बहुत करीब से देखा था और स्वयं भी काफी हद तक उन समस्याओं जैसे कर्ज़, निर्धनता आदि का स्वयं सामना किया था। उनके पूर्वजों के पास लगभग साठ-पैंसठ बीघा जमीन थी, जो धीरे-धीरे समाप्त हो गई थी। अपनी निर्धनता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है "पाँव में जूते न थे। देह पर कपड़े न थे। महँगी अलग। दस सेर का जौ था। कर्ज़ को समस्या को भी उन्होंने बहुत करीब से देखा था। स्वयं प्रेमचन्द ने शहर के एक बेलदार, जो उनसे हिन्दी सीखता था, आठ आने उधार लिए थे। ये पैसे उसने पाँच साल बाद उनके घर जाकर वसूल किए। यही वह ज़माना था जब उन्होंने बहुत से दिन भुने हुए चने खाकर काटे और कभी-कभी फाके करने पड़े।"[4] यही कारण था कि किसानों की निर्धनता का उन्होंने विशद वर्णन किया।

प्रेमचन्द द्वारा अपनी रचनाओं में कृषक समाज को अत्यधिक महत्व दिए जाने के पीछे इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति थी। औद्योगिक क्रान्ति के समय से पचास-साठ वर्ष तक जैसा संघर्षपूर्ण जीवन वहाँ के कृषक का रहा, लगभग वैसा ही संघर्षपूर्ण जीवन भारत के किसान व्यतीत कर रहे थे। फ्रांस की क्रान्ति के समय जो शोषण

पूँजीपति वर्ग द्वारा हो रहा था, लगभग वैसा ही अत्याचार हमारे किसानों पर भी होने लगा था। उपरोक्त परिस्थितियों में भारतीय बुद्धिजीवियों के समक्ष दो विषय विशेष महत्व के थे — पूँजीपति वर्ग की भरपूर प्रशंसा की जाए या भारतीय कृषक वर्ग और मज़दूरों की वास्तविक स्थिति-पूँजीपतियों के अत्याचार का यथार्थ चित्रण कर सरकार और सामान्य जनता का ध्यान आकर्षित किया जाए। निःसन्देह दूसरे विकल्प को प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं के लिए चुना और अपने इस प्रयास में उन्हें सफलता भी मिली।"[5]

किसानों की ओर प्रेमचन्द के झुकाव का एक राजनीतिक कारण भी था। कांग्रेस, जो शिक्षित उच्च्य मध्य वर्ग की संस्था थी, के प्रभाव में कमी आई। परिणामस्वरूप कांग्रेस ने अपना सामाजिक आधार बढ़ाने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों विशेषकर किसानों की समस्याओं की ओर ध्यान दिया। शिवरानी देवी के अनुसार, "प्रेमचन्द कांग्रेस के समर्थक थे।" उनके बस्ती प्रवास की एक घटना का वर्णन करते हुए वह लिखती हैं, "वहाँ पर वोटिंग का प्रश्न था। वह चाहते थे कि कांग्रेस वोट पाए। उन लोगों ने कहा कि हमें एक कुएँ की जरूरत है, वह बोले मैं तुम्हारे लिए कुआँ बनवा दूँगा। वोट उन्हीं को देना। उनके हाथ तुम्हारा भला होगा।"[6] साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा कृषि का वाणिज्यीकरण करने, भूमि के क्रय-विक्रय की सुविधा देने और भूमि पर मालिकाना अधिकार देने के परिणामस्वरूप भूमि का जो विभाजन हुआ उसे उन्होंने स्वयं देखा था। ऐसे शोषण से उन्होंने यह अनुभव किया कि "अंग्रेज़ी राज्य में गरीबों, मज़दूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है और होती जाती है, उतनी समाज के किसी और अंग की नहीं। सरकार के हाथों किसी सम्प्रदाय की इतनी बर्बादी नहीं हुई थी, जितनी किसानों और मजदूरों की खासकर किसानों की।"[7] अर्थात औपनिवेशिक भारत में किसान की हालत सबसे दयनीय थी। सभी उसके शत्रु थे, उसका कोई मित्र नहीं।

प्रेमचन्द के चिन्तन के मूल में किसान की हित कामना है। अतः वे जिस किसी भी समस्या पर विचार करते हैं, उसकी पृष्ठभूमि में कहीं-न-कहीं किसान होता है। "बिना किसान के उनका काम नहीं चलता। 'किसानों की कर्ज़' की समस्या हो, या महाजनों की समस्या हो, आकाल, महामारी, लगान वृद्धि आदि सभी समस्याओं पर उन्होंने सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है"[8] उनके "साहित्य के केन्द्र में तत्कालीन भारतीय किसान हैं। उनकी सम्पूर्ण कला चेतना भारतीय किसान की जीवन पद्धति से प्रभावित और निर्धारित हुई थी। उनके साहित्य के एक बड़े हिस्से का विषय क्षेत्र किसान जीवन से लिया गया है। उनकी सर्वोत्तम रचनाएँ वे ही मानी गई हैं, जिनमें भारतीय किसान का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है।"[9] इन्द्र नाथ मदन के अनुसार, "प्रेमचन्द एक महानतम भारतीय लेखक हैं, जिन्होंने किसानों के जीवन का गहन अध्ययन किया हैं।"[10]

किसानों की स्थिति

भारत की अस्सी फीसदी जनसंख्या खेती करती हैं। कई फीसदी वह हैं जो अपनी जीविका के लिए किसानों के मोहताज हैं, जैसे गाँव के बढ़ई, लुहार आदि। "राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ, सब उन्हीं की कमाई के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता हैं, भरपेट अन्न को तरसते हैं, जाड़े-पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं। जब वह भूखा मर रहा है तो वह दुर्बल और रुग्ण होगा, खेती में ज्यादा मेहनत न कर सकेगा और इसलिए उसकी पैदावार भी अच्छी न होगी। जमींदार, महाजन और सरकार सबकी आर्थिक समृद्धि किसान की आर्थिक दशा के अधीन है।"[11] "प्रेमचन्द का साहित्य शिक्षित जनता के लिए किसानों के बारे में लिखा गया साहित्य है।"[12] कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय है। अतः यह आवश्यक है कि कृषि के साथ-साथ भूमि के विभाजन, उसकी उत्पादन शक्ति और किसानों की स्थिति में आवश्यक सुधार किए जाएँ। लेकिन यह भारतीय किसानों की विशिष्टता है कि वह अपनी ज़मीनों से आर्थिक लाभों के लिए ही नहीं बल्कि उससे भावनात्मक रूप से भी जुड़े रहते हैं। उनकी भूमि उनकी मर्यादा और सामन्ती का प्रतीक होती है। अतः इसके खोने से उसे अपनी मर्यादा खोने का भय रहता है। 'रंगभूमि' के सूरदास के पास करीब दस बीघा जमीन थी, जिस पर मुहल्ले की गाय-भैंसे चरती थीं। इस ज़मीन से उसे कोई आमदनी नहीं होती थी। फिर भी वह मात्र इसलिए उसे बचाए रखना चाहता है, क्योंकि वह उसके बाप-दादों की निशानी है। इसे बचाने का वह केवल प्रयास ही नहीं करता, बल्कि मर मिटता है। वास्तव में सूरदास का यह संघर्ष व्यक्तिगत नहीं है, क्योंकि यह "सामन्तवाद का पूँजीवाद से संघर्ष है, अर्थात् दो परम्पराओं का संघर्ष है।"[13]

भारतीय किसानों का जीवन संघर्ष में आरम्भ होता है और संघर्ष में ही उसका अन्त हो जाता है। सम्भवतः निर्धन और दलित किसानों के संघर्षमय जीवन से, उनके प्रति सरकार, जमींदार वर्ग और उनके करिंदों तथा गाँव के मुखियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों से देश की जनता का परिचय कराने के लिए ही प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', और 'गोदान' जैसे उपन्यासों की रचना की। "इन्हीं किसानों द्वारा उत्पादित अनाज संसार के विभिन्न देशों में निर्यात किया जाता था, लेकिन वह स्वयं के उपयोग के लिए अनाज जुटा नहीं पाते।"[14] यद्यपि 19वीं शताब्दी के पहले किसानों की अपने उपयोग के लिए उपयुक्त अनाज मिल जाता था और भूमि की उत्पादकता भी कम नहीं थी। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द लिखते हैं कि "बलराज की उमर में तो हम लोग खेत के डाँड पर ही न जाते थे। न जाने क्या हुआ कि जमींन

की बरक्कत ही उठ गई। ज़मीन वहीं है, लेकिन जहाँ बीघा पीछे बीस-बीस मन होते थे वहाँ अब चार-पाँच मन से आगे नहीं जाता।"[15] संभवतः ऐसा इसीलिए है कि "भारतीय किसान पूर्णतया मानसून पर निर्भर रहता है यदि समय पर वर्षा न हुई तो सूखे का सामना करना पड़ता था। इस स्थिति में न तो ज़मींदार और न ही प्रशासन की ओर से कोई व्यवस्था की जाती थी और न ही भू-राजस्व में कमी की जाती थी। "सावन का महीना आ गया था और बगुले उठ रहे थे। कुओं का पानी भी सूख गया था और ऊख ताप से जली जाती थी। नदी से थोड़ा-थोड़ा पानी मिलता था, मगर इसके पीछे आए दिन लाठियाँ चलती थीं। यहाँ तक कि नदी ने भी जवाब दे दिया।"[16] इन परिस्थितियों में भी सरकार अपना पूरा लगान वसूलने पर आमादा रहती थी। जो किसान "भूखों मरते हैं, चीथड़े पहनकर और पुआल में सोकर दिन काटते हैं, उनसे एक पैसा भी दबाकर लेना अन्याय है। जब हम और तुम दो-चार घंटे आराम से रहना चाहते है, जायदादें बनाना चाहते हैं, तो क्या यह अन्याय नहीं है कि जो लोग स्त्री-बच्चों समेत अठारह घंटे रोज काम करें, वह रोटी-कपड़े को तरसें? बेचारे गरीब हैं, बेज़बान हैं, अपने को संगठित नहीं कर सकते, इसलिए सभी छोटे-बड़े उन पर रोब जमाते हैं।"[17] 'गोदान' का होरी भी यह मानता है कि "गाँव में तो सब धौंस जमाते हैं।"[18]

"भारतीय किसानों की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं थी कि मानसून न आने की स्थिति में वह लगान से बेबाक हो सके। भूमिकर के अतिरिक्त किसान को किरोसिन तेल और नमक जैसी बुनियादी आवश्यकता की वस्तुओं के लिए भी कर देना होता था।"[19] "किसानों की स्थिति विशेष रूप से अवध प्रान्त में बहुत दयनीय थी। यहाँ बड़े ताल्लुकदार है जो बड़ी मात्रा में निर्धन किसानों से नज़राना वसूलते, जिन्हें भूमि पर मालिकाना अधिकार नहीं था और जब चाहते उन्हें बेदखल कर देते।"[20] "रियासतों में किसानों की स्थिति और भी अधिक दयनीय है, जहाँ उन्हें दोहरे शोषण का सामना करना पड़ता ह — एक तो अंग्रेजों को और दूसरा राजा और जमींदार का। 'रंगभूमि' में राजा महेन्द्र सिंह जो शिव के परम भक्त हैं, लेकिन अंग्रेज़ रेजीडेन्ट से जितना डरते हैं उतना शिवजी से भी नहीं।"[21] किसानों की स्थिति यह है कि उन्हें सभी वर्ग के लोग अपना सेवक मानते हैं। 'कायाकल्प' में जगदीशपुर का राज्य जब ठाकुर विशालसिंह को मिलता है तो उनके राजतिलक का उत्सव मनाया जाता हैं, जिसमें करीब पाँच लाख रुपये खर्च किए गए और यह पाँच लाख कहीं और से नहीं किसानों से ही वसूले गए। भोजन दिए बिना उनसे बेगार काम करवाया और ऐसा न करने पर संघर्ष हुआ, जिसमें अंग्रेज़ों ने करीब 100-125 लोगों

को मार दिया।[22] 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में इस बेगार के अतिरिक्त जमींदार जटाशंकर की पहली पुण्यतिथि के अवसर पर किसानों को घी लाने का आदेश दिया गया।

1924 में प्रेमचन्द ने किसान जीवन पर तीन महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखीं — 'मुक्तिमार्ग' (अप्रैल 1924), 'मुक्तिधन' (मई 1929), और 'सवा सेर गेहूँ' (नवम्बर 1924)। इससे पहले लिखी गई कहानियों और उपन्यासों की तुलना में इन कहानियों में न तो शिक्षित जनता को कोई उपदेश दिया गया है और न ही किसानों की दयनीय स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया गया है। 'मुक्तिमार्ग' में प्रेमचन्द ने किसानों के वास्तविक जीवन को चित्रित करते हुए उनके पारस्परिक व्यावहारिक संबंधों का वर्णन किया है, जिसका केन्द्र झींगुर किसान और बुद्धू गडरिए की मित्रता और मतभेद हैं। 'मुक्तिधन' और 'सवा सेर गेहूँ' में प्रेमचन्द की किसानों के प्रति नैतिक चिंता दृष्टिगोचर होती है कि केसे उन्हें बचाया जाए। "दोनों ही कहानियों के अन्त में मज़बूर होकर किसान मज़दूरी करने लगते हैं। 'सवा सेर गेहूँ' में इसका कारण बताया गया है — महाजन को, जो धर्म की आड़ में शोषण करता है। 'मुक्तिधन' में प्रेमचन्द आदर्शवादी हो गए है। पर 'सवा सेर गेहूँ' का कर्ज़ लेकर आजन्म गुलामी लिखाने वाले शंकर की कहानी एकदम यथार्थवादी है।"[23]

'कर्मभूमि' में किसानों की स्थिति का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, "बेचारे एक तो गरीब, ऋण के बोझ से दबे हुए, दूसरे मूर्ख न कायदा जाने न कानून, महन्तजी जितना चाहे इज़ाफा करें, जब चाहें बेदखल करें, किसी में बोलने का साहस न था। अकसर खेतों का लगान इतना बढ़ गया था कि सारी उपज लगान के बराबर भी न पहुँचती थी। किन्तु लोग भाग्य को रोकर, भूखे-नंगे रहकर, कुत्तों की मौत मरकर खेत जोतते जाते थे। कृषि प्रधान देश में खेती केवल जीविका का साधन नहीं है, सम्मान की वस्तु भी है। उसका बाल-बाल भी कर्ज़ से बँधा हो, लेकिन द्वार पर दो-चार बैल बाँधकर वह अपने को धन्य समझता है। उसे साल में 360 दिन आधे पेट खाकर रहना पडे, पुआल में घुसकर रातें काटनी पड़ें, बेबसी से जीना और बेबसी से मरना पड़े, कोई चिन्ता नहीं।"[24] इस प्रकार एक छोटे किसान के लिए खेती करना लाभदायक नहीं था, फिर भी वह अपनी मर्यादा और अपने पूर्वजों की भूमि की रक्षा के लिए स्वयं को उससे जोड़े रखने का भरसक प्रयत्न करेगा। जब वह स्वयं को ऐसा करने में असहाय महसूस करेगा तो मजबूर होकर वह मज़दूरी करने लगेगा। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने कलकत्ता और रंगून में मज़दूरों की बढ़ती हुई माँगों को पूरा करने वाले किसानों का वर्णन किया है।[25] इन परिस्थितियों में एक ओर कृषि उत्पादन में कमी आई, दूसरी ओर किसानों की क्षमता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और भूमि उनके

हाथ से निकल कर भू-स्वामियों, साहूकारों और महाजनों के हाथ में जाने लगी। प्रेमचन्द ने अपने सभी किसानों की इस स्थिति का वर्णन किया, जहाँ भूमि गैर-काश्तकारों के हाथ में जा रही थी और किसान मजदूरी करने को बाध्य हो रहे थे।

"किसान और जमींदारों के बीच जितने अन्य भू-स्वामी थे, उनकी एक लम्बी श्रृंखला का जन्म हुआ, जिसमें खेती करने वाला किसान निम्नतम कड़ी था। उसे गैर-काश्तकार, जमींदारों, काश्तकारों, उप-काश्तकारों का सारा बोझ बर्दाश्त करना पड़ता था।"[26] 'प्रेमाश्रम' में जमींदार और हाकिम किसानों को आतंकित करने के लिए उन पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। डिप्टी का दौरा हुआ तो चपरासी एक किसान के पेड़ की लकड़ियाँ उठा ले जाते हैं। वह ठण्ड में दिन केसे काटेगा इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। बकरीद मनाने के लिए कादिर मियाँ ने जो बकरा पाला था, वह हाकिमों के पेट में पहुँच जाता है। प्रेमचन्द इस बात का संकेत करते हैं कि "सभी किसान औपनिवेशिक भारत में इस जुल्म के शिकार हैं। पंसारी की दुकान से भात लूटा जाता, उसकी कमी वह किसानों से अधिक सूद लेकर पूरी करता है।"[27]

पूँजीवादी व्यवस्था ने भी किसानों को प्रभावित किया है जिसके परिणामस्वरूप किसानों की मनोवृत्ति में परिवर्तन आए। 'सुजान भगत'[28] में प्रेमचन्द नए और पुराने किसानों की मनोवृत्ति का वर्णन करते हुए बताते हैं कि नया ज़माना स्वार्थ का ज़माना है, नए लोग स्वार्थी हैं। पुराने लोग और ज़माना परमार्थी है। इस कहानी में सुजान, जो पुरानी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, एक सहृदय और धार्मिक किसान है। निःसन्देह प्रेमचन्द की पूरी सहानुभूति इस पुराने किसान से है, जो उत्पादन अच्छा होने पर धार्मिक कार्य करता है जबकि उसका बेटा जो स्वार्थी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है, गृह स्वामी बन जाता है। इसी प्रकार 'गोदान' में गोबर भी थोड़े पैसे हाथ में आने पर ऊँची ब्याज दर पर ऋण देकर महाजनी करना शुरू कर देता है।[29] वहीं होरी (गोदान) के माध्यम से प्रेमचन्द ने एक परम्परागत किसान का उसके सुख-दुःख के साथ वर्णन किया है। गाँव और कुनबे के बाहर उसकी नज़र नहीं गई। अपनी खेती और परिवार की देखभाल ने उसे काफी स्वार्थी बना दिया। यह सोचकर वह खुश होता है कि दूसरों की बेदखली और कुड़की होती है, लेकिन मालिकों की खुशामद करने की वजह से वह बचा रहा है। उसमें वे तमाम अन्धविश्वास पाए जाते हैं, जो अपने पुरखों से उसे विरासत के तौर पर मिले हैं। वह सिद्धान्तों में विश्वास तो करता है, लेकिन मौका मिलने पर समझौता करने को भी बुरा नहीं समझता।[30] उसका मानना है कि "जब दूसरों के पाँव तले अपनी गरदन दबी हुई है तब उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"[31]

किसानों की स्थिति उस समय सबसे अधिक दयनीय होती है। जब उत्पादन न होने पर लगान वृद्धि का दावा किया जाता है। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर लखनपुर के किसानों पर तब लगान वृद्धि का दावा करता है जब गाँव में प्लेग फैला रहता है और किसान बढ़ा हुआ लगान अदा करने की स्थिति में नहीं हैं। डपटसिंह का एक बेटा प्लेग से मर जाता है और दूसरा मृत्यु की कगार पर है। वह गौस खाँ, जो इज़ाफा लगान वसूलने आता है, से उसी बेटे को लगान के रूप में ले जाने को कहता है और स्वयं काश्तकारी छोड़ने का एलान करता है।" इज़ाफा लगान का भुगतान करने के लिए अकसर किसानों को ऋण लेना पड़ता है, जिसका भुगतान वह और उसकी अगली पीढ़ी साल दर साल करती रहती थी। काफी बुरी हालत में कभी-कभी लगान स्थगित या माफ कर दिया जाता था। इससे किसानों की दुरावस्था कुछ कम होती थी, समाप्त नहीं।"[32]

वास्तव में 'गोदान' के पहले प्रेमचन्द ने जो उपन्यास लिखे उनमें उन्होंने किसानों को हमेशा प्रकृति की प्रचण्डता और अत्याचारी व्यक्तियों के विरुद्ध एक संघर्षरत वर्ग के रूप में वर्णित किया। वह दमनात्मक शासन-तन्त्र, लालची भू-स्वामियों, निर्दयी पूँजीपतियों और पाखण्डी पुरोहितों के दमन के प्रत्यक्ष गवाह थे। "इन सभी वर्गों की सम्मिलित यातनाएँ उसे जीवन से मृत्यु की ओर ले जाती हैं। अपनी सम्पन्नता के समस्त स्वरूपों के साथ 'गोदान' भारतीय किसान के जीवन की कहानी है। जिसका वर्तमान भुखमरी, बीमारी, उपेक्षा, विपत्तियों और मृत्यु का सामना कर रहा है, तो उसका भविष्य वर्तमान की अपेक्षा और अधिक अंधकारमय और भयावह है। किसानों का जन्म और मृत्यु संघर्ष में होता है। भारतीय किसान का जन्म और मृत्यु महत्वपूर्ण नहीं है, लेकिन संघर्ष उसके जीवन में दीर्घकाल तक अस्पष्ट रूप से दिखाई देता है।"[33] यही तत्कालीन किसानों की स्थिति थी। प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में किसानों की जिस दयनीय स्थिति का वर्णन किया है उसे 'गोदान' में और भी स्पष्ट करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि "यदि अब भी हम किसानों की दशा सुधारने का प्रयत्न नहीं करेंगे तो अत्याचार की लू के थपेड़े सहते-सहते किसी भी दिन, किसी भी समय इनके प्राण निकल जाएँगे तथा इसका उत्तर हमें देना होगा।"[34]

किसानों की निर्धनता-ऋणग्रस्तता और प्रेमचन्द

औपनिवेशिक भारत में ऋण भारतीय किसान के जीवन में महाजनी सभ्यता का वह भूत है जो किसान के गले को दबोचता है, लेकिन उसे मरने नहीं देता। 'पूस की रात' का 'हलकू' अपनी पत्नी से कहता है — "सहना आया है, लाओ जो रुपये हैं दे दूँ। किसी तरह गला तो छूटे।" अपनी बेटी के विरोध के बावजूद वह रुपये दे देता है।

केवल तीन रुपये देकर ऋण से मुक्त होने की इच्छा रखने वाला हलकू अपनी खेती को अपनी आँखों के सामने नष्ट होता हुआ देखता है।"[35] खलिहान का सब कुछ देकर भी कर्ज़ से मुक्त नहीं होता। इसी प्रकार 'सवा सेर गेहूँ'[36] बढ़ता हुआ साढ़े पाँच मन हो जाता है। शंकर के सामने समस्या आती है "कहाँ से लाऊँ इतना अनाज।" साढ़े पाँच मन गेहूँ के लिए साठ रुपये का दस्तावेज लिखवाया जाता है। सूद दर सूद साठ रुपये से एक सौ बीस रुपये हो गए। विप्र जी ने उसे खेत के काम के लिए मजदूर बना लिया। बीस वर्ष की गुलामी के बाद वह कर्ज़ में ही प्रस्थान कर गया और उसके बाद उसका बेटा कर्ज़ में नौकर रखा गया। इस प्रकार खेतिहर किसान खेतिहर मज़दूर वर्ग में तब्दील हो रहे थे, क्योंकि महाजनों द्वारा दिए जाने वाले ऋणों पर सूद की दर निश्चित नहीं थी। 'गोदान' में परिस्थितियों के दबाव के परिणामस्वरूप होरी ने लगभग सभी महाजनों और साहूकारों से ऋण लिया है। दुलारी से उसने 30 रूपए उधार लिए जो तीन वर्षों में बढ़कर सौ रुपये हो गए, अगले दो वर्षों बाद उसने 150 रुपयों की माँग की। बैलों का जोड़ा खरीदने के लिए मंगरूसाह से 60 रुपये लिए, जिसका कई गुना वह अदा कर चुका था। लेकिन मूल रकम अदा करना बाकी था।[37] "सूद की दर हर प्रान्त में एक जैसी नहीं थी, लेकिन हाँ, सब जगह काफी ऊँची थी, बारह से लेकर कुछ इलाकों में दो सौ तीन सौ तक।"[38] और इन ऋणों के भुगतान न होने पर किसानों की जमीन महाजनों-जमींदारों के हाथों में हस्तान्तरित हो रही थी।

महाजन किसानों से सूद के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी धन वसूलते थे। जैसे मूल से अधिक का शर्तनामा लिखवाना, रसीद न देना, गलत हिसाब लिखना आदि। 'गोदान' में नोखेराम इस तथ्य को स्वीकारते हुए कहता है, "लगान तो उसने चुका दिया, लेकिन मैंने रसीद तो नहीं दी। सबूत क्या है कि लगान चुका दिया। जबकि होरी का कहना है "मैं क्या जानता था कि वह बेईमानी करेंगे।"[39] इस प्रकार महाजन किसानों की गरीबी और उनके अज्ञान का भी फायदा उठाते थे। "अपनी अनभिज्ञता के कारण किसान को जालसाज़ी का पता नहीं लग पाता था और इस तरह वह कानूनी कार्यवाही भी नहीं कर पाता था।"[40] ज़मींदारों और महाजनों के शोषण का कारण किसानों की अज्ञानता और अशिक्षा बताया जाता है। 'जिनके लिए तुम स्वराज प्राप्ति चाहते हो उन्हें स्वराज का अर्थ समझने योग्य कर दो। किसानों में ज्ञान-पिपासा के उद्भूत होने पर स्वराज प्राप्ति का प्रश्न सहज ही हल हो जाएगा।' लेकिन प्रेमचन्द अपने किसानों को निरक्षर नहीं मानते हैं। इसीलिए यह समझना कि किसान निरा मूर्ख है, उसके साथ अन्याय करना है। वह परोपकारी है, त्यागी है, परिश्रमी है, क़िफ़ायती है, दूरदर्शी है, हिम्मत का पूरा है, नीयत का साफ है, दिल का दयालु है। कितने साक्षर हैं जिनमें ये गुण पाए जाते हैं?[41]

'गोदान' प्रेमचन्द की अन्तिम पूर्ण कृति है जिसमें होरी को भारतीय किसानों के प्रतिनिधि के रूप में वर्णित किया गया है और वह भारतीय किसानों की ऋणग्रस्तता को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। सम्भवतः इसका रचनाकाल (1936) प्रेमचन्द के जीवन का एक महत्वपूर्ण काल था जब वह स्वयं ऋणग्रस्त थे। परिणामस्वरूप यही अनुभूतियाँ उनकी तत्कालीन रचनाओं में मिलती हैं। तत्कालीन परिस्थितियों में "ऐसा एक आदमी भी नहीं था जिसकी रोनी सूरत न हो। मानो उनके प्राणों की जगह वेदना बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही थी। चलते फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे इसीलिए कि पिसना और घुटना उनकी तकदीर में लिखा था। जेठ के दिन हैं। अभी खलिहानों में अनाज मौजूद है मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं। बहुत कुछ तो खलिहानों में ही तुलकर महाजनों और कारिन्दों को भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है वह भी दूसरों का है।"[42] साइमन कमीशन की एक रिपोर्ट के अनुसार बहुसंख्यक किसान भूस्वामियों से लिए गए ऋणों द्वारा जीवन व्यतीत कर रहे थे।"[43] किसानों की यह ऋणग्रस्तता निरन्तर भयानक रूप ग्रहण कर रही थी और सरकार का औपनिवेशिक स्वरूप इसमें सुधार करने की अपेक्षा उनकी ऋणग्रस्तता बढ़ाने में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहायक ही रही है।

पंडित नेहरू ने अपनी आत्मकथा में कृषक ऋणग्रस्तता के संबंध में लिखा था "मैंने उनके दुख की सैकड़ों कहानियाँ सुनी" कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है जिसके तले वे कुचले जा रहे है कैसे चारों तरफ जमींदार के एजेन्ट साहूकारों और पुलिस के गिद्धों से घिरे रहते हैं। किस तरह की कड़ी धूप में अशक्त हो काम करते हैं और अन्त में यह देखते हैं कि उनकी सारी पैदावार उनकी नहीं है, दूसरे ही उठा ले जाते हैं। यों ज़मीन उपजाऊ थी मगर उस पर लगान का बोझ बहुत भारी था। ज़मींदारों ने कानून को ताक में रखकर भारी-भरकम नजराना वगैरह बढ़ा दिया था। बेचारे किसान कोई चारा न देख, रुपया उधार लाते और नजर-नजराना वगैरह देते और फिर जब कर्ज़ और लगान न दे पाते, तो बेदखल कर दिए जाते।"[44] पं. नेहरू के ये अनुभव ही प्रेमचन्द की रचनाओं के वर्ण्य विषय हैं। 'गोदान' में गोबर द्वारा होली के अवसर पर जो प्रवचन खेला गया वह इसी नज़र-नज़राने से पीढ़ित किसानों का वर्णन करता है। उसमें ठाकुर ने दस रुपये का दस्तावेज़ लिखाकर किसान को पाँच रुपये दिए। शेष नज़राने, तहरीर, दस्तूरी और ब्याज में काट लिए। इसके बाद जो पाँच रुपये शेष हैं उन्हें भी ठाकुर को देते हुए वह कहता है कि "एक रुपया छोटी ठकुराइन का नज़राना है, एक रुपया बड़ी ठकुराइन का, एक रूपया छोटी ठकुराइन के पान के लिए, एक बड़ी ठकुराइन के पान खाने को। बाकी बचा एक वह आपके क्रिया-करम के लिए।"[45] यहाँ पर प्रेमचन्द अपने किसानों को भविष्य का ऋण देकर उऋण करना चाहते थे।

20वीं सदी के आरम्भ में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार किसानों से लगान के साथ-साथ नज़र-नज़राने आदि के रूप में उनकी आय का 52.5 प्रतिशत वसूल किया जाता था और उसके पास उपज का मात्र 47.5 प्रतिशत ही बचता था।[46]

भू-राजस्व/लगान	35 प्रतिशत
शासकीय व्यय	12.5 प्रतिशत
पुरोहित दान आदि	2.5 प्रतिशत
दस्तकार वर्ग	2.5 प्रतिशत

इन परिस्थितियों में किसानों के लिए सामान्य जीवन जीना कठिन था। इसीलिए उनके 'सामने जो कुछ मोटा-मोटा आ जाता है वह खा लेते हैं। उसी तरह जैसे इंजन कोयला खा लेता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बिना नाद में मुँह नहीं डालते मगर उन्हें केवल पेट में डालने को कुछ चाहिए। स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं।"[47] 'सर विलियम हंटर के अनुसार देश में चार करोड़ आदमी ऐसे हैं जिनको साल के 365 दिनों बराबर एक ही बार खाना खाने को मिलता है। जेल में केदियों को जो खाना नसीब होता है वो गाँव वालों को शायद ही कभी खाने को मिलता हो। अनुमान से भी प्रति काश्तकार की सालाना आमदनी 24 रुपये से अधिक नहीं है। लेकिन हमारे सूबे की जेलों में, सन् 1917 की रिपोर्ट के अनुसार, भी केदी की खुराक में 37 रुपये सालाना खर्च हुए। केदी पर 37 रुपये, काश्तकार के लिए सिर्फ 24 रुपये।'[47.1] "किसान अपने परिवार के लिए पर्याप्त भोजन का प्रबन्ध तो कर ही नहीं पाता था। वह अपने जानवरों को भला अच्छी हालत में केसे रखता? बैलों की संख्या बढ़ती गई, उन्हें मिलने वाली खुराक घटती गई और ज़मीन की उत्पादनशीलता घटी।"[48] उसका दैनिक आहार थोड़े से चावल और बहुत से कंदमूल तथा पौधे के पत्ते हैं। उसने जीवन में कभी स्वादिष्ट भोजन का आनन्द नहीं लिया। उसके पास वस्त्र फटे हुए चीथड़े मात्र हैं, उसका निवास स्थान एक टूटी-फूटी झोपड़ी मात्र है, जो मौसम के कष्टों से उसकी रक्षा ही नहीं कर पाती।[48.1] "भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए किसानों के पास धनाभाव था। अतः किसान आदिम तरीकों और साधनों को अपनाए रहने के लिए विवश था। वैज्ञानिक खाद और खेती के आधुनिक यान्त्रिक साधनों का प्रयोग कर सकने की हालत में किसान नहीं थे और न वे अपने पशुओं को ही स्वस्थ और शक्तिशाली बनाए रख सकते थे। इसके चलते कृषि का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ।"[49] इसके बावजूद अगर भारत की 75 प्रतिशत आबादी की जीविका का प्रबन्ध खेती करती है तो वह इसलिए कि उससे उनकी मर्यादा जुड़ी है। "खेती छोड़कर मज़दूर बनना उसे अपमानजनक लगता है। 'मज़दूर' कहलाने का

अपमान इतना असहनीय होता था कि उससे बचने के लिए द्वार पर दो बैल बाँधने जरूरी थे, चाहे उनकी आय का बहुत बड़ा भाग उन पर खर्च हो जाए।"[50] 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द बताते है कि "उसका बाल-बाल कर्ज़ में बाँधा हो, लेकिन द्वार पर दो चार बैल बाँधकर वह अपने को धन्य समझता है।"[51]

किसानों की बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता में मानवीय और दैवीय प्रकोपों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक कारण भी इसके लिए उत्तरदायी थे — आपसी मतभेदों और ईर्ष्या के कारण भारतीय किसान अत्याचारों के विरूद्ध स्वयं को संगठित नहीं कर पाए। इस मतभेद को 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सामाजिक समारोहों जैसे विवाह आदि और त्योहारों में वह अपनी क्षमता से कहीं अधिक धन व्यय करते हैं। जिसके लिए उन्हें ऋण लेना पड़ता है, जिसका भुगतान उनके वंशजों को करना पड़ता था। किसानों द्वारा नशा करना भी इन ऋणों का कारण है। इसके अतिरिक्त छोटी जोतों अर्थात् भूमि का उपविभाजन, जिसके कारण कम उत्पादन पर भी किसान से पूरा लगान एकत्र किया जाता है और ब्रिटिश शासन में कृषि का वाणिज्यीकरण एवं नई राजस्व व्यवस्था भी किसानों की बढ़ती ऋणग्रस्तता का कारक थी। इस प्रकार कृषि संकट, विश्व बाजार के उतार-चढ़ाव किसानों का मध्यस्थों और महाजनों द्वारा शोषण इन सब कारणों से किसानों की आमदनी घटी और वे तेजी से गरीब होते गए।"[52]

उपरोक्त कारणों के संबंध में कहा जा सकता है कि "शहरों में सभ्रान्त लोगों में ईर्ष्या एवं द्वेष, एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करने वाले सभ्य जनों की बेचारे किसानों से तुलना करना न्यायसंगत नहीं है।"[53] दूसरा अधिकतर विद्वानों का यह मानना है—"धार्मिक त्योहारों और अन्य सामाजिक अवसरों पर वह (किसान) अपनी क्षमता से अधिक खर्च करते थे।"[54] "व्यावहारिक रूप से देखा जाए तो इन अवसरों पर सभी अपनी मर्यादा और पद देखकर ही खर्च करते हैं। हम सब तो पढ़े लिखे हैं, सभ्य हैं, इन सब बुराइयों को समझते हैं क्या इन सबका ध्यान हमें लड़के की शादी के अवसर पर होता हैं? यदि नहीं तो हम किसानों को किस मुँह से दोष दें?"[55] एक सर्वेक्षण द्वारा किसानों के पारिवारिक बजट के अध्ययन से पता चलता है कि ऐसे त्योहारों पर वे जो धन खर्च करते हैं, वह उनकी सारी आमदनी का बहुत छोटा भाग है।[56] जबकि ऋणग्रस्त किसानों की वार्षिक औसत आय लगभग बयालीस रुपये थी।[57] किसानों के अपने जीवन की कुछ अन्ध आस्थाएँ थीं, जिनको पूरा करना उसका कर्तव्य बन चुका था। "बिरादरी, भोज-भात और डांड-बाँध कुछ ऐसे सामाजिक

कार्य थे जो धर्म का स्वरूप ग्रहण कर चुके थे और धर्म की अपेक्षा उसके भीरु मन के लिए असंभव थी।"[58]

जहाँ तक नशा करने की बात है, प्रेमचन्द इसे किसानों की दरिद्रता अथवा ऋणग्रस्तता का कारण नहीं मानते हैं। 'रंगभूमि' में भैरों की ताड़ी की दुकान है, जहाँ किसान नहीं बल्कि शहर के बड़े-बड़े तिलकधारी आते हैं। 'प्रेमाश्रम' में भोला अपना सर्वस्व ताड़ी में उड़ा देता है, लेकिन 'गोदान' में गिरधर के ताड़ी पीने के कारण के बारे में प्रेमचन्द लिखते हैं — "सामने से गिरधर ताड़ी पिए, झूमता चला आ रहा था। दोनों को (होरी और भोला) देखकर बोला-झिंगुरिया ने सारे का सारा ले लिया होरी काका। चबैना को भी एक पैसा नहीं छोड़ा एक इकन्नी मुँह में दबा ली थी। उसकी ताड़ी पी ली। सोचा सालभर पसीना गारा है, तो एक दिन ताड़ी तो पी लूँ, एक आने में क्या नसा होगा? हाँ, झूम रहा हूँ, जिससे लोग समझें कि खूब पिए हुए है।"[59]

साम्राज्यवादियों की आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप ही भूमि का उपविभाजन हुआ और छोटी-छोटी जोतों वाली भूमि पर खेती करना लाभदायक नहीं था। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने दिखाया है कि भूमि के विभाजन और कृषक ऋणग्रस्तता में क्या संबंध है। 'होरी' के भाई उससे अलग हो चुके हैं। होरी से अलग होने के कुछ वर्ष बाद ही, पहले उसके दोनों भाई फिर वह स्वयं ऋणग्रस्त हो जाता है।[60] इस प्रकार छोटी जोतों के किसानों को आर्थिक रूप से हानि हुई। पहले गाँव द्वारा दी गई भूमि पर परिवार संयुक्त रूप से उत्पादन करता था, लेकिन स्वामित्व और भूमि हस्तान्तरण के कारण भूमि का विखण्डन विभिन्न दावेदारों के बीच बढ़ा। एच.मान. ने दक्कन के एक गाँव के सर्वेक्षण के आधार पर लिखा, 'वहाँ औसत जोत 1771 में चालीस एकड़ थी। लेकिन 1915 में घटकर मात्र सात एकड़ रह गई। भूमि विभाजन की यह प्रक्रिया सभी गाँवों में जारी थी।'[61] '1935-36 में संयुक्त प्रान्त में औसत जोत अर्थात् प्रति व्यक्ति जोत मात्र 2.5 एकड़ थी।'[62] 'कांग्रेस एग्रेरियन इक्वाइरी कमेटी' की रिपोर्ट के अनुसार, "पिछले कई वर्षों से जोतों के विखण्डन की प्रक्रिया चलती रही। ऐसे किसानों की संख्या का अनुमान लगाना कठिन है जो एक बीघा ज़मीन के शतांश या चार सौवाँ भाग के मालिक हैं।"[63]

कृषि के वाणिज्यीकरण के संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा — "कृषि के वाणिज्यीकरण से किसानों को यह लाभ था कि पैसा तत्काल तो मिलेगा। किसी को बैल लेना था, किसी को बाकी चुकाना था। कोई महाजन से गला छुड़ाना चाहता था।"[64] वाणिज्यीकरण का सर्वाधिक प्रभाव किसानों की आर्थिक दशा पर पड़ा। "अब वह धीरे-धीरे व्यापारियों पर निर्भर होता गया और अपनी बेहतर माली हालत के कारण व्यापारियों ने किसानों की गरीबी का पूरा फायदा उठाया। किसान के पास कभी कोई संचित

धन नहीं रहा। अब सरकारी लगान और महाजन के सूद के भुगतान के लिए उसे फसल के वक्त ही अपनी उपज का अधिकांश भाग मध्यस्थ को बेच देना पड़ता था। लेकिन वह उसका सूद भी अदा करने की स्थिति में नहीं थे।"[65] इस प्रकार वाणिज्यीकरण के दूरगामी प्रभाव किसानों के लिए बहुत ही हानिकारक सिद्ध हुए। वहीं लगान की दर निश्चित होती थी। जो अपरिवर्तनशील थी, चाहे प्राकृतिक विपत्तियाँ आएँ या अनाज के भाव गिर जाएँ, पूर्व निर्धारित लगान ही एकत्र किया जाता था। लगान की रकम इतनी बढ़ जाती थी कि उपज का मूल्य भी उस सीमा तक नहीं पहुँच पाता था।[66] एक अध्ययन के अनुसार, "सरकार को 1801 में मिलने वाली मालगुज़ारी बयालिस लाख पौंड थी, जो 1936-37 में बढ़कर 239 पौंड हो गई[67] और अगले चार वर्षों में 389 पौंड हो गई।"[68]

इस प्रकार सरकारी कर निर्धारण और महाजन को सूद अदा करने के लिए बाजारों का महत्व बढ़ गया था, क्योंकि इसी समय महाजन भी अपने ऋणों का सूद उगाहते थे। लेकिन किसानों की स्थिति उस समय भयावह होती है, जब उसी अनाज को, जिसे उसने कम कीमत पर बेचा था, छः महीने बाद पुनः उसे बढ़े हुए दामों पर खरीदता था। 'किसानों द्वारा दिए जाने वाले "भूमिकर की राशि प्रायः बहुत अधिक हुआ करती थी और पहले तो लगान की अदायगी के लिए और फिर कालक्रम से महाजन का ऋण चुकाने के लिए किसान को अधिक पैसा बनाने की जरूरत हुई।"[69] अतः प्रेमचन्द किसानों की निर्धनता और ऋणग्रस्तता के लिए किसानों को नहीं बल्कि परिस्थितियों को उत्तरदायी मानते थे जो निसन्देह मानवीय है, प्राकृतिक नहीं। किसान अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए सूद की चिन्ता किए बिना ऋण लेता है। "सूद तो सभी लेंगे। कोई एक आना अधिक तो कोई एक आना कम। जब डूबना ही है तो क्या तालाब, क्या गंगा।"[70]

भारतीय किसानों की यह दयनीय स्थिति है कि उनके द्वारा लिया जाने वाला ऋण, भुगतान न कर पाने की स्थिति में, बढ़ता जाता है और एक दिन पैत्रिक संपत्ति के रूप में आने वाली पीढ़ी को मिलता है, परन्तु इसे 'पूर्व' जन्म के संस्कार के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। किसानों की स्थिति उस समय भयानक हो जाती है जब महाजन भी उन्हें ऋण नहीं देता। जैसे 'गोदान' में बेटी के विवाह के लिए कहीं से ऋण न मिलने पर होरी विवश हो अपनी बेटी को बेच देता है। 'गोदान' की रचना 1929 की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के बाद की गई थी, जिसने निःसन्देह प्रेमचन्द को प्रभावित किया था। मूल्यों में अचानक आई गिरावट के कारण किसानों ने लगान आदि व्ययों के लिए ऊँची सूद दर पर ऋण लिया। परिणामस्वरूप ऋणों में अप्रत्याक्षित

वृद्धि हुई। जबकि उत्पादों की कीमतों में गिरावट आई और ऋण जो 1929 में नौ सौ करोड़ था, 1937 में दुगुना (1800 करोड़) हो गया।[71]

मैकलगान के अनुसार, यह ऋण 1911 में 300 करोड़ था।

एम.एल. डार्लिंग के अनुसार, यह ऋण 1925 में 600 करोड़ था।

सेन्ट्रल बैंक इक्वायरी कमेटी' की रिपोर्ट के अनुसार, यह ऋण 1929 में 900 करोड़ था।

'एग्रीकल्चर क्रेडिट डिपार्टमेंट' की रिपोर्ट के अनुसार, "यह ऋण 1937 में 1800 करोड़ था,"[72] ऋण वृद्धि का मुख्य कारण आय का आधे से कम होना, उस पर करों का भार और इनके भुगतान न होने पर ऋणों की राशि, महाजनों पर निर्भरता बढ़ती गई। अतः "ऋणग्रस्तता का कारण यह है कि 75 प्रतिशत किसान भूमि से अपनी साधारण जीविका भी अर्जित नहीं कर पाते।"[73]

भारतीय किसानों पर आर्थिक मंदी का प्रभाव

प्रेमचन्द कालीन किसान आज की तरह लगान के सम्बन्ध में निश्‍चिंत नहीं था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अनाज के मूल्यों में वृद्धि हुई थी जिसके साथ-साथ ज़मींदारों ने वसूले जाने वाले लगान में वृद्धि की। इस प्रकार इस तेजी का लाभ ज़मींदारों और सिर्फ ज़मींदारों को मिला, किसानों की स्थिति पूर्ववत् ही बनी रही। वहीं 1929 की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के कारण अनाज का मूल्य बहुत नीचे गिर गया। इसके बावजूद न तो सरकार, जिसकी आय का मुख्य स्रोत भू-राजस्व था, और न ही जमींदार अपना हिस्सा छोड़ने को तैयार थे। किसानों की प्रार्थनाओं के बावजूद पूरा लगान सख्ती के साथ वसूल किया गया, जो निःसन्देह अन्यायपूर्ण था। किसान जो अपनी आय के लिए खेती पर निर्भर था और खेती भी ऋणों के भार से दबी थी। अतः उत्पादन और आय दोनों ही कम थे और ऋण लगान और नज़र-नज़राना देने के बाद उसके पास जो धन शेष बचता था उससे उसका निर्वाह संभव नहीं था। "पैदावार का मूल्य लागत और लगान से कहीं कम था।"[74] किसानों की निर्धनता ने तब विकराल रूप धारण किया जब आर्थिक मंदी के दौरान उन्होंने "एक-एक दाना बेच डाला, भूसे का एक तिनका भी न रखा, लेकिन यह सब कुछ करने पर भी चौथाई लगान से ज्यादा न अदा कर सके और ठाकुरद्वारे में वही उत्सव थे, वही जल विहार थे।"[75]

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में भारतीय किसानों की आर्थिक दुर्दशा तथा ज़मींदारों के शोषण का विशद वर्णन किया है। "आर्थिक मंदी के दौरान (1929-33) कीमतों में लगभग पचास प्रतिशत की गिरावट आई थी।"[76] आर्थिक मंदी के दौरान किसानों की

समस्याओं को प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में अभिव्यक्ति दी है। इसमें आर्थिक मंदी पर प्रकाश डालते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं — "इस साल अनायास ही जिन्सों (अनाजों) का भाव गिर गया। इतना गिर गया, जितना चालीस साल पहले था। जब भाव तेज था, किसान अपनी उपज बेच-बाचकर लगान दे देता था, लेकिन जब दो और तीन की जिन्स एक में बिके, तो किसान क्या करें। कहाँ से लगान दे, कहाँ से दस्तूरियाँ दें, कहाँ से कर्ज़ चुकाएँ? सारे प्रान्त, सारे देश यहाँ तक कि सारे संसार में यही मन्दी थी।"[77] किसान एक-एक दाना अनाज बेचकर भी एक चौथाई से अधिक लगान नहीं चुका पाते, उस पर पूरा लगान एकत्र करने का प्रयास किया गया। इस जबरदस्ती के संबंध में प्रेमचन्द लिखते हैं, "आजकल संगीनों की नोंक पर लगान वसूल किया जा रहा है। किसानों के पास रुपयें हैं नहीं, दें तो कहाँ से दें। अनाज का भाव दिन-दिन गिरता जाता हैं। खेत की उपज से, बीजों तक के दाम नहीं आते। गरीब किसान लगान कहाँ से दें।"[78] "किसानों की आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय थी कि वह वैज्ञानिक खाद और खेती के आधुनिक यांत्रिक साधनों का इस्तेमाल कर सकने की हालत में नहीं थे।"[79]

किसानों से लगान वसूलने के लिए पुलिस की सहायता ली जाती थी। 'कर्मभूमि' में महन्त जी के प्यादे और कारकून किसानों से पूरा लगान वसूलने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप अमरकान्त और आत्मानन्द इनके अत्याचारों के विरूद्ध किसानों को संगठित कर लगान में छूट देने की प्रार्थना करते हैं। ज़मींदार को भी सरकार को मालगुजारी देनी पड़ती है। इसलिए वह केसे लगान माफ कर सकता है। महन्त जी सरकारी अफसरों के पास मालगुजारी में छूट दे देने के लिए प्रार्थना पत्र लिख कर भेज देते हैं। जब तक सरकार कोई उत्तर न दे दे, तब तक के लिए महन्त जी रुपये में चार आने की छूट देते हैं और फिर लगान वसूली का काम शुरू हो जाता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में कहीं-कहीं उनके युग की घटनाएँ यथार्थ रूप में उभरकर सामने आ जाती हैं। संयुक्त प्रान्त में आर्थिक मंदी के समय और उसके बाद किसानों की आर्थिक दशा बहुत गिर गई थी। अन्त में विवश होकर किसानों ने 'लगानबंदी आन्दोलन' चलाने का असफल प्रयास किया।[80] प्रेमचन्द लिखते हैं कि "हमें शिकायत सरकार से है, जो किसानों की दशा से भली-भांति वाकिफ होकर भी और यह जानते हुए भी कि इस मंदी में जितनी तबाही उन पर आई है, उतनी समाज के और किसी वर्ग पर नहीं आई, हमेशा ज़मींदारों का ही पक्ष लेती है। जो किसान बड़ी मुश्किल से लगान दे पाता है, यहाँ तक कि ज़मींदारों के कथानुसार हर साल पचास फीसदी लगान बाकी रह जाता है, वह सूद कहाँ से दे सकता है।"[81]

निःसंदेह प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' उपन्यास में आर्थिक मंदी के दिनों में किसानों में उत्पन्न होने वाली जागृति का सजीव चित्र देखा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आर्थिक मंदी के पहले भारतीय किसान सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। लेकिन आर्थिक मंदी के दौरान किसान पूरी तरह टूट गया था। आर्थिक मंदी के समय अनाज के दाम तो बहुत कम हो गए था। लेकिन ज़मींदारों ने किसानों से तेजी के समय के मूल्यों के आधार पर ही लगान एकत्र किया। जिस लगान को चुकाने के लिए किसानों ने ऋण लिया। पहले आवश्यकता पड़ने पर वह ऋण लेता था, लेकिन आर्थिक मंदी के बाद किसान आकण्ठ ऋण में डूब गया। प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में आर्थिक मंदी के दौरान किसानों की स्थिति का वर्णन किया और बाद में 'गोदान' में ऋणग्रस्तता का। आर्थिक मंदी के बाद कृषि कितनी लाभहीन हो गई थी, इस संबंध में 'पूस की रात' में प्रेमचन्द ने लिखा, "हलकू खेती से जो कुछ पैदा करता है वह सब लगान चुकाने में ही निकल जाता है, उस पर बकाया भी रह जाता है और इस बकाया लगान को चुकाने के लिए वह मज़दूरी करने लगता है।"[82] "वास्तव में हालत तो यह है कि छोटे-छोटे किसानों का खेती पर जो खर्च पड़ रहा है। वह भी वसूल नहीं होता, लगान तो दूर की बात है।"[83] इस प्रकार 1929 की आर्थिक मंदी ने किसानों की लगान चुकाने के लिए ऋण लेने की सीमाओं को भी तोड़ दिया और वह धीरे-धीरे कृषि व्यवसाय की ओर से उदासीन होने लगे।

1929 के अंत में आने वाली विश्वव्यापी मंदी ने निश्चित रूप से कृषि उत्पादों की कीमतों को प्रभावित किया था। "संयुक्त प्रान्त में थोक मूल्य 1901-05 में 100 रुपये, 1929 के 218 रुपये से गिरकर 1930 में 162 रुपये, 1931 में 112 रुपये रह गए। मंदी ने राजस्व, लगान और ब्याज के भुगतान के बोझ को अत्यन्त बढ़ा दिया था और इसका सबसे बुरा प्रभाव पड़ा था उन 'मध्यवर्गीय' किसानों पर जो अपेक्षाकृत समृद्ध थे, जिनके पास बेचने के लिए अतिरिक्त उपज थी।"[84]

किसानों का शोषण—आन्तरिक एवं औपनिवेशिक

किसानों का शोषण सामन्तवादी समाज में भी होता है और पूँजीवादी समाज में भी होता है, लेकिन उपनिवेशों में किसान के शोषण का रूप इन दोनों से अलग होता है। "उपनिवेशवादी व्यवस्था में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषण करता है, सिर्फ किसानों का ही शोषण नहीं करता। चूँकि उपनिवेशों में किसान ही ज्यादा रहते हैं"[85] या उनका ही शोषण मुख्य रूप से होता है, अतः किसानों का शोषण राष्ट्रीय शोषण के रूप में सामने आता है। साम्राज्यवादी अंग्रेजों की आय का मुख्य स्रोत भू-राजस्व से होने वाली आय थी। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में भारतीय पूँजी का इंग्लैण्ड की

ओर होने वाले निष्कासन का विस्तृत वर्णन नहीं किया है, केवल उसका जिक्र किया है। जबकि किसानों के शोषण को उन्होंने मुख्य मुद्दा बनाया है। "उन्होंने किसानों के शोषकों की एक कड़ी के रूप में अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद को देखा और वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद को किसानों के शोषण का प्रमुख कारण मानते थे और यह उन्हीं का प्रभाव है कि ज़मींदार, सूदखोर तथा इनकी नौकरशाही शोषण कर रही है।"[86] इन आर्थिक शोषणों के साथ-साथ वही उनसे बेगार भी लेते थे, जिससे उनका सामाजिक अस्तित्व भी खतरे में रहता था।[87]

ब्रिटिश साम्राज्य में देश के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न राजस्व व्यवस्थाऐं लागू की गई थीं, लेकिन प्रेमचन्द ने विशेष रूप से उत्तरी भारत में लागू ज़मींदारी व्यवस्था का वर्णन किया जिसमें मुख्यतया रायबरेली, प्रतापगढ़, बनारस, लखनऊ, फैजाबाद और गोरखपुर के आस-पास के किसानों का वर्णन हुआ है। प्रेमचन्द साम्राज्यवादी शासन में भू-राजस्व व्यवस्था में मध्यस्थों की उपस्थिति की आलोचना करते हुए 'प्रेमाश्रम' में मायाशंकर के माध्यम से कहते हैं कि राजा (अर्थात् अंग्रेज) को कर लेने का अधिकार है, राजा और किसानों के बीच शोषकों की जो विशाल श्रेणियाँ बनी हुई हैं, उन्हें नहीं होना चाहिये। इन शोषकों की एक लम्बी कड़ी हमें प्रेमचन्द की रचनाओं में मिलती है। उन्होंने अनुभवों के आधार पर न कि बौद्धिक श्रेष्ठता के आधार पर किसानों के दोस्तों और दुश्मनों को वर्गीकृत किया है। "किसान के दुश्मन कौन हैं — ये किसान से ज्यादा सही और कौन बता सकता है। उन्होंने शोषण को ऊँची मीनार से नहीं, उसकी जड़ से देखा है।"[88] वह यह जानते थे कि गांवों में किसानों का शोषण करने के लिए साहूकार, भू-स्वामी, सरकारी कर्मचारी, पुलिस आदि सभी मौजूद रहते हैं।

ज़मींदार

ब्रिटिश शासन से पहले भारत में ज़मींदार वर्ग का कोई अस्तित्व नहीं था। मुगल शासकों ने राजस्व एकत्र करने के लिए इन्हें नियुक्त किया, जो एकत्रित राजस्व का कुछ भाग अपने पास रखकर शेष सरकार को देता था। शासक भी कृषि भूमि का स्वामी नहीं होता था वरन् उत्पादन के कुछ भाग पर ही उसका अधिकार था। "भारत में भूमि ग्राम समुदाय, गोत्र और बिरादरी की होती थी। वह कभी राजा के सम्पत्ति नहीं मानी गई। इस प्रकार सामन्तों और सम्राटों के शासन में ज़मीन का स्वामित्व कृषक समुदाय के हाथ में ही रहा।"[89] लेकिन अंग्रेजी शासन में भू-राजस्व व्यवस्था में परिवर्तन हुए। वारेन हेस्टिंग्स ने सबसे पहले इस धारणा को सामने रखा कि "सारी ज़मीन सरकार की है। ज़मीन जोतने वाला किसान तो सरकार से ज़मीन किराये पर

लेता है। अतः ज़मीन का सरकारी हिस्सा 'टैक्स' या कर नहीं 'रेन्ट' या किराया है।"[90] एक प्रभावशाली ज़मींदार वर्ग की उत्पत्ति 1793 के कार्नवालिस के स्थायी बन्दोबस्त द्वारा हुई। इस व्यवस्था में "फसल चाहे अच्छी हो या बुरी, अधिक ज़मीन पर खेती हुई हो या कम पर, साल में रुपये की एक निश्चित राशि देय होती थी।"[91] और इसी व्यवस्था ने एक शक्तिशाली शोषक के रूप में ज़मींदारों को जन्म दिया।

प्रेमचन्द ने भूमि के स्वामित्व के संबंध में लिखा कि "भूमि या तो ईश्वर की है या किसान की, जो ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है, इसलिए उसे कर लेने का अधिकार है। अगर किसी अन्य श्रेणी या वर्ग को इस मिल्कियत, जायदाद तथा अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता है, तो वह वर्तमान समाज व्यवस्था का कलंक मात्र है।"[92] अतः यहाँ स्पष्ट रूप से प्रेमचन्द ने ज़मींदारों वर्ग के अस्तित्व को ही अन्यायपूर्ण बताया है।

किसानों पर ज़मींदारों का अत्याचार 'गोदान' और 'प्रेमाश्रम' लिखे जाने तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था, जहाँ लगान के भुगतान के लिए किसानों को अपनी ही भूमि से बेदखल कर दिया जाता है। वह भूमि, जो उनके जीवन भर की पूँजी है, उनकी प्रतिष्ठा का प्रतीक है, उनसे छीन ली जाती है। इसके परिणामस्वरूप वह एक नए सामाजिक वर्ग का गठन करते हैं — 'भूमिहीन काश्तकार'। इन कृषक मज़दूरों को यदि नौकरी मिल भी जाती है तो "रायसाहब जो जमींदार हैं और सैकड़ों का वारा-न्यारा एक दिन में कर डालते हैं, दिन भर की मजूरी एक आना देते हैं और ऐसी सख़्त मज़दूरी उसकी जान ही ले लेती है।"[93] इस प्रकार किसानों का शोषण लगान की नाअदायगी अथवा बकाया से ही मुख्यतया संबंधित था।

ज़मींदारों ने अपनी स्वार्थता और वैभवपूर्ण जीवन के लिए लगान में वृद्धि कर अत्यधिक धन कमाने का मार्ग अपनाया। प्रेमचन्द ने भूमिकर को किसानों के शोषण का मुख्य साधन माना है। रजनीपाम दत्त ने तीन तरह के बोझों को किसानों के शोषण का साधन माना है — "सरकारी मालगुजारी का बोझ, ज़मींदारों के लगान का बोझ और साहूकार के सूद का बोझ। इसके अतिरिक्त इसमें नमक कर का बोझ और जोड़ दिया जाय, तो यह बोझ 20 रुपये प्रति किसान तक पहुँच जाता है।"[94] जबकि किसानों की औसत आय के संबंध में 'केन्द्रीय बैंकिग जाँच कमेटी' की बहुमत की रिपोर्ट में अनुमान लगाया गया है कि "ब्रिटिश भारत में किसान की औसत आमदनी 42 रुपये सालाना से अधिक नहीं बैठती।"[95] "इस स्थिति में जब किसानों से दण्डात्मक करो के रूप में 20 प्रतिशत अतिरिक्त करों की माँग की जाएगी, तो वह क्या करेंगे?

ऐसी स्थिति में बहुसंख्यक किसान अपना लगान अदा नहीं कर पाते। तब उनके घरों में छापे मारे जाएँगे और उनकी चल-सम्पत्तियों को ज़ब्त कर लिया जाता है।"[96]

पंडित नेहरू ने लिखा है, "अवध के कुछ ज़मींदार किसानों से पचास से ज्यादा गैर-कानूनी कर वसूल करते थे। इस प्रकार किसानों से इन अतिरिक्त और गैर-कानूनी करों के अतिरिक्त बेगार भी लिया जाता था।"[97] ज़मींदार लगान और बेगार के रूप में जो शोषण किसानों का करते थे, उतने से ही उन्हें सन्तोष नहीं होता। 'गोदान' में एक हल पर दो दो रुपये चन्दा लगाया जाता है, जिसे किसान अपने दब्बूपन का परिणाम मानते हैं, लेकिन इस दब्बूपन में परिवर्तन का संकेत देने के लिए प्रेमचन्द ने रामसेवक को खड़ा किया, जो लगान न देने की बात कहकर सभी किसानों को ज़मींदारों से अलग कर देता है। इस स्थिति में ज़मींदार लाचार हो गए, क्योंकि यदि वह किसानों को बेदखल कर भी देते, तो उनके खेत कौन जोतता। प्रेमचन्द ने ज़मींदरों की इसी निर्भरता के प्रति किसानों को संगठित किया।

"ज़मींदारों के बावन हाथ थे"[98] जिनमें दो प्रबल अस्त्र थे — अन्याय और दमन। इन्होंने अपने आर्थिक लाभों के लिए विपत्तियों में भी किसानों की सहायता न करके उनका शोषण किया। "वास्तव में किसानों का जो शोषण ब्रिटिश भारत में ज़मींदारों द्वारा होता था, उस तरह का शोषण यहाँ पहले कभी नहीं होता था।" 'प्रेमाश्रम' में जयशंकर अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए किसानों पर इज़ाफा लगान का दावा करता है और यह लगान तब बढ़ाया जाता है, जब सारा गाँव गौस खान की हत्या के मामले में जेल में हैं। अतः न तो उत्पादन हुआ और न ही लगान वसूला जा सका। अन्ततः "ज्ञानशंकर ने बेदखली दायर करने की ठान ली। इसी की देर थी, नालिश हो गई, किन्तु गाँव में रुपयों का बन्दोबस्त न हो सका, उज्रदारी करने वाला भी कोई न निकला।"[100] राय कमलानन्द भी किसानों से रुपया वसूलते हैं और रुपया न मिलने पर उनकों हंटरो से पीटते हैं।[101] 'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने ज़मींदारों के शोषण की नृशंसता को पूर्णतया उभार दिया है। जहाँ ज़मींदार महन्त रामदास अपनी धार्मिक वृत्तियों की पूर्ति के लिए अपने आसामियों पर हल पीछे पाँच रुपया चंदा लगाते हैं। जब वृद्ध अहीर चेतू उनकी तीर्थयात्रा और यज्ञ के लिए उगाहने वाले चन्दे को देने से इनकार करता है तो उसको तब तक मारा जाता है जब तक उसकी ज़बान बंद नहीं हुई। उसी रात को उसे जान से भी मार दिया गया।[102] इसी प्रकार 'बलिदान' कहानी में ज़मींदार ओंकारनाथ हरखू की मृत्यु के बाद उसके खेत उसके पुत्र को न देकर दूसरे आसामी को दे देते हैं, क्योंकि वह आठ रुपये के स्थान पर दस रुपये बीघा लगान ही नहीं, सौ रुपये नज़राने के भी देने को तैयार है।[103] पं. नेहरू ने संयुक्त प्रान्त में किसानों के प्रति होने वाले दुर्व्यवहार के संबंध में लिखा, "उन्हें

ज़मींदारों द्वारा किसानों पर किए जाने वाले अत्याचारों और शोषण के संबंध में बहुत सी शिकायतें मिली है।"[104]

इस प्रकार प्रेमचन्द के किसानों को सर्वाधिक शोषण ज़मींदारों द्वारा होता है, फिर चाहे वह कानूनी शोषण अर्थात् लगान से संबंधित हो या फिर गैर-कानूनी शोषण जैसे चंदा, बेगार आदि से। प्रेमचन्द ने पुराने ज़मींदारों में अपेक्षाकृत अधिक मानवता का वर्णन किया है। 'प्रेमाश्रम' में उदार दृष्टिकोण वाले और किसानों की सहायता करने वाले पुराने ज़मींदार जटाशंकर के दोनों बेटे ज्ञानशंकर और प्रेमशंकर ज़मींदारी करते हैं। ज्ञानशंकर साम्राज्यवादी अर्थात् पश्चिमी सभ्यता और एक क्रूर ज़मींदार का प्रतीक है। वहीं दूसरी और प्रेमशंकर, जो साम्राज्यवाद का प्रतीक है और प्रेमचन्द ने जिसका पक्ष लिया है, एक उदार दृष्टिकोण वाला ज़मींदार है। जहाँ ज्ञानशंकर लखनपुर गाँव का मालिक है। वही प्रेमशंकर किसानों का समर्थक है।[105] अर्थात् यहाँ प्रेमचन्द ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि ज्ञानशंकर जैसे लोग ही सफलतापूर्वक ज़मींदारी का काम करते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से किसानों से जुड़े नहीं हैं और वह केवल इज़ाफा लगान, बेगार आदि तक ही स्वयं को सीमित रखते हैं। प्रेमचन्द ने ऐसे ही ज़मींदारों का विरोध अपनी रचनाओं में किया है, जो किसानों की निर्धनता, ऋणग्रस्तता, भूमिहीनता आदि के लिए उत्तरदायी थे। 'ज़मीन से दूर, शहरों में रहने वाले इन ज़मींदारों को खेती की तरक्की में कोई रुचि न थी और न उन्होंने कृषि के साधनों के तकनीकी विकास की आवश्यकता को ही महसूस किया।[106]

ज़मींदार के पदाधिकारी

किसानों का शोषण केवल ज़मींदारों द्वारा ही नहीं बल्कि उसके कर्मचारियों द्वारा भी होता है। ज़मींदारों के बावन हथियारों में कारिन्दे, मुख़्तार और चपरासी किसानों के शोषण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारतीय किसानों के शोषण के लिए मध्यस्थों की एक कड़ी रहती थी। "किन्हीं-किन्हीं राज्यों में मध्यस्थों की संख्या पचास से अधिक है।"[107] "यह कर्मचारी कठोरतापूर्वक ज़मींदार के आदेशों का पालन करते हैं और इस प्रक्रिया में स्वयं भी लाभान्वित होते हैं, जबकि ज़मींदार के यह कर्मचारी बहुत कम वेतन पाते थे। विशेष रूप से कारिन्दे, जो सम्पन्न जीवन व्यतीत करते थे और असहाय किसानों पर राज करते थे।"[108] ज़मींदार के इन कर्मचारियों के संबंध में प्रेमचन्द लिखते हैं—"वह किसान न थे, पर खेती करते थे। वह ज़मींदार न थे, पर ज़मींदारी करते थे। थानेदार न थे, पर थानेदारी करते थे। वह थे ज़मींदार के मुख़्तार। गाँव पर उन्हीं की धाक थी। उनके पास चार चपरासी थे, एक घोड़ा, कई गायें-भैसें। वेतन कुल पाँच रुपये पाते थे, जो उनके तम्बाकू के खर्च को भी काफी न होता था।"[109]

इस उपसामान्तीकरण प्रभुत्व वाली व्यवस्था में "ज़मींदार अपनी ज़मींदारी को पूरी तरह से बेचे बिना भी अपनी मिल्कियत को कम कीमत वाली छोटी ज़मींदारियों में वितरित कर रुपया बना सकता है। उसे सालना मालगुजारी मिलती रहती है, जिससे सरकारी लगान देने के बाद भी उसके पास पैसा बचा रह जाता है। कम कीमत की छोटी ज़मींदारियों वाले लोग भी यही प्रथा अपनाते हैं जिसके फलस्वरूप बहुत से मध्यस्थ तैयार हो जाते हैं, जिन्हें खेती और ज़मीन के विकास में कोई रुचि नहीं।"[110]

'प्रेमाश्रम' में लखनपुर का कारिन्दा गौस खान ही वहाँ का ज़मींदार है। उसे किसी को भी दण्डित करने और बेगार लेने का अधिकार है। गौस खान की यह विशेषता है कि वह बड़े किसानों की मदद से छोटे किसानों का शोषण करता है। वह लगान एकत्र करते समय किसी को रसीद नहीं देता। किसी का डांड, किसी पर बेदखली, तो किसी पर इज़ाफा लगान का दावा करने संबंधी सभी निर्णय कारिन्दा करता है। उसने अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए लखनपुर गाँव के सामूहिक चारागाह के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया।[111] इसी प्रकार वह सीमित वेतन के बावजूद एक सम्पन्न जीवन व्यतीत करता है। यद्यपि उसकी हत्या कर दी जाती है, फिर भी उसके क्रूर अन्त का उसके उत्तराधिकारी फैजुल्लाह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह अपनी क्रूरता में परम्परागत कारिन्दों की विशेषता लिए हुए है।[112] प्रेमचन्द उसकी निर्दयता के बारे में लिखते हैं, "फैजुल्लाह ने सख़्ती करनी शुरू की। किसी को चौपाल के सामने धूप में खड़ा करते, किसी को मुश्कें कसकर पिटवाते।"[113] ज़मींदारों का कारिन्दा बनना लोग लाभदायक मानते थे। यहाँ तक कि "कहीं की 30 रुपये की नौकरी छोड़कर भी ज़मींदारों की कारिन्दागरी लोग 8 रुपये, 10 रुपये में स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि 8 रुपये, 10 रुपये का कारिन्दा साल में 800 रुपये, 1000 रुपये से ऊपर कमाता है। जो किसान उनकी मुट्ठी गरम करते हैं, उन्हें मालिक के सामने सीधा और जो कुछ नहीं देते, उन्हें बदमाश और सरकश बतलाते हैं।"[114] इस परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द यह संकेत देते हैं कि ज़मींदारों की कारिन्दों पर निर्भरता बहुत अधिक है और वह चाह कर भी इन कारिन्दों को निष्कासित नहीं कर सकते, क्योंकि उस स्थिति में उनके आदेशों का पालन करने वाला कोई नहीं होगा।

ज़मींदार के बड़े पदाधिकारी तो किसानों पर अपना प्रभुत्व रखते ही है, साथ ही ज़मींदार का चपरासी भी स्वयं को ज़मींदार से कम नहीं समझता था। "उसका ऐसा आतंक था कि उसे देखते ही प्राण निकल जाएँ। उसकी शक्ति भी जमींदार से किसी तरह कम नहीं थी। किसी को मिट्टी में मिला देना उसके बाएँ हाथ का काम था। उसका पद छोटा और सत्ता बड़ी थी। उसका काम केवल बस्ते ढोना, मेज साफ करना या साहब के पीछे-पीछे घूमना होता था। पर गाँव में जाकर उसके हाथ ऐसा

करतब दिखाते कि सब हाय-हाय कर उठते। उसका वेतन कम था, किन्तु रहन-सहन का स्तर अमीरों जैसा ही था। धनवानों की नौकरी, नौकरी नहीं राज्य होता था।"[115] 'प्रेमाश्रम' में किसान का पहला शोषक ज़मींदार अथवा उसके उच्च अधिकारी नहीं, बल्कि चपरासी गिरधर महाराज है, जो राज्य व्यवस्था की निम्नतम क्षेणी में आता है। डिप्टी ज्वालासिंह का चपरासी गाँववालों से कहता है — "भैंसें हमारे सामने लाओ, दूध तो हमारा चपरासी निकालता है। हम पत्थर से दूध निकाल लें, चोरों के पेट तक की बात निकाल लेते हैं, भैंसें तो फिर भैंसें हैं। इस चपरास में वह जादू है कि चाहे तो जंगल में मंगल कर दें।"[116]

ज़मींदारों के चपरासियों की शक्ति इतनी अधिक थी कि अधिकारियों के दौरों के समय यह चपरासी गाँव के भाग्य विधाता बन जाते हैं। किसी की लकड़ियाँ उठा लीं, दूध, दही, घी जैसे खाद्य पदार्थ तो हमेशा मुफ्त ही आते हैं, इसके बावजूद दुकानों से मुफ्त सामान भी आ जाता है, कोई पूछने-टोकने की हिम्मत नहीं कर सकता है। प्रेमचन्द ने इन चपरासियों की आर्थिक स्थिति को इन अत्याचारों का कारण माना है। साथ ही साथ वह स्पष्ट करते हैं कि इनको तनख़्वाह इतनी कम मिलती है जिसमें गुजारा ही नहीं होता। इसी कारण ये अत्याचार करने पर मजबूर हो जाते हैं।[117] इस प्रकार यह प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि है कि जिसने औपनिवेशिक शोषण के इस चक्र में सबसे छोटी कड़ी-कारिंदा मुख़्तार और चपरासी का भी वर्णन किया है। यह सभी ज़मींदार के शोषण चक्र की कड़ियाँ हैं। इनमें जहाँ कारिन्दों की महत्वाकांक्षा स्वयं ज़मींदार बनने की रहती है। वहीं मुख़्तारे आम अपने इलाके में एक बड़े ज़मींदार से अधिक प्रभावशाली होता है। उसका ठाट-बाट और सत्ता छोटे-छोटे राजाओं से कम नहीं होती थी।[118] इन कर्मचारियों के शोषण से त्रस्त होकर मार्च 1931 में ज़मींदार के दो नौकरों की हत्या कर दी थी, जिस पर खेद करते हुए पं. नेहरू ने इसके लिए ज़मींदारों के कर्मचारियो पर लगान वसूलने के बहाने अत्याचार करने का आरोप लगाया था।[119]

किसानों के शोषण तन्त्र की एक कड़ी पटवारी भी हैं, क्योंकि पटवारी को गाँव में भूमि सम्बन्धी अधिकारों की आन्तरिक सूचना होती थी। आवश्यक रिकार्डों पर उनका वास्तविक एकाधिकार होता था और इसके परिणामस्वरूप उनमें बहुत चालाकी से दस्तावेज़ों का प्रबन्ध करने की दक्षता थी और रिकार्डों में सुविधानुसार परिवर्तन कर लेते थे। ऐसा इसलिए संभव था, क्योंकि अधिकतर किसान अशिक्षित थे और वह दस्तावेज़ों की तकनीकों को समझ नहीं पाते थे। जबकि इन पर पटवारियों को विशिष्टता प्राप्त थी।[120] पटवारी का गाँव में अपना महत्व होता था। "लाल पटेश्वरी गाँव में मशहूर थे। पूर्णमासी को नित्य सत्नारायण की कथा सुनते, पर पटवारी होने के नाते खेत बेगार में जुतवाते थे, सिंचाई बेगार मे करवाते थे और असामियों को

एक-दूसरे से लड़ाकर रकमें मारते थे। गरीबों को दस-दस, पाँच-पाँच कर्ज़ देकर उन्होंने कई हज़ार की सम्पत्ति बना ली थी। फसल की चीजें असामियों से लेकर कचहरी और पुलिस के अमलों को भेंट करते रहते थे। इससे इलाके भर में उनकी अच्छी धाक थी।"[121] उसका वेतन दस-बारह रुपये होता पर ऊपर से हज़ारों की आमदनी सहज ही हो जाती। आय की आय और हुकूमत अलग। चार-चार प्यादे उपस्थित रहते। सारा काम बेगार में हो जाता था।[122] यही पटवारियों को स्थिति थी। 'गोदान' में लगान न देने पर पटवारी भोला अपनी स्थिति औ:र शक्ति का आभास दिलाते हुए कहता है कि "मैं ज़मींदार या महाजन का नौकर नहीं हूँ, सरकार बहादुर का नौकर हूँ, जिसका दुनिया भर में राज है और जो तुम्हारे महाजन और ज़मींदार दोनों का मालिक है।"[123]

कारकून और मुखिया

किसानों के शोषण·में कारकून भी अहम् भूमिका निभाते हैं और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से यह शोषण तंत्र के अन्य शोषकों से जुड़े रहते हैं। 'गोदान' में कारकून नोखेराम एक ऐसा ही कारकून है, जिसे दस रुपये प्रतिमाह से अधिक वेतन नहीं मिलता था। लेकिन वह हज़ार से अधिक बना लेते थे और अपने अत्याचारों को अंजाम देने के लिए अपने आदमी रखते हैं। उसका प्रिय हथियार किसानों से डांड अर्थात् पंचायत द्वारा लगाए गए अर्थदण्ड को वसूलना था। इसके लिए वह अपने प्रभाव द्वारा अपने पक्ष में नीलामी करा लेते हैं। जैसे 'प्रेमाश्रम' में गौस खान और 'गोदान' में नोखेराम किसानों द्वारा भुगतान किए गए लगान की रसीद नहीं देते, ताकि उनकी कमाई के विकल्प खुले रहें और कम-से-कम लगान की नाअदायगी के बहाने उसका शोषण किया जा सके। पंडित नोखेराम जो स्वयं एक कुलीन ब्राह्मण थे। वह यह स्वीकारते हैं कि होरी ने अपना पूरा लगान चुका दिया है फिर भी उस पर दो सौ रुपये के डांड़ का दावा करने की बात करते हुए कहते हैं कि "अभी रसीद तो नहीं दी। सबूत क्या है कि लगान बेबाक कर दिया?"[124] अन्ततः पंचायत ने नोखेराम का पक्ष लेते हुए 100 रुपये नगद और तीस मन अनाज डांड़ लगाया। जिससे होरी आजीवन मुक्त न हो सका। इस प्रकार "किसानों द्वारा लगान के भुगतान की रसीद न देकर धीरे-धीरे उन्हें उनकी ही भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। किसानों के लिए इसे साबित करना असंभव था।"[125]

इसी प्रकार गाँव के मुखिया भी इस शोषणकारी व्यवस्था में अपना स्थान रखते हैं। 'प्रेमाश्रम' में सुक्खू जो गाँव का मुखिया है, गाँव का सबसे धनी किसान है। पूरे गाँव में केवल उसके घर ही दो बार भोजन बनता है। ग्रामीण समुदाय के मान्यता

प्राप्त नेता के रूप में उसे ग्रामीणों और उसके अन्य शोषकों अर्थात् सरकारी कर्मचारियों एवं जमींदार और उसके पदाधिकारियों के मध्य मध्यस्थ का काम करना होता है। लेकिन वास्तव में वह बड़ी दक्षता से उन्हीं ग्रामीणों के हितों की उपेक्षा करता है, जो उससे संरक्षण की उम्मीद करते हैं। यह कार्य वह गौस खाँ और पटवारी मौजीलाल के साथ मिलकर करता है और किसानों की विपत्तियों में अप्रत्याक्षित वृद्धि करता है।[126]

महाजनी शोषण

ग्रामीण शोषकों की श्रेणियों में महाजन, किसान और ज़मींदार के बीच की एक ऐसी कड़ी है, जो सर्वाधिक भ्रष्ट और अत्याचारी है। 'प्रेमाश्रम' में बसेसर साह की एक छोटी सी दुकान है, लेकिन उसने पूरे गाँव की गर्दन दबा कर रखी है।[127] प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं के माध्यम से किसानों की व्यथाओं और महाजनी शोषण का बहुत सूक्ष्म वर्णन किया है। जहाँ स्वयं किसान भी यह मानने को विवश हैं कि "पानी में रहकर मगर से बैर नहीं किया जाता।"[128] अर्थात् कर्ज़ में डूबे हुए किसान महाजनों से दुश्मनी नहीं कर सकते। अतः जहाँ महाजन उनका शोषण करते हैं, वही किसान उसके सामाजिक एवं आर्थिक शोषण से स्वयं को सुरक्षित रखने में असमर्थ हैं। वास्तव में, "महाजनों द्वारा किसानों का शोषण, शोषण का सामन्ती रूप है। उपनिवेशवादी युग में इनका शोषण खूब फूला-फला। उत्तरी भारत में उस समय शायद ही कोई किसान बचा हो, जिस पर कोई कर्ज़ न हो।"[129]

साहूकार और कर्ज़ भारतीय समाज के लिए कोई सर्वथा नई वस्तु नहीं है। लेकिन "जब से भारत का पूँजीवादी शोषण शुरू हुआ, खासतौर पर ब्रिटिश साम्राज्य के काल में, साहूकार की भूमिका आकार और विस्तार में बहुत बढ़ गया है। पुराने कानूनों के मातहत कोई महाजन कर्ज़े के एवज़ में ज़मीन नहीं छीन सकता था। अंग्रेजी राज के आने पर यह सारी बातें बदल गईं। अब कर्ज़दारों को जेल में बंद किया जा सकता है और जमीन एक आदमी के हाथ से निकलकर दूसरे आदमी के हाथ में जा सकती है। इन कानूनों से महाजन की चारों उँगलियों घी में हो गईं और पुलिस और अदालत की पूरी ताकत उसके पीछे-पीछे चलने लगीं।"[130]

तत्कालीन लगान व्यवस्था ही किसानों के महाजनी शोषण का कारण बनी। प्रेमचन्द लिखते हैं, — "कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।"[131] और इसी लगान को चुकाने के लिए किसान ऋण लेता है और महाजनी शोषण का शिकार बनता है। साथ ही आजीवन वह उनके चंगुल से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता है।

उसका सारा परिश्रम महाजन का सूद अदा करने में ही निकल जाता है। 'गोदान' में ऊख की फसल तैयार होने पर सभी किसान अपनी बेहतर आर्थिक स्थिति के प्रति आशान्वित हैं, लेकिन यही वह समय होता है जब महाजनों को अपना सूद वसूलना होता है। अतः महाजन किसानों से तकाज़ा करने लगते हैं। प्रेमचन्द इस स्थिति का बहुत ही मार्मिक वर्णन करते हैं — "तौल शुरू होते ही झिंगुरीसिंह ने मिल के फाटक पर आसन जमा लिया। हर एक की ऊख तौलते थे और अपना पावना (हिस्सा) काटकर आसामी को दे देते थे। आसामी कितना भी रोए, चीखे, किसी की न सुनते थे। होरी झिंगुरीसिंह और नोखेराम को सूद के सारे रुपये देकर स्वयं खाली हाथ घर लौटता है।"[132] विडम्बना यह है कि "महाजन मनमानी सूद पर ऋण देता है। इतना ही नहीं, खाते में सूद की दर की जगह ढाई लिख देता है।"[133] यह ऋण पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है और दावा होने पर महाजन कम सूद पर ऋण देने को लालच देकर उसे अपने जाल में फँसा लेता है।

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' की अपेक्षा 'गोदान' में महाजनी शोषण का विशद वर्णन किया है, जहाँ ज़मींदार तो एक है, लेकिन महाजन कई हैं — पंडित दातादीन, झिंगुरीसिंह, दुलारी सहुआइन, मंगरूसाह आदि। इन परम्परागत महाजनों के अतिरिक्त यह किसानों की मनोवृत्ति है कि यदि उनके पास भी कुछ पैसा आ जाता है, तो वह भी उसे सूद पर चढ़ा देते हैं। जैसे 'गोदान' में होरी का बेटा गोबर। इस उपन्यास में "झिगुरीसिंह सबसे बड़े महाजन हैं। वह शहर के एक बड़े महाजन के एजेंट हैं। कई छोट-मोटे महाजन भी थे जो दो आने रुपये ब्याज, पर बिना लिखा-पढ़ी के रुपये देते थे। झिंगुरी पक्का कागज़ लिखते थे, नज़राना अलग लेते थे, दस्तूरी अलग, स्टाम्प की लिखाई अलग। उस पर एक साल का ब्याज पेशगी काटकर रुपया देते थे। पच्चीस रुपये का काज़ग लिखा तो मुश्किल से सतरह रुपये हाथ लगते थे।"[134] इसी परिप्रेक्ष्य में 'गोदान' की एक घटना का वर्णन अनिवार्य है जहाँ एक किसान महाजन से 10. रुपये उधार लेता है। "महाजन उसे पाँच रुपये देता है और कहता है कि यह दस रुपये हैं, घर जा कर गिन लेना। किसान जब जिद करता है तो महाजन बताता है, एक रुपया नज़राने का हुआ कि नहीं?, एक तहरीर का, एक कागज़ का, एक दस्तूरी का, एक सूद का, पाँच नकद, दस हुए कि नहीं?"[135] इस प्रकार किसानों द्वारा माँगे गए ऋण का पचास प्रतिशत देने के पूर्व ही वसूल लिया जाता है। प्रेमचन्द मानते हैं कि पैसे वाले उधार न दें तो सूद कहाँ से पाएँ।"[136]

निःसन्देह इन महाजनों के शोषण का आधार ज़मींदारी व्यवस्था में निहित है, किसानों का शोषण करने के लिए ज़मींदार कभी इज़ाफा लगान करता है, कभी बकाया लगान का दावा करता है। ज़मींदार किसान से ऐसे नाजुक समय पर लगान

माँगते हैं, जब उनके पास रुपये नहीं होते।[137] इस स्थिति में महाजन उनका हिमायती बन कर कर्ज़ देता हैं और "कर्ज़ वह मेहमान है जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।[138] महाजन सूद पर रुपया उधार देते, सूद की निश्चित दर अंग्रेजी शासन में समाप्त हो गई थी। समय के साथ इस दर में वृद्धि हुई और अदालतों ने भी इसे स्वीकार किया। सम्भवतः इस व्यवसाय मे महाजनों को हानि की संभावना अधिक रहती थी, इसीलिए उन्होंने ऊँची दरों पर सूद दिया। इसके अतिरिक्त शिक्षा का आभाव, अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता तथा महाजनों का धन पर एकाधिकार भी इसके कारण थे।[139] वास्तव में किसानों को दोहरे शोषण का सामना करना पड़ता है, क्योंकि यही महाजन ही गाँव के मुखिया, पटवारी, पुरोहित और कारिन्दा भी होते थे। 'गोदान' में इस दोहरे शोषण को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस समय प्रेमचन्द स्वयं ऋणग्रस्त थे। अतः गोदान में महाजनी सभ्यता का जो प्रभाव दिखाई देता है वह प्रेमचन्द की कल्पना कम, अनुभव अधिक है।

महाजनी सभ्यता के प्रभाव और प्रकृति के संबंध में 1936 में प्रेमचन्द ने लिखा था — "इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की गरज़ पैसा है किसी देश पर राज्य किया जाता है तो इसलिए कि महाजनों और पूँजीपतियों को ज्यादा नफा हो। इस दृष्टि से आज दुनियाँ में महाजनों का ही राज्य है। मानव समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो उन लोगों का है जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े सम्प्रदाय को अपने वश में किए हुए हैं। उन्हें उस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसीलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाएँ, खून भी गिराएँ और एक दिन चुपचाप इस दुनियाँ से विदा हो जाएँ।"[140]

ब्रिटिश साम्राज्य मे महाजनों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न होने के परिणामस्वरूप उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया था। ब्रिटिश शासन के पहले ग्रामीण समुदाय के प्रभाव के कारण महाजन किसानों से अनुचित सौदा नहीं कर पाते थे और ग्राम पंचायतें बकाया सूद आदि का न्यायपूर्ण ढंग से समाधान कर देती थीं। ब्रिटिश राज्य में यह संभव नहीं हो सका, क्योंकि एक ओर ग्राम समुदाय विखण्डित हुए वहीं महाजनों ने किसानों की आर्थिक विवशता का अनुचित लाभ उठाया।" दीवानी अदालतों की स्थापना और उनकी पेचीदा कार्यपद्धतियों ने किसानों के पक्ष को और भी निर्बल बना दिया। काम के अत्यधिक भार से दीवानी अदालतों के जजों ने कानून के शाब्दिक और कठोर प्रयोग को पसन्द किया। साधारणतया नगरवासी होने और गाँवों की स्थिति से अनभिज्ञ होने के कारण वे चालाक साहूकार के हाथों आसानी से खेलने लगते थे। एक दीवानी डिग्री के अन्तर्गत कर्ज़ की अदायगी के लिए रहन रखी

गई ज़मीन की बिक्री ब्रिटिश काल के पहले एक साधारण बात थी, परन्तु अब यह *आम बात हो गई।*"[141]

ऋणों के सूद के अतिरिक्त महाजन अप्रत्यक्ष रूप से भी किसानों का आर्थिक शोषण करते हैं। 'तगादा' कहानी में प्रेमचन्द लिखते हैं, "लहने का बाप तगादा है। इसी सिद्धान्त के वह (महाजन) अनन्य भक्त थे। जलपान के बाद संध्या तक वह बराबर तगादा करते रहते थे। इसमें एक तो घर का भोजन बचता था, दूसरे असामियों के माथे दूध, पूरी, मिठाई आदि पदार्थ खाने को मिल जाते थे। एक वक्त का भोजन बच जाना कोई साधारण बात नहीं थी। एक भोजन का एक आना भी रख लें, तो केवल इसी मद में उन्होंने अपने तीस वर्षों के महाजनी जीवन में कोई आठ सौ रुपये बचा लिए थे। फिर लौटते समय दूसरी बेला के लिए भी दूध, दही, तेल, तरकारी, उपले, ईंधन आदि मिल जाते थे। बहुधा संध्या का भोजन भी न करना पड़ता था।"[142] महाजनों की ऐसी ही मनोवृत्ति का वर्णन प्रेमचन्द ने 'बेटी का धन'[143] कहानी में भी किया है।

20वीं शताब्दी में "महाजन पूँजीवादी व्यवस्था की आवश्यक धुरी बन गया। कारण कि न केवल साहूकार की मदद के बिना मालगुजारी ज़मा नहीं हो सकती बल्कि आमतौर पर साहूकार सूद पर कर्ज़ देने के अलावा अनाज की खरीद और बिक्री भी करता है। जब फसल कटती है, तो किसानों की लगभग सारी उपज साहूकार खरीद लेता है। अक्सर वही फसल के शुरू में किसानों को बीज और हल, बैल आदि देता है। इसका हिसाब प्रायः किसानों को नहीं मालूम होता। नतीजा साहूकार गाँव का तानाशाह बन जाता है और किसान खेत मज़दूर।"[144] अंग्रेज़ी राज्य में "महाजनों का प्रभाव अनियन्त्रित रूप से बढ़ने लगा। महाजनों और किसानों के बीच संबंध, जो पारस्परिक समझौते पर निर्भर करता है, समय के साथ कानूनी रूप ग्रहण करने लगा। महाजन अमानवीय होकर किसान का शोषण करता पर तत्कालीन ग्राम्य व्यवस्था में उसका ऐसा महत्व स्थापित हो चुका था जिसकी उपेक्षा करना संभव नहीं था।"[145] 'गोदान' तक आते आते प्रेमचन्द ने ज़मींदारों को एक पतनशील शक्ति के रूप में वर्णित किया है जबकि महाजनों को कहीं भी कमज़ोर नहीं दिखाया है। महाजनों के चंगुल में होरी जैसा साधारण किसान भी है और राय साहब जैसा ज़मींदार भी।

धार्मिक शोषण

भारतीय किसान प्रकृति से धर्मभीरु रहा है। ईश्वर की न्यायप्रियता और दयालुता में उसका पक्का विश्वास होता है। प्रेमचन्द ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते। फिर भी उन्होंने किसानों की इस धर्मभीरु प्रकृति को उनका रूढ़िवाद कहकर उनकी हँसी नहीं

उड़ाई है। "हालाँकि अपनी धर्मभीरुता के हाथों ही वह लुटता है, लेकिन इसी कारण अन्याय से उसे घृणा भी होती है। अन्यायी को दंण्ड देने का कार्य ईश्वर का है और वह भाग्य पर भरोसा करके संतोष धारण कर लेता है। प्रेमचन्द ने किसानों की इस प्रकृति की आलोचना भी की है, फिर भी उनकी रचना का मुख्य बिन्दु उन लोगों की आलोचना करना रहा है जो किसान की इस प्रकृति की आड़ में शोषण करते हैं।"[146] धर्म का सहारा लेकर भी किसानो का शोषण किया जाता है। 'कर्मभूमि' के किसान ही महन्तजी के अपव्ययों का मुख्य आधार है। इन महात्माओं के वैभव का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं कि "संध्या का समय था। महन्त जी सोने की कुर्सी पर बैठे हुए थे जिस पर मखमली गद्दा था। उनके इर्द-गिर्द भीड़ लगी हुई थी। कहीं बड़ी-बड़ी कड़ाहियों में पूरियाँ-कचौरियाँ बन रही थीं, कहीं भाँति-भाँति की शाक-भाजी पड़ी हुई है, कहीं दूध उबल रहा है, कहीं मलाई निकाली जा रही है।"[147] यदि महन्त जी किसानों का लगान माफ कर देते, तो यह वैभव कहाँ सम्भव था?

प्रेमचन्द ने किसानों के शोषकों की श्रेणी में किसानों की भाग्यवादी मनोवृत्ति को भी रखा है। जैसे 'गोदान' का होरी एक भाग्यवादी किसान है जो अपनी निर्धनता के लिए परिस्थितियों अथवा शोषण को नहीं वरन् अपने भाग्य को दोषी मानता है। वह अपने बेटे गोबर से कहता है कि "छोटे-बड़े भगवान के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कार्य किए थे, उसका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं रचा, तो भोगे क्या?"[148] जबकि गोबर का यह मानना है कि यह भजन भाव और दान-धर्म मज़दूरों और किसानों के बल पर होता है। "यह पाप का धन पचे केसे? इसीलिए दान-धर्म करना पड़ता है। कोई हमें दोनों जून खाने को दे, तो हम आठों पहर भगवान का जाप ही करते रहें। एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े तो सारी भक्ति भूल जाएँ।"[149]

यह धार्मिक मनोवृत्ति उस समय विकराल हो जाती है जब सूदखोर ब्राह्मण होता है, क्योंकि तब धर्म उसके लिए ब्रह्मास्त्र के समान उपयोगी साबित होता है। 'सवा सेर गेहूँ' में शंकर रुपये देने में आनाकानी करता है तो विप्रजी कहते हैं, "यहाँ न दोगे, भगवान के घर तो दोगे?"[150] परिणामस्वरूप शंकर सवा सेर गेहूँ के बदले साठ रुपये देने और जीवन भर की गुलामी करने को तैयार हो जाता है। इसी प्रकार 'गोदान' मे पंडित दातादीन धर्म की दुहाई देते हुए कहता है, "मैं ब्राह्मण हूँ, मेरे रुपये हजम करके तुम चैन न पाओगे। अगर मैं ब्राह्मण हूँ , तो अपने पूरे दो सौ रुपये लेकर दिखा दूँगा। और तुम मेरे द्वार पर आओगे और हाथ बाँधकर दोगे।"[151] "ब्राह्मण के रुपये। उसकी एक पाई भी बच गई तो हड्डी तोड़कर निकलेगी। भगवान न करे किसी पर उसका कोप गिरे। वंश में कोई चुल्लू भर पानी देने वाला, घर में दीया

जलाने वाला भी नहीं रहता।"[152] इस प्रकार होरी धर्म के आगे पराजित हो जाता है और यही धर्मात्मापन उसकी दुर्गति का कारण बनता है। "प्रेमचन्द ने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि धर्म महाजनी शोषण का बड़ा भारी रक्षक है, इसी कारण प्रत्येक महाजन धर्म की रक्षा में खड़ा मिलता है। पुनर्जन्म का संस्कार उसके तगादे का सबसे विश्वसनीय सहयोगी है।"[153]

धर्म की तरह बिरादरी भी किसान का शोषण करती है। 'गोदान' में गोबर और झुनिया के संबंध से बिरादरी को एतराज है। होरी झुनिया को अपने घर में आश्रय देता है। बिरादरी के पंचों ने होरी पर डांड लगा दी। उसे सौ रुपये नकद और तीस मन अनाज देना था। इसके लिए होरी ने अपना घर गिरवी रखा और खलिहान की सारी उपज भी दे दी। "बिरादरी का भय था कि अपने सिर पर लादकर अनाज ढो रहा था, मानो अपने हाथों अपनी कब्र खोद रहा हो। ज़मींदार, साहूकार, सरकार, किसका इतना रोब था? कल बाल बच्चे क्या खाएँगे, इसकी चिन्ता प्राणों को सोख लेती थी, पर बिरादरी का भय पिशाच की भाँति सिर पर सवार अकुंश दिए जा रहा था।"[154] यह किसानों की सरलता ही है कि वह पंचों को परमेश्वर मानते हैं और उसकी न्यायप्रियता में उन्हें अटूट विश्वास है।

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में किसान के आन्तरिक शोषक को सामूहिक रूप में वर्णित किया है अर्थात उसके शोषक तो कई हैं, लेकिन किसानों पर उसका सामूहिक प्रभाव पडता है। धर्म, महाजन और ज़मींदार अन्ततः एक स्थान पर मिल जाते हैं। यह तीन होते हुए भी एक ही सामन्ती शोषण के प्रतीक हैं। एक ही शोषक विभिन्न शोषकों की भूमिका निभाते हैं — प्रेमचन्द ने इस शोषण के लिए सम्पूर्ण शोषण तन्त्र को उत्तदायी बताया है। उन्हें कानून भी सुरक्षित नहीं कर पाता है। वास्तव में "कानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है। कानून तो है कि महाजन किसी आसामी के साथ कड़ाई न करे, कोई ज़मींदार किसी काश्तकार के साथ सख़्ती न करे, मगर होता क्या है, रोज़ ही देखते हो। ज़मींदार मुस्कें बँधवा के पिटवाता है और महाजन लात़ और जूते से बात करता है। जो किसान पोढ़ा है, उससे न ज़मींदार बोलता है न महाजन। ऐसे आदमियों से हम मिल जाते हैं और उनकी मदद से दूसरे आदमियों की गर्दन दबाते हैं। कचहरी-अदालत उसी के साथ है, जिसके पास पैसा है। हम लोगों को घबराने की कोई बात नहीं।"[155]

औपनिवेशिक शोषण

निःसन्देह प्रेमचन्द ने इस शोषण तन्त्र में ब्रिटिश भारतीय सरकार को मुख्य आधार के रूप में वर्णित किया है। कहीं-कहीं तो प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने अंग्रेज़ी सरकार की

आर्थिक नितियों का भी भारतीय किसानों का प्रतिद्वन्द्वी बताया है। जैसे 'प्रेमाश्रम' में वह बताते हैं कि सरकार केवल भारी भरकम लगानों के माध्यम से किसानों का शोषण करती है। "शुरू-शुरू में, मुमकिन है कि किसानों का गुस्सा पहले साहूकार पर फूटे, लेकिन बहुत जल्द किसानों को मालूम हो जाता है कि साहूकार के पीछे साम्राज्यवाद की पूरी ताकत खड़ी है। साहूकार शोषण व्यवस्था का एक ऐसा पुर्ज़ा है, जो खास उस जगह काम करता है जहाँ उत्पादन होता है, और जिसके बिना यह पूरी मशीन काम नहीं कर सकती।"[156] 'हम लोगों से आने सेर घी लिया जाता है। दूध और दही का तो दाम ही नहीं मिलता'[156.1] सरकार शोषक वर्ग की प्रमुख समर्थक थी जिसके पास कानून था, पर न्याय नहीं। "सरकार ने देहातों की उन्नति के लिए विशेष कर्मचारी नियुक्त किए थे जो अपना उत्तरदायित्व भूलकर अपनी स्वार्थपूर्ति में लगे हुए थे।[157] सरकार अपने शोषण को एक नेटवर्क के माध्यम से प्रभावशाली बनाती थी जिसमें प्रशासनिक अधिकारियों के साथ-साथ उच्च श्रेणी के परम्परागत ग्रामीण अधिकारी भी शामिल होते थे। सुविधा के लिए और वास्तविकता को जाने बिना यह सम्पूर्ण शोषणकारी औपनिवेशिक ढाँचे का समर्थन करते हैं।[158] इस प्रकार यह दोनों ही शोषणकारी व्यवस्था में आपसी समायोजन के साथ काम करते हैं।

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में साम्राज्यवाद को ठोस और अनुभवगत रूप में उपस्थित किया है। इस प्रक्रिया में उन्होंने हाकिम, कचहरी, पुलिस और तहसील की कार्यपद्धति को चित्रित किया है। अंग्रेज़ इन्हीं के माध्यम से किसानों का शोषण करते थे।[159] सरकारी कर्मचारियों की सत्ता 'बारहमासी' होती थी। प्रेमचन्द ने इस वर्ग के प्रति खुला क्षोभ प्रकट किया था। "उनके विचार में इनके शासन से मुक्ति पाना उतना ही आवश्यक था जितना विदेशी शासन से।"[160] लेकिन यह राजकर्मचारी 'माध्यम' मात्र नहीं थे, बल्कि इनका भी अपना अलग अस्तित्व था। प्रेमचन्द ने इनकी दोहरी और जटिल भूमिका को स्पष्ट किया है। उन्होंने यह दिखाया है कि सहृदय और मानवीय राजकर्मचारी भी इस व्यवस्था में अत्याचार करने के लिए बाध्य थे। 'प्रेमाश्रम' में न्यायप्रिय दयालु ज्वालासिंह को शीघ्र ही यह आभास हो गया कि "बिना कड़ाई के मैं सफलता के साथ अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता।"[161] "यदि कोई किसानों के हित की बात कह भी देता तो वह बागी और विश्वासघाती कहलाता और दंडित होता।"[162]

प्रेमचन्द ने केवल उन्हीं सरकारी कर्मचारियों का वर्णन किया है जिनका किसानों से प्रत्यक्ष संबंध रहता था। जैसे — हाकिम, तहसीलदार, पुलिस और चपरासियों की एक विस्तृत श्रृंखला। "प्रतिवर्ष कार्तिक मास के बाद परगनों की स्थिति जानने के लिए हाकिमों के दौरे होते थे। लेकिन यह दौरे कम और लूट अधिक

होती थी। वह किसानों को बेगार के लिए विवश करते और मुफ्त न सही पर रियायती दरों पर सामान देने की अपेक्षा करते थे। उनके काफिले में कम-से-कम सौ आदमियों के अतिरिक्त घोड़े भी होते थे। प्रेमचन्द ने हाकिमों के इन दौरों को ग्रामीणों के विशद शोषण के रूप में वर्णित किया है।"[163] "जितना खा सकते हैं, खाते हैं, बार-बार खाते हैं, और जो नहीं खा सकते, वह घर भेजते हैं। घी से भरे हुए कनस्तर, दूध से भरे हुए मटके, उपले और लकड़ी, घास और चारे से लदी हुई गाड़ियाँ शहरों में आने लगती हैं।"[164] किसानों को हाकिम से ज्यादा उसके मातहतों के अत्याचारों को सहना पड़ता था। उनके लिए हाकिम का चपरासी यम के दूत से कम भयावह नहीं होता। 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि, 'गबन', 'गोदान', 'कायाकल्प', जैसे उपन्यासों और अनेक कहानियों में प्रेमचन्द ने ब्रिटिश नौकरशाही के शोषण का वर्णन किया है।

हाकिम के मातहत तहसीलदार और कानूनगो भी हाकिम के अत्याचारों में बराबर के भागीदार होते हैं। वह जहाँ बेगार लेने में अपना योगदान देते वहीं किसानों को तकावी ऋण देने में तहसीलदार किसानों से भारी धन घूस के रूप मे प्राप्त करते हैं। कानूनगो पटवारी का, जो उसका अधीनस्थ होता है, वेतन गायब कर स्वयं को इस भ्रष्ट तन्त्र में कहीं भी कमज़ोर नहीं पड़ने देते हैं।"[165] इस प्रकार यह सभी किसानों के प्रत्यक्ष शोषक होते थे।

किसानों के अप्रत्यक्ष शोषकों में प्रेमचन्द ने कचहरी जैसी संस्था का वर्णन किया है। इसमें न्यायाधीश, वकील से लेकर अमले के सभी कर्मचारी शामिल हैं। 'नमक का दारोगा' कहानी में "पंडित आलोपीदीन इस अगाध वन (कचहरी) के सिंह थे। अधिकारी वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील मुख्तार उनके आज्ञापालक और अरदली चपरासी और चौकीदार उनके बिना मोल के गुलाम थे।"[166] इन सरकारी अदालतों में न्याय केवल धनी लोगों के लिए था। छोटी-छोटी बातों के लिएं स्टाम्प, नज़र-नज़राना देना होता था, जो गरीबों के लिए संभव नहीं था। "यह अदालतें सबलों की पोषक थीं औंर सरकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रजा का आर्थिक शोषण करती थीं। लोभ और स्वार्थ ही विद्वता के लक्षण थे। यह ज़माने की खूबी है।" 'संग्राम' कहानी का हलधर इस कटु सत्य को स्वीकार करता है।[167] प्रेमचन्द ने इस न्यायव्यवस्था का वर्णन 'ईश्वरीय न्याय', 'पंच परमेश्वर', 'गबन', 'प्रेमाश्रम' आदि में किया है।

इनके अतिरिक्त शोषण तन्त्र में पुलिस भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किसानों के लिए पुलिस दमन का ही नाम है। झूठे मुकदमे बनाकर किसी को फँसा देना पुलिस के बाएँ हाथ का खेल है। ऐसा ही कुछ 'प्रेमाश्रम' में गौस खाँ की हत्या

के संबंध में हुई तफतीश में वर्णित किया गया है। दारोगा कहता है — "मैं दयाशंकर नहीं हूँ, मेरा नाम नूरआलम है। चाहूँ तो खुदा को भी फँसा दूँ।"[168] इसी प्रकार 'गोदान' के थानेदार पंचों को धमकाते हुए कहता है। "तुमने अभी अंधेर नहीं देखा। कहो तो वह भी दिखा दूँ। एक-एक को पाँच-पाँच साल के लिए भिजवा दूँ। यह मेरे बाएँ हाथ का खेल है। डाके में सारे गाँव को काले पानी भिजवा सकता हूँ। इस धोखे में न रहना।"[169] और इसी डाके के बहाने तहकीकात करने पहुँची पुलिस रिश्वत लेती है। प्रेमचन्द ने 'उपदेश' कहानी में पुलिस की इस सामान्य प्रकृति का वर्णन किया है। वहीं 'कर्मभूमि' में आकाल के बावजूद लगान वसूली का काम पुलिस के बल पर किया जाता है। "पुलिस की इन करतूतों के कारण ही भारतीय किसान सिपाही से जितना डरता है, उतना शैतान से भी नहीं डरता। उसके इस आतंक के विरुद्ध प्रेमचन्द का साहित्य घृणा और क्रोध का भाव जाग्रत करता है।"[170] 'बढ़े जमींदारों के मुख्तार और छोटे-छोटे ज़मीदार खुद गरीब काश्तकारों को लूटने में पुलिस के सहायक बनते हैं।'[170.1] सरकारी लश्कर को बेगार में दूध देने के खिलाफ अकेले ही संघर्ष करता है। वह अकेले जाकर डिप्टी कमिश्नर से अपना विरोध जाहिर करता है। पुलिस गाँव में आकर बलराज को झूठे इल्ज़ाम में गिरफ्तार करने के लिए उसकी मुश्कें बाँधने लगती है, तो इस पुलिस जुल्म के खिलाफ बलराज के पिता के अतिरिक्त कोई संघर्ष नहीं करता। यद्यपि कादिर के समझाने पर गाँव के सभी किसान बलराज के पक्ष में गवाही देते हैं, लेकिन यह सुबह की बात है। उसी शाम वह पुलिस के दबाव में आकर अपने बयान को बदलने को राज़ी हो जाते हैं।

वास्तव में अंग्रेज़ी सरकार भू-राजस्व व्यवस्था और अत्यधिक लगान जैसे शस्त्रों से किसानों का शोषण करती थी। यद्यपि तहसीलदारों और बजट बनाने वाले सरकारी राजनेताओं के लिए ऐसी व्यवस्था सुविधाजनक मालूम पड़ सकती है, जिसमें एक ही साथ पैंतीस बरस की अवधि के लिए समरूप अंक पर नकद राशि के रूप में कर निर्धारण होता था। लेकिन जिन्हें अनिश्चित आय से निश्चित धनराशि देनी होती थी, उनके लिए यह व्यवस्था बुरे वर्षों में बर्बादी लाई और इसके चलते इन अत्यधिक भूमिकरों के अतिरिक्त किसानों को अन्य कर भी देने होते थे। "1857-58 में एकत्र किया गया कुल भू-राजस्व 15.3 लाख पौंड़ था जो 1936-37 में बढ़कर 23 लाख पौंड हो गया था"[171] इसी प्रकार यह भूमि कर बढ़ता गया। "मद्रास, बंगाल और संयुक्त प्रान्तों में लगान की राशि दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती जा रही थी।"[172]

इस प्रकार "औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवाद जो-जो काम करता है, वे सारे काम भारत में बड़ी बेरहमी के साथ और बड़े मुकम्मिल ढंग से किए गए। किसान ज़मीन के मालिक नहीं रहे, बल्कि लगान देकर दूसरों की ज़मीन पर खेती करने वाले

काश्तकार बन गए। किसानों का एक बढ़ता हुआ हिस्सा भूमिहीन खेत मज़दूरों में या ग्रामीण सर्वहारा के नए वर्ग में शामिल होता गया, और यहाँ तक कि खेती पर निर्भर रहने वाली आबादी का एक तिहाई से ज्यादा भाग खेत-मज़दूर बन गया।"[173] मार्क्स ने कहा, "इन छोटे-छोटे, आर्थिक संगठनों को छिन्न-भिन्न करने के लिए अंग्रेज़ों ने भारत में शासकों और ज़मींदारों के रूप में अपनी प्रत्यक्ष राजनीतिक और आर्थिक ताकत दोनों का एक साथ इस्तेमाल किया।"[174] इस प्रकार सामन्तवादी और पूँजीवादी दोनों ही समाजों में किसानों का शोषण होता है, लेकिन "उपनिवेशवादी व्यवस्था में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषण करता है, केवल किसानों का ही शोषण नहीं करता। चूँकि उपनिवेशों में किसान ही ज्यादा रहते हैं, अतः किसान का शोषण राष्ट्रीय शोषण के रूप में सामने आता है।"[175] "उन अभागों पर पुलिस, ज़मींदार में ताल्लुकेदार सेठ साहूकार तथा हरेक अधिकारी का खुला जुल्म ज्यों का त्यों जारी है।"[176]

निष्कर्ष

प्रेमचन्द की लगभग सभी रचनाओं में कृषक जीवन के प्रत्येक पहलू का विस्तृत अथवा आंशिक वर्णन मिलता है और सभी में वह किसानों के प्रति आत्मीय दृष्टिकोण अपनाते हैं। लेकिन कभी-कभी उन्होंने किसानों के प्रति अपने आत्मीय क्रोध को भी प्रकट किया है। "एक बार प्रेमचन्द, शिवरानी देवी और जैनेन्द्र कुमार बनारस से लमही रवाना हुए, सामान काफी था। सारनाथ में सड़क पर सामान रख दिया गया और प्रेमचन्द किसी मजदूर को लाने गए। मजदूर तो थे नहीं, अतः अपने 'प्रिय' किसानों के पास गए। लेकिन किसानों का गौरव मजदूरी की अनुमति नहीं देता था। प्रेमचन्द बोले, "देखो जैनेन्द्र धेली-रुपया हाथ लग ही जाता। गाँव होगा एक मील या बहुत से बहुत डेढ़ मील। पर जाहिलों को समझ हो तब ना।"[177] यद्यपि प्रेमचन्द की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि वह स्वयं किसानों की इस मनोवृत्ति से परिचित थे कि किसान मज़दूरी न करने का भरसक प्रयास करता है। यदि शोषण के चलते उसका सब कुछ छिन जाएगा, तब वह विवश होकर एक आने रोज़ पर ही मज़दूरी करेगा। जैसे 'गोदान' का होरी।

यह भारतीय किसानों की विडम्बना है कि वह भूमि को मात्र अपनी जीविका का साधन नहीं बल्कि अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक मानते हैं और हर हाल में उसे बचाना चाहते हैं। जैसे 'प्रेमाश्रम' का अंधा भिखारी सूरदास। परिणामस्वरूप वह ऋणों के चक्र में फँस जाते हैं। प्रेमचन्द को शायद इसका व्यक्तिगत अनुभव था कि किसानों को अपने खेत और उसकी फसल से अत्यधिक लगाव होता है।

मुक्तिमार्ग कहानी में वह लिखते हैं, "सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहलहाते हुए देखकर होता है।"[178] "भारतीय किसान प्रायः लाभ और प्रतिफल के लिए नहीं, वरन् जीवन-निर्वाह के लिए खटता था। भूमि की अतिसंकुलता और जीवन निर्वाह के वैकल्पिक साधनों एवं अपनी दुर्दशा से बचने के उपायों की कमी इन सबके कारण कहीं भी, किसी भी शर्त पर फसल उगाने को किसान लाचार था। खाद्य सामग्री के लिए उसे ज़मीन की जरूरत थी और ज़मीन के लिए उसे महाजन की मिन्नत करनी पड़ती थी। यद्यपि जितनी उसकी चल अचल सम्पत्ति है उससे अधिक उस पर महाजन का ऋण रहता है। जहाँ उसकी ज़मीन महाजन के हाथ में चली गई है, वहाँ किसी भी कानून से उसकी जरूरतें पूरी नहीं हो सकतीं, काश्तकारी का कोई भी कानून उसकी रक्षा नहीं कर सकता था।"[179] "किसानों के पास जो थोड़ी सी ज़मीन थी वह उसकी बेदखली से डरते थे। ऐसा कहा जाता है कि नए कानून ने किसानों की बेदखली को मुश्किल कर दिया था। लेकिन व्यावहारिक रूप से सभी जानते थे कि इन कानूनों की कोई उपयोगिता नहीं है।"[180]

"हर कोई जानता है कि प्रेमचन्द ने समाज के सभी वर्गों की अपेक्षा किसानों के चित्रण में सबसे अधिक सफलता पाई है। वे हर तरह के किसानों को पहचानते थे, उनके विभिन्न आर्थिक स्तर, उनकी विभिन्न विचारधाराएँ, उनकी विभिन्न सामाजिक समस्याओं अर्थात् वे किसान जीवन के हर कोने से परिचित थे। जैसी उनकी जानकारी साधारण थी वैसा ही किसानों से उनका स्नेह भी गहरा था। किसानों के सम्पर्क में आने वाली शोषण की जंगी मशीन के हर कल पुर्जे से वे वाकि थे।"[181] प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं के माध्यम से किसी हद तक किसानों को यह संदेश देने का प्रयास किया है कि "अन्याय का विरोध न करना कायरता है। प्रेमचन्द के किसान देवता नहीं हैं, वे मनुष्य हैं। उनमें कमजोरियाँ हैं वे उससे लड़ते हैं। कभी जीतते हैं, कभी हारते हैं।"[182]

प्रेमचन्द ने किसानों की दयनीयता स्वाभाविक वर्णन करते हुए लिखा कि उनकी "हड्डियाँ निकली हुई हैं। वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता का जीवित चित्र हैं। केसे भाग्यहीन हैं कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलतीं।"[183] "आपको खोजने से भी हृष्ट-पुष्ट आदमी न मिलेगा, न किसी की देह पर मांस है न कपड़ा। मानो चलते-फिरते कंकाल हों।"[184] ऐसी परिस्थितियों में किसानों के अत्याचार सहने की भी एक सीमा होती है, विशेषरूप से जब उनका चारों ओर से शोषण हो रहा हो। इनसे केवल दो ही तरह से मुक्ति मिल सकती थी — या तो किसानी का काम छोड़ दिया जाय और मज़दूरी की जाय या विद्रोह करने के लिए तैयार हो जाएँ।

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में दोनों ही विकल्पों का प्रयोग किया है। संक्षेप में, प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों की आर्थिक दुर्दशा का यथार्थ चित्रण करते हुए उन सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है जो उनकी दुर्दशा के लिए उत्तरदायी थे। हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचन्द का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि उन्होंने अपनी कहानियों, उपन्यासों और लेखों में भारतीय किसानों की परिस्थितिजन्य विवशता को पूर्णतया उभार दिया है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. 'प्रेमचन्द और ग्राम समस्या' प्रेमनारायण टंडन, पृ. 02-03
2. 'प्रेमचन्द साहित्य में ग्राम्य जीवन' डॉ. सुभद्रा, पृ. 14
3. 'प्रेमचन्द और भारतीय किसान' पृ. 78
4. कमर रईस 'प्रेमचन्द की विचार यात्रा' पृ. 03
5. प्रेमनारायन टंडन, पृ. 04
6. 'प्रेमचन्द घर में', शिवरानी देवी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1956ए पृ. 32
7. 'स्वराज्य से किसका अहित होगा'? अप्रैल, 1930 'हंस' में प्रकाशित प्रेमचन्द का लेख,
8. रामबक्ष, पृ. 115.
9. वही, पृ. 177.
10. इन्द्रनाथ मदन, 'प्रेमचन्द', पृ. 105 — "He is the greatest Indian writer who has intemately studied the life of the peasant & portrayed it with such powerful imagination and wonderful art that it stanos$ supreme in the history of Hindi fiction".
11. 'हतभागे किसान' सम्पादकीय, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-8, पृ. 214-215
12. रामबक्ष, पृ. 89.
13. रंगभूमि, पृ. 177.
14. प्रेमनारायन टंडन, पृ. 14-15.
15. 'प्रेमाश्रम', पृ. 251.
16. 'गोदान', पृ. 251.
17. 'प्रेमाश्रम', पृ. 277.
18. 'गोदान', पृ. 151.
19. ए.आर. देसाई, रिपोर्ट ऑफ इंडियन स्टेचुटरी कमीशन', पृ. 46.
20. एस. गोपाल, सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं नेहरू, भाग-1, पृ. 211.
21. रामविलास शर्मा, पृ. 81.

22. 'प्रेमाश्रम', पृ. 163.
23. रामबक्ष, पृ. 74.
24. 'कर्मभूमि', पृ. 235.
25. 'प्रेमाश्रम', पृ. 185.
26. ए.आर. देसाई, पृ. 56.
27. रामविलास शर्मा, पृ. 50-57.
28. 'सुजान भगत', कहानी, मई 1927 'माधुरी में प्रकाशित रचनावली, भाग-13, पृ. 385.
29. 'गोदान', पृ. 101.
30. रामविलास शर्मा, पृ. 111-112.
31. 'गोदान', पृ. 01.
32. ए.आर. देसाई, पृ. 45-46.
33. मदन, पृ. 98-100.
34. प्रेमनारायन टंडन, पृ. 119.
35. 'पूस की रात', 1930 में प्रकाशित प्रेमचन्द रचनावली, भाग-14.
36. 'सवा सेर गेहूँ', 1924 में प्रकाशित प्रेमचन्द रचनावली, भाग-13, पृ. 14.
37. 'गोदान', पृ. 309.
38. रिपार्ट ऑफ प्राँवेंशियल बैंकिंग इंक्वायरी', पृ. 48.
39. 'गोदान', पृ. 190-91.
39.1 'किसानों की शिक्षा', माधव राव सप्रे का लेख, 'सरस्वती', जून 1917.
40. देसाई, पृ. 60.
41. 'निरक्षरता की दुहाई' लेख, फरवरी 1934 'जागरण' में प्रकाशित लेख रचनावली, भाग-09, पृ. 57.
42. 'गोदान', पृ. 529.
43. 'सायमन कमीशन रिपोर्ट', भाग-1, पृ. 45-46. "The Vast Majority of Peasants lives in debt to the moneylander."
44. 'मेरी आत्मकथा', पंडित नेहरू, पृ. 58.
45. 'गोदान', पृ. 324.
46. उल्यानोवस्की, 'भारत का सामाजिक आर्थिक इतिहास' 1979, पृ. 18.
47. 'गोदान', पृ. 529.
47.1 'गाँवों में होमरूल', 'अभ्युदय' में प्रकाशित लेख, 27 जुलाई 1917..
48. देसाई, पृ. 47.
48.1 बंगला पत्र 'सुलभ दैनिक' नवम्बर 1895.

49. वही, पृ. 44.
50. मार्च, 1930, 'माधुरी' में प्रकाशित लेख, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-13, पृ. 166.
51. 'कर्मभूमि', पृ. 235.
52. देसाई, पृ. 52-53.
53. प्रेमनारायन टंडन, पृ. 28.
54. देसाई, पृ. 50.
55. प्रेमनारायन, पृ. 29.
56. ए.आर. देसाई, पृ. 50. The Deccan Riots Commission', 'Bengal Provential Committee Report', and 'Committee on Co-operation in Madras Report'.
57. आर.पी. दत्त, 'आज का भारत' पृ. 224.
58. 'गोदान', पृ. 188-189.
59. वही, पृ. 310.
60. वही
61. ए.आर. देसाई, पृ. 43.
62. जेड.ए. अहमद. 'द एग्रेरियन प्राब्लम इन इंडिया', पृ. 3.
63. 'रिपोर्ट ऑफ कांग्रेस एग्रेरियन इंक्वायरी कमेटी', पृ. 28.
64. गोदान, पृ. 156
65. देसाई, पृ. 46-47.
66. 'कर्मभूमि', पृ. 313, 115, 293-94.
67. आर.पी. दत्त, 'भारत वर्तमान और भावी', पृ. 82.
68. सी.एन. वकील और एम.एच. पाटिल, 'स्टडीज़ इन इंडियन इकोनॉमिक्स', पृ. 80.
69. देसाई, पृ. 34.
70. 1935 में प्रकाशित नाटक 'संग्राम', पृ. 21.
71. जेड.ए. अहमद, पृ. 27.
72. वाडिया एंड मर्चेन्ट, 'अवर इकोनॉमिक प्राब्लम', पृ. 185.
73. जेड.ए. अहमद, पृ. 26-27.
74. 'कर्मभूमि', पृ. 366.
75. 'गोदान', पृ. 235.
76. धर्म कुमार, 'द केम्ब्रिज इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया', भाग-2 पृ. 879.
77. 'कर्मभूमि', पृ. 287.
78. 'जेल', कहानी, 1931 में प्रकाशित प्रेमचन्द रचनावली, भाग-14, पृ. 443.
79. देसाई, पृ. 44.

80. डॉ. रक्षापुरी, पृ. 248.
81. 'यू.पी. काउन्सिल में किसानों पर अन्याय', प्रेमचन्द रचनावली, भाग-9, पृ. 59.
82. 'पूस की रात' कहानी मई 1930 'माधुरी' में प्रकाशित, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-14, पृ. 350.
83. 'हतभागे किसान', दिसम्बर 1932, 'जागरण' में प्रकाशित लेख, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-8, पृ. 215.
84. 'इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू', जुलाई 1915, पृ. 27.
85. "आर.पी. दत्त, 'इंडिया टुडे', पृ. 184, यह एक सर्वविदित सत्य है कि देश की आबादी के तीन चौथाई लोगों का पेशा खेती है और वह खेती पर बहुत अधिक और बहुत बुरी तरह से आश्रित हैं। ब्रिटिश शासनकाल में कृषि पर अनानुपाती निर्भरता लगातार बढ़ती ही गई है।"
86. रामबक्ष, पृ. 178.
87. उल्यानोवस्की, पृ. 182, प्रेमनारायन टंडन, पृ. 122.
88. रामबक्ष, पृ. 58.
89. राधाकमल मुखर्जी, 'श्लैंड प्राब्लम इन इंडिया', पृ. 16-36.
90. रामबक्ष, पृ. 17, देसाई, पृ. 31.
91. आर.पी. दत्त. 'आज का भारत', पृ. 207.
92. 'प्रेमाश्रम', पृ. 648.
93. 'गोदान', पृ. 500-29.
94. रजनी पाम दत्त, 'भारत वर्तमान और भावी', पृ. 97-98.
95. वही, पृ. 98.
96. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ नेहरू', भाग-5, पृ. 107.
97. वही, भाग-3, पृ. 373-76
98. 'प्रेमाश्रम', पृ. 163
99. रामबक्ष, पृ. 181.
100. 'प्रेमाश्रम', पृ. 262.
101. वही, पृ. 86.
102. 'सेवासदन' पृ. 8-9.
103. 'बलिदान' कहानी 1918, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-12, पृ. 92-93.
104. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ नेहरू', भाग-5, पृ. 79, यह शिकायत पं. नेहरू ने 17 जून, 1931 में अपने एक पत्र में की। यह पत्र उन्होंने संयुक्त प्रान्त के राज्यपाल के सचिव, कुँवर जगदीश प्रसाद को लिखा था। यह शिकायत मुख्यतया इलाहाबाद, गोंडा, गोरखपुर और रायबरेली से सम्बन्धित थी।
105. 'प्रेमाश्रम', पृ. 57.

106 ए.आर. देसाई, पृ. 56. 'The Money landers are rich only because they exploit the Kisan and Impowerish him', 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ नेहरू', भाग-3, पृ. 366.
107. 'सायमन कमीशन रिपोर्ट', भाग-1, पृ. 340.
108. गीतान्जली पांडे, 'बिटवीन टू वर्ल्डः एन इनटेलेक्चुअल बायोग्राफी ऑफ प्रेमचन्द', पृ. 155.
109. 'गबन', पृ. 02.
110. राधाकमल मुखर्जी, लैंड प्राब्लम इन इंडिया', पृ. 110.
111. 'प्रेमाश्रम', पृ. 185.
112. वही, पृ. 289.
113. वही, पृ. 262.
114. 'उपदेश' कहानी, अप्रैल 1916, 'माधुरी' में प्रकाशित, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-13, पृ. 272.
115. 'प्रेमाश्रम', पृ. 50-52, 'पछतावा' कहानी, नवम्बर 1914, 'जागरण' में प्रकाशित, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-11, पृ. 331.
116. 'प्रेमाश्रम', पृ. 55.
117. रामबक्ष, पृ. 58.
118. 'पछतावा', प्रेमचन्द रचनावली, भाग-11, पृ. 331, 'गोदान', पृ. 184-252.
119. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ नेहरू', भाग-5, पृ. 79.
120. 'गोदान', पृ. 120, 156-57.
121. वही, पृ. 184.
122. डॉ. सुभद्रा, पृ. 51.
123. गोदान, पृ. 252.
124. वही, पृ. 186.
125. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ नेहरू', भाग-3, पृ. 373.
126. 'प्रेमाश्रम', पृ. 94.
127. वही, पृ. 55.
128. 'गोदान', पृ. 191.
129. रामबक्ष, पृ. 197.
130. आर.पी. दत्त, 'भारत-वर्तमान और भावी', पृ. 96.
131. 'गोदान', पृ. 9.
132. वही, पृ. 274.
133. 'संग्राम' नाटक, सरस्वती प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित।
134. 'गोदान', पृ. 86, 99.

135. वही, पृ. 182.
136. वही, पृ. 185.
137. रामबक्ष, पृ. 199.
138. 'गोदान', पृ. 87.
139. 'रिपार्ट ऑफ सेन्ट्रल बैंकिंग इंक्वायरी', पैरा 114.
140. 'महाजनी सभ्यता', 'प्रेमचन्द रचनावली', भाग-7, पृ. 511.
141. 'भारतीय अर्थशास्त्र', जाथर एण्ड बेरी, पृ. 289.
142. 'तगादा' कहानी, 1932, 'माधुरी' में प्रकाशित, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-15, पृ. 106.
143. 'बेटी का धन' कहानी 7 नवम्बर 1915, 'जमाना' में प्रकाशित, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-11, पृ. 364.
144. आर.पी. दत्त, 'भारत-वर्तमान और भावी', पृ. 96-97.
145. जाथर एण्ड बेरी, 'भारतीय अर्थशास्त्र', पृ. 291.
146. रामबक्ष, पृ. 200-201.
147. कर्मभूमि, पृ. 241-42.
148. गोदान, पृ. 30.
149. गोदान, पृ. 30-31.
150. 'सवा सेर गेहूँ' प्रेमचन्द रचनावली, भाग-13, पृ. 127.
151. 'गोदान', पृ. 184.
152. वही, पृ. 328.
153. रामबक्ष, पृ. 198.
154. 'गोदान', पृ. 108-109.
155. वही, पृ. 205
156. आर.पी. दत्त, 'भारत वर्तमान और भावी', पृ. 97.
156.1 'प्रताप', 7 मई 1917.
157. 'गोदान', पृ. 496, 'प्रेमाश्रम', पृ. 71.
158. गीतांजली पांडे, पृ. 151.
159. रामबक्ष, पृ. 186.
160. डॉ. रक्षापुरी, पृ. 52.
161. 'प्रेमाश्रम', पृ. 64.
162. कायाकल्प, पृ. 125, 'कर्मभूमि', पृ. 397.
163. 'प्रेमाश्रम', पृ. 185, 'कायाकल्प', पृ. 111, 'रंगभूमि', पृ. 243-44.
164. 'प्रेमाश्रम', पृ. 54.

165. वही, पृ. 10-11.
166. 'नमक का दारोगा', कहानी, सितम्बर 1913 में प्रकाशित, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-11, पृ. 298.
167. 'संग्राम' नाटक, पृ. 10-13, 'प्रेमाश्रम', पृ. 174.
168. 'प्रेमाश्रम', पृ. 193.
169. 'गोदान', पृ. 98.
170. रामबक्ष, पृ. 188.
170.1 'गाँवों में होमरूल', 'अभ्युदय' में प्रकाशित लेख, 27 जुलाई 1917
171. आर.पी. दत्त, 'इंडिया टुडे', पृ. 205.
172. राधाकमल मुखर्जी, पृ. 206.
173. आर.पी. दत्त, भारत वर्तमान और भावी, पृ. 88.
174. वही, पृ. 88.
175. रामबक्ष, पृ.. 178.
176. 'किसानों की कर्ज़ा कमेटी', सम्पादकीय, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-8, पृ. 367.
177. जैनेन्द्र, 'प्रेमचन्दः एक कृति व्यक्तित्व', पृ. 74-75.
178. 'मुक्तिमार्ग', कहानी 'प्रेमचन्द रचनावली', भाग-13, पृ. 32.
179. 'रिपोर्ट ऑफ रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर', 1928.
180. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ नेहरू', भाग-3, पृ. 373.
181. रामविलास शर्मा, पृ. 186.
182. वही, पृ. 54.
183. 'वरदान', पृ. 68.
184. 'हतभागे किसान' प्रेमचन्द रचनावली, भाग-8, पृ. 214

भारतीय किसानः समस्याएँ एवम् समाधान

प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों के सामाजिक, पारिवारिक और धार्मिक जीवन का ही नहीं वरन् उनकी आर्थिक जीवन पद्धतियों और उनसे संबंधित समस्याओं को भी अपनी रचनाओं-लेखों में महत्व दिया है। यह प्रेमचन्द की रचनाओं की विशिष्टता है कि उन्होंने किसानों की जिन समस्याओं को वर्णित किया, उसका उन्होंने यथासंभव समाधान भी बताने का प्रयास किया है यद्यपि औपनिवेशिक व्यवस्था में इन समाधानों को लागू किया जाना संभव नहीं है फिर भी यह एक सकारात्मक प्रयास था जिसके माध्यम से उन्होंने किसानों की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया, विशेषरूप से ब्रिटिश सरकार का।

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है, लेकिन साम्राज्यवादियों की दोषपूर्ण आर्थिक नीतियों के कारण जहाँ एक ओर कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ वहीं दूसरी ओर कृषि और उद्योगों का परम्परागत संबंध टूट गया था। परिणामस्वरूप भूमि पर दबाव बढ़ा और किसानों की आर्थिक स्थिति में अप्रत्याक्षित गिरावट आई। "भारत में प्रति चार व्यक्तियों में से तीन की जीविका खेती से चलती थी। इसके बावजूद यह बहुत ही निराशाजनक स्थिति में थी।" तत्कालीन कृषि की दुरावस्था के संबंध में कहा गया कि "भारत में दलित जातियाँ हैं और उन्हीं के समान दलित उद्योग भी हैं। दुर्भाग्य से कृषि उद्योग भी उन्हीं में से एक है।"[1]

कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय है, पर उसे नोचने वाले तो सब हैं। किसान को भूखों मारकर पैसे-पैसे के लिए महाजन का मुँह देखकर अपना जीवन काटना होता है।[2] "जिन दशाओं में उसे जीवन का निर्वाह करना पड़ता है, उनमें बड़े से बड़ा विद्वान भी सफल नहीं हो सकता उसमें सबसे बड़ी कमी संगठन की थी। किसान लाख साक्षर हो जाए, जब तक वह इन समुदायों (शोषकों) का मुकाबला नहीं कर सकता, उसका जीवन कभी सुखी न होगा।"[3] उसकी स्थिति 'पूस की रात' के हलकू और 'गोदान, के होरी जैसी हो जाएगी, जो रात दिन मेहनत-मज़दूरी कर इस आशा से तीन रुपये बचाता है कि जाड़ों के लिए कम्बल लेगा, लेकिन वह भी ज़मींदार द्वारा लगान के रूप में ले लिया जाता है अथवा 'गोदान' के होरी, जो अपनी सूक्ष्मतम अभिलाषा अर्थात् गाय खरीदने की इच्छा भी पूरी नहीं कर पाता।

ग्रामीण जीवन से प्रेमचन्द का बहुत निकट संबंध था। वह भारतीय किसानों के जीवन की उन विपत्तियों से पूर्णतया परिचित थे, जिनके मध्य वह जीवन व्यतीत करता है। प्रेमचन्द के साहित्य का पहला किसान चरित्र जून 1916 के 'ज़माना' में प्रकाशित कहानी 'पंच परमेश्वर' (इस कहानी का मूल नाम पंचायत था, जिसे महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'पंच परमेश्वर' नाम दिया था), में मिलता है, जो 1936 में 'गोदान' की रचना के साथ अपनी पूर्णता पर पहुँचा। "प्रेमचन्द ने हमेशा ही किसानों को प्राकृतिक विपदाओं और मानवीय अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने वाले एक वर्ग के रूप में वर्णित किया है। वह दमनात्मक प्रशासनिक तन्त्र, लालची भू-स्वामियों, निर्दयी पूँजीपतियों-महाजनों और पाखण्डी पुरोहितों के अत्याचारों के प्रत्यक्ष गवाह होते थे। यह सभी वर्ग असहाय किसानों को उनकी मृत्युपर्यन्त तक प्रताड़ित करते हैं।"[4] इतनी कठिनाइयों के बावजूद किसानों में कृषि उद्योग के प्रति विशेष लगाव था और खेती उनकी मर्यादा का प्रतीक थी। उसके बिना किसान का जीवन अपूर्ण था। वह उसके जीवन का अंश थी।[5]

किसानों की समस्याएँ

प्रेमचन्द ने 1916 के बाद अपनी लगभग सभी रचनाओं में किसानों से संबंधित विभिन्न समस्याओं को उठाया है। जैसे 'कर्मभूमि', जिसकी रचना सविनय अवज्ञा आन्दोलन के निलम्बन के समय की गई थी, में उन्होंने भूमि की समस्या, लगान में वृद्धि करने की समस्या, खेत मज़दूरों और गरीब किसानों के लिए ज़मीन की समस्या पर बल दिया है। इसी प्रकार 'गोदान' में कृषक निर्धनता, 'प्रेमाश्रम' में बेदखली की समस्या, 'पूस की रात' में, किसानों का मज़दूर वर्ग में परिवर्तन, 'सुजान भगत', में नए और पुराने किसानों की मनोवृत्ति का वर्णन किया है। 'मुक्तिमार्ग' और 'सवा सेर गेहूँ, दोनों ही कहानियों, इनकी रचना 1924 में हुई थी, में प्रेमचन्द ने किसानों की समस्याओं के प्रति नैतिक चिन्ता प्रकट की है। इसके अतिरिक्त 1932 में उन्होंने किसानों की वास्तविक समस्याओं के प्रति विशेष ध्यान देते हुए कई लेख और टिप्पणियाँ भी लिखीं —'आराज़ी में चकबन्दी' (1932), 'किसानों की कर्ज़ कमेटी' (1932), 'हतभागे किसान' (1932)। इसके माध्यम से उन्होंने किसानों की समस्याओं की ओर शिक्षित समुदाय के साथ-साथ सरकार का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया।

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में किसानों की जिन समस्याओं का वर्णन किया उनमें प्रमुख हैं —

1. किसानों की अत्यधिक निर्धनता और कर्ज़ की समस्या।

2. इज़ाफा लगान की समस्या।
3. कृषि का वाणिज्यीकरण।
4. कृषि जोतों का छोटा आकार अर्थात् भूमि पर दबाव।
5. अधिकार प्राप्त समुदायों द्वारा किसानों का शोषण।
6. परम्परागत कृषि साधनों का प्रयोग।
7. किसानों की निरक्षरता एवं महँगी न्याय व्यवस्था।
8. सरकार द्वारा किसानों के हितों की उपेक्षा करना।
9. किसानों का सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक परम्पराओं में अटूट विश्वास।
10. भूमि पर गैर-काश्तकारों का स्वामित्व।
11. प्राकृतिक विपत्तियाँ।

"ऋण एक ऐसा मेहमान है जो कभी आकर जाने का नाम नहीं लेता। भारतीय किसान इस मेहमान की मेहमानदारी करता हुआ जीता है और मरता है।"[6]

"प्रेमचन्द ने 1930 के बाद ही गम्भीरता तथा विस्तारपूर्वक किसानों की ऋणग्रस्तता पर विचार किया। 'गोदान' के पहले कर्ज़ और ऋण को उन्होंने अपनी किसी रचना में विशेष महत्व नहीं दिया था। 1929 की आर्थिक मंदी के पहले किसान इस प्रकार के कर्ज़ में नहीं पिस पाए थे। 1929 और 1936 के बीच यह समस्या विकराल रूप धारण करती है। इस अवधि में किसानों की आय पहले से बहुत कम हो गई थी, आय का कोई अन्य स्रोत नहीं रह गया था और वे पिछले कर्ज़ को चुकाए बिना दूसरे तीसरे कर्ज़ लेने के लिए मज़बूर हो चुके थे।"[7]

यह भारतीय कृषि व्यवसाय की विशिष्टता थी। कि जो लोग देश को सम्पन्न बनाने का साधन थे वही विपन्नता में ऋणों के बोझ से दबे थे। "कर्ज़ ने 1901 में यहाँ की व्यक्तिगत आय का अनुमान तीस रुपये साल लगाया था।"[8] "1915 में एक दूसरे हिसाबदां ने इस अनुमान को पचास रुपये तक पहुँचाया और 1915 वह समय था जब यूरोपीय महाभारत ने चीज़ों का मूल्य बहुत बढ़ा दिया था। 1930 में वही हालत फिर हो गई जो 1901 में थी और हिसाब लगाया जाय तो आज (1932) हमारी व्यक्तिगत आय शायद पच्चीस रुपये से अधिक न हो, पर आज तक किसी ने किसानों की दशा की ओर ध्यान नहीं दिया और उनकी दशा आज भी वैसी है जो पहले थी। उनके खेतों के औज़ार, साधन, कृषि-विधि, कर्ज़, दरिद्रता सब कुछ पूर्ववत है।"[9] "पैदावार का मूल्य लागत और लगान से कहीं कम था। खाने कपड़े की गुंजाइश न थी, दूसरे खर्चों का क्या जिक्र। ऐसा कोई बिरला ही किसान था जिसका सिर ऋण के नीचे न

दबा हो।"[10] "प्रेमचन्द के किसानों की इच्छाएँ सीमित हैं। वे दो जून पेट भर खाना खाकर शान्तिपूर्वक 'मरजाद' (मर्यादा) से जीना चाहते हैं। सामान्य किसानों को न तो ज़मीन खरीदने की इच्छा है और न महल बनाने की। उनकी गरीबी ने उनकी इच्छाओं की भी नियन्त्रित कर दिया है।"[11] "जो किसान बहुत सम्पन्न समझे जाते थे उनके बदन पर भी साबित कपड़े न थे। उन्हें एक जून चबेना पर ही काटना पड़ता था। वह भी ऋण के बोझ से दबे हुए थे।"[12]

"ऋणग्रस्तता अथवा कर्ज़ भारतीय समाज की अनन्य समस्या है। आज स्थिति यह है कि किसानों में अस्सी प्रतिशत लोग अपनी मौजूदा जोत के बल पर अपना कर्ज़ कभी नहीं चुका सकेंगे।"[13] प्रेमचन्द साहित्य में आर्थिक विपन्नता का बहुत गहराई से वर्णन किया गया है, विशेष रूप से 'गोदान' में। 'गोदान' (1936) के रचनाकाल तक कर्ज़ की समस्या ने भारतीय गाँवों को जकड़ लिया था। गाँवों की ऋण संबंधी सूचनाओं के आधार पर यह कहा गया था कि — "सारे भारत के लिए हम कुल ग्रामीण-ऋण को 1,000 करोड़ मान सकते हैं।"[14] "यह एक अद्‌भुत संयोग था कि प्रेमचन्द ने किसानों के कर्ज़दार होने की समस्या को अपने जिस उपन्यास में उभारा था, उसकी रचना उस समय की गई थी जब वह स्वयं कर्ज़ में डूबे थे और बम्बई में रहते थे। सम्भवतः इसीलिए 'गोदान' की मूल समस्या 'ऋण की समस्या' है। अभी तक कर्ज़ की समस्या पर उन्होंने विस्तार से कोई उपन्यास नहीं लिखा था। 'गोदान' लिखकर उन्होंने किसान की उस समस्या पर प्रकाश डाला जो आए दिन उनके जीवन को सबसे ज्यादा स्पर्श करती है।"[15] "बैवाय फटे पैरों को पेट में डालकर और हाथों को जाँघों के बीच दबाकर और कम्बल में मुँह छिपाकर अपनी ही गर्म सांसों से अपने को गर्म करने की चेष्टा कर रहा था। जीवन में ऐसा तो कोई दिन ही नहीं आया कि लगान और महाजन को देकर कुछ बचा हो।

कर्ज़ की समस्या एक ऐसी समस्या थी जो कृषक जीवन का पर्याय बन चुकी थी। वह अनिश्चित सूद की दर पर कर्ज़ लेते थे। महाजन जो तत्कालीन ऋण-व्यवस्था के प्रमुख आधार थे, ब्याज लेते समय ईमानदारी से काम नहीं करते थे। अतः सूद मूल से भी दुगुना-तिगुना हो जाता था और मूल ज्यों का त्यों रहता। "किसान कर्ज़ लेते समय अथवा चुकाते समय किसी प्रकार की लिखा पढ़ी नहीं करता था। इसलिए कर्ज़ चुकाने के बाद भी रकम उनके नाम पर लिखी रहती।"[17] अधिकतर ज़मींदार लगान की अदायगी की रसीद नहीं देते थे।[18] "ऋण वह अतिथि है जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।"[19] यू.पी. कांग्रेस के एक वरिष्ठ नेता ए. नंदी ने 1898 में लिखा कि "वस्तुतः आज कृषक ही भारत है अर्थात् भारत व्यावहारिक रूप से किसानों का ही देश है और यदि किसानों की स्थिति दयनीय है तो अवशिष्ट अन्य

भौतिक प्रगति का कोई मूल्य नहीं। यह देखकर केसे संतोष किया जाय कि ऋण देने वाले साहूकार निर्धनों के दुर्भाग्य से लाभ उठा रहे हैं।"[20]

किसानों पर ऋणों का भार बढ़ा, क्योंकि उनकी आय का एकमात्र साधन खेती था। यह स्थिति आर्थिक मन्दी के दौरान और भी भयानक हो गई थी। "मंदी के कारण बेचारे तबाह हो गए हैं। महँगी के जमाने में जो कर्ज़ लिया गया था, वह सस्ती के जमाने में नहीं पटाया जा सकता।"[21] अतः जीवन निर्वाह और लगान अदायगी के लिए उसने पुनः कर्ज़ लिए। इस प्रकार वह कर्ज़ लेने के आदी हो गए थे, जो उनकी सभी समस्याओं का बुनियादी कारण बना।

"संयुक्त प्रान्त के सहकारी विभाग के अनुसार साठ से अस्सी प्रतिशत किसान साधारणतया ऋणों में डूबे हैं।"[22] संभवतः "गाँव वालों को लेन-देन का कुछ ऐसा शौक था कि जिसके पास दस-बीस रुपये जमा हो जाते, वही महाजन बन बैठता।"[23] "अधिकांश कर्ज़ों की परिणति या तो पीढ़ी दर पीढ़ी 'बंधुआ मजदूरी' के रूप में होती थी या सूद और मूल के बदले भूमि महाजनों और सट्टेबाजों के हाथ में पहुँच जाती थी, और किसान भूमिहीन होकर खेत मज़दूर अर्थात् भूमिहीन सर्वहारा हो जाता था।"[24] क्योंकि उस समय तक किसान को कर्ज के बोझ से हल्का करने की समस्या किसान-आन्दोलन का मुख्य अंग न बन पाई थी।"[25]

ब्रिटिश शासकों द्वारा लागू की गई भू-राजस्व व्यवस्था किसानों के लिए लाभदायक नहीं थी। "इस नई व्यवस्था में फसल अच्छी हो या बुरी किसान को हर साल निश्चित धनराशि के रूप में लगान देना ही पड़ता था।"[26] "अनिश्चित आय से निश्चित धनराशि देने के यह व्यवस्था कितनी क्रूर और हिंसक है, इसे प्रेमचन्द की रचनाओं में देखा जा सकता है।" कितना अन्याय है कि जो बेचारे रोटियों के मुहताज हों, जिनके पास तन ढँकने को केवल चीथड़े हों, जो बीमारी में एक पैसे की दवा भी न कर सकते हों, जिनके घरों में दीपक भी न जलते हों, उनसे पूरा लगान वसूल किया जाए जिनके लड़के पाँच छह बरस की उम्र से ही मेहनत मज़दूरी करने लगे, जो ईंधन के लिए हार में गोबर चुनते फिरें उनसे पूरा लगान वसूल करना मानो उनके मुँह से रोटी का टुकड़ा छीन लेना है, उनकी रक्तहीन देह से खून चूसना है।"[27] "भारी लगान देहातों में साहसहीनता बढ़ाकर आकालों की व्यापकता और विस्तार बढ़ा देते हैं। किसान अच्छे वर्षों में बुरी फसलवाले वर्षों के लिए कुछ नहीं बचा पाता। फलतः वह आसानी से आकाल और मृत्यु का शिकार बन जाते हैं।"[28] इन परिस्थितियों में इज़ाफा लगान किसानों के लिए भीषणतम विपत्ति के रूप में सामने आता है। प्रेमचन्द ने 'आईने केसरी' की समीक्षा करते हुए लिखा, "अकबरनामा और दूसरी किताबों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शुरू की रिपोर्टों को देखने से मालूम होता है कि पहले ज़मीन का टैक्स पैदावार

पर एक तिहाई से एक चौथाई तक था। अब अधिकतर हिस्सों में पचास फीसदी है और कभी कभी तो इससे कहीं ज़्यादा। 1895 में नैरोजी ने एक भाषण में कहा था कि भारत भूखा मर रहा है, अपर्याप्त भोजन पर रहनें को विवश भारतवासी हल्के से धक्के से भी मरने की स्थिति में है। गोखले ने राजस्व वृद्धि को देश की भौतिक प्रगति का प्रतीक मानने से असहमति प्रकट की थी। उन्होंने अपना बजट भाषण 1902-3 में दिया था और इसमें उन्होंने अत्यधिक लगान को देश की दरिद्रता का प्रमुख कारण माना था।"[29] इस में एक नक्शा पेश किया था "जिसमें उन्होंने प्रमाणिक आँकड़ों और निरन्तर कर देने वाली युक्तियों के आधार पर दिखाया है कि तमाम सभ्य संसार में कहीं कुल पैदावार पर आठ फीसदी से ज्यादा टैक्स नहीं है। हिन्दुस्तान में पन्द्रह फीसदी से पचास फीसदी है।"[30]

सामान्यतया ज़मींदार ही इज़ाफा लगान का दावा करते थे, क्योंकि नई भूमि व्यवस्था में साम्राज्यवादियों ने ज़मींदारों को यह अधिकार दिया था।[31] ज़मींदार ही इज़ाफा लगान का दावा करते हैं और यह दावा डिप्टी की अदालत में किया जाता है, जो स्वयं ज़मींदार होने के कारण ज़मींदारों का ही समर्थन करते थे। लेकिन प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में राज्याधिकारियों को ज़मींदारो की अपेक्षा अधिक उदार और न्यायप्रिय बताया है। इसीलिए 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में डिप्टी ज्वालासिंह इज़ाफा लगान का दावा खारिज कर देते हैं। सम्भवतः असहयोग आन्दोलन (1919-20) के बाद प्रेमचन्द को इन राज्याधिकारियों की वास्तविक स्थिति का पता चला तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि अधिकारी वर्ग किसानों का हिमायती नहीं होता। लेकिन 1918 में वह इस वास्तविकता को समझ नहीं पाए थे। चम्पारन सत्याग्रह के दौरान किसानों ने गाँधी से कहा था कि 'हम लोगों से जबरदस्ती तावान वसूल किया जाता है। खेत और माल मवेशी बेचकर हम लोगों ने तावान का रुपया दिया है। जिन लोगों से कुल रुपया वसूल ना हो सका उन लोगों ने हैण्डनोट लिखकर दिए हैं। बहुत लोगों ने कहा कि हम लोगों ने 100 रुपये से 125 रुपये बीघा तक तावान दिया है।[31] वास्तव में यह वो समय था जब कांग्रेस का मध्यम वर्ग अपनी राजनीति को फैलाने के लिए गाँवों की ओर मुखातिब हो रहा था।[31.1]

यद्यपि सरकार और ज़मींदार के शोषण का गठबन्धन किसानों के लिए बहुत कष्टदायी था, लेकिन 1934 मे प्रेमचन्द ने ज़मींदारों के भावी पतन को वर्णित किया। "सरकार ज़मींदारों से जितना राजनीतिक-आर्थिक लाभ ले सकती थी उतना वह ले चुकी थी। अब सरकार समझ रही है कि इनका अस्तित्व सरकार के लिए भारी पड़ रहा है। अतः जब भी मौका मिला चट-पट एक संघ, सभा, एसोसिएशन बना लिया जाता है और लोग बड़ी-बड़ी पगड़ियाँ बाँध और नीचे अचकनें पहन और कमर में

वफादारी का पटका कस और गर्दनों में स्वामिभक्ति के तौक़ डालकर गवर्नरों के बारगाह में हाज़िर हो जाते हैं, और अपनी लायलटी और भक्ति के पचड़े शुरू कर देते हैं। लेकिन सरकार ने यह कहना शुरू कर दिया है कि अपने को संगठित करो और जनता की भावनाओं का आदर करो, समाज में अपना स्थान खुद बनाओ।"[32]

प्रेमचन्द बाजारों के उतार-चढ़ाव के बावजूद निश्चित राजस्व दरों के प्रति चिन्तित थे, जो राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय विकास का परिणाम थे। जब 'प्रेमाश्रम' लिखा गया तब प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हो चुका था ज़मीनें महँगी थीं और मजदूरों की संख्या बहुत अधिक थी। युद्ध के बाद एक ओर अनाजों के मूल्यों में वृद्धि हो गई वहीं दूसरी ओर ज़मींदारों ने लगान वृद्धि की योजनाएँ बनानी आरम्भ कीं। यह एक अस्वाभाविक निर्णय था जिसे स्वीकार किया जाना संभव नहीं था, अनाजों के मूल्यों में जो वृद्धि हुई थी उसका लाभ किसानों को नहीं मिला था क्योंकि बैलों, मज़दूरों, कृषि संसाधनों आदि के मूल्यों में भी वृद्धि हुई थी। "इन दोहरी वृद्धियों, लगान एवं कृषि संसाधनों की मूल्य वृद्धि, से अन्ततः किसानों को मूल्य वृद्धि का कोई लाभ नहीं मिला।"[33] इसके अतिरिक्त 'मौसमी और दाखीलदार' आसामियों पर भी कर वृद्धि के उपाय सोचने लगे।"[34] बढ़ी हुई कीमतों का लाभ वास्तविक उत्पादक को न मिलकर बिचौलियों ऋणदाता, साहूकारों तथा निर्यात व्यापारियों द्वारा ही हड़प लिया जाता था।"[35] ज्ञानशंकर लखनपुर के आसमियों पर इज़ाफा लगान का दावा करता है। गाँव में ताऊन (आकाल) फैल जाता है, लेकिन हाकिमों ज़मींदारों की तरफ से कोई रियायत नहीं होती। जब प्रेमशंकर डपटसिंह के पास जाता है, जिसका एक लड़का जाता रहा है और दूसरा जाने वाला है, तो वह कहता है — "क्या इज़ाफा वसूल करने आए हो? उसी से ले लीजिए जो वहाँ धरती पर पड़ा हुआ है। वह आपकी कौड़ी-कौड़ी चुका देगा। उसे पकड़ ले जाएँ, बाँधें, मारें, मैं न बोलूंगा। मेरा खेती बारी से, घर-द्वार से इस्तीफा है।"[36]

'प्रेमाश्रम' की अपेक्षा 'कर्मभूमि' (1932) में प्रेमचन्द के किसानों की अत्याचार सहने की सीमा टूट जाती है और वह खेती-बारी छोड़ने की नहीं वरन् लगानबन्दी का आन्दोलन चलाते हैं। 'कर्मभूमि' का रचनाकाल आर्थिक मंदी के बाद कीमतों में आई भारी गिरावट का काल था। "किसानों ने एक-एक दाना वेच डाला, भूसे का एक तिनका भी न रखा, लेकिन यह सब कुछ करने पर भी चौथाई लगान से ज्यादा न अदा कर सके और ठाकुरद्वारे में वही उत्सव थे।"[37] इस प्रकार प्रेमचन्द ने तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों को पूर्णतया अपने किसानों के माध्यम से उभारा है। 'प्रेमाश्रम' का किसान जहाँ इज़ाफा लगान की स्थिति में विरोध करने के बावजूद दबाव महसूस

करता है, वहीं 'कर्मभूमि' के लिखे जाने तक उसमें अपने अधिकारों के प्रति जागृति आई और उन्होंने इस अन्याय का विरोध किया।

"राजस्व और लगान के दबाव के कारण खेती का रुख गरीबों के खाद्यानों जैसे ज्वार, बाजरा या दालों से हटकर नकदी फसलों और गेहूँ जैसी अधिक मूल्य दिलाने वाली फसलों की ओर हो गया। यद्यपि नकदी फसलों में लागत अपेक्षाकृत अधिक आती थी और इसीलिए अग्रिम राशि भी अधिक लेनी होती थी।"[38] लगान की अदायगी तथा महाजन का ऋण चुकाने के लिए किसानों को नगद राशि की विशेष जरूरत हुई और इसके कारण कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ। प्रेमचन्द के किसान ज्वार, बाजरा, कपास, धान, गेहूँ, जौ, मटर, आलू, चना, तिलहन, सन तथा ऊख की फसल उगाते हैं। इसमें ऊख की खेती अधिकतर किसान करते हैं। ऊख प्रेमचन्द के किसानों की प्रिय फसल है। 'मुक्तिमार्ग' में झिंगुर और 'गोदान' में होरी ऊख की फसल से आने वाले उन रुपयों के बारे में सोचते हैं, जिसकी उन्हें सख़्त जरूरत है।" "ऊख केवल धनदाता ही नहीं किसानों का जीवनदाता भी है। उसी के सहारे किसानों का जाड़ा कटता है। ऊख की पत्तियाँ तापते हैं, उसके आगेड़े पशुओं को खिलाते हैं।[39] गोदान का होरी ऊख की अच्छी खेती की आस में तीन चार सौ रुपये सूद पर लेने को तैयार हैं।"[40] इस प्रकार "कृषि के वाणिज्यीकरण के कारण अपनी निजी और गाँव की सामूहिक जरूरतों को पूरा करने के बदले अब भारतीय किसान सारे विश्व के लिए फसल उगाने लगा।"[41] इसका प्रभाव किसानों की आर्थिक स्थिति पर पड़ा क्योंकि विश्व बाजार के मूल्यों के उतार-चढ़ाव का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव इन पर भी पड़ा। अर्थात अब कमज़ोर बैलों और परम्परागत साधनों से उत्पादन करने वाले भारतीय किसानों की प्रतिद्वन्द्विता आधुनिक तकनीकों और ट्रैक्टरों का प्रयोग करने वाले देशों से थी। निःसन्देह "ब्रिटिश शासनकाल में खेती सारे देश के अर्थतन्त्र के तात्विक अंग के रूप में प्रतिष्ठापित हुई और यह अंग्रेज़ों की भारत विजय का प्रगतिशील पहलू है। इस तरह भारतीय कृषि और उसकी समस्याओं को राष्ट्रीय रूप मिला।"[42] अब किसानों की समस्यायें अखिल भारतीय समस्या के रूप में परिवर्तित हो चुकी थीं। परिणामस्वरूप अब प्रत्येक गाँव में वहीं फसल बोई जाती थी जो उसकी भूमि की उत्पादन क्षमता के अनुकूल थी और जिनकी बाजारों में माँग अधिक थी।

'गोदान' में प्रेमचन्द ने कृषि के वाणिज्यीकरण की समस्या को उठाया है। जहाँ गाँव में एक शक्कर मिल खुल गई थी, उसके कारिन्दे और दलाल गाँव-गाँव घूमकर किसानों की खड़ी ऊख मोल ले लेते थे। "गाँव के सभी किसान खड़ी ऊख बेचने को तैयार हो जाते हैं, यह जानने के बावजूद कि उन्हें कुछ दाम मिलेंगे। इसका मुख्य कारण यह था कि उन्हें पैसा तत्काल मिलेगा।"[43] इससे "बाजारों में एकदम उपज का

तूफान सा आ जाता था, जिससे हितों के विरुद्ध मूल्यों में नकली गिरावट आ जाती थी जो उन किसानों के लिए हानिकारक थी।"[44] "सरकारी कर निर्धारण और महाजन के सूद की आदायगी के लिए किसानों को फसल कटने के तुरंत बाद बाजार जाना पड़ता था और जो कुछ कीमत मिल जाए उस पर अपनी फसल का बहुत बड़ा अंश बेच देना पड़ता था। बहुत सारे गरीब किसानों को करीब छः महीने के बाद बेची गई फसल का कुछ हिस्सा पुनः खरीदना पड़ता था। फसल के समय कीमतें बहुत कम होती थीं, लेकिन छः महीने बाद उन्हीं चीजों की कीमत किसानों के लिए सत्यानाशी सिद्ध होती थी।"[45] प्रेमचन्द नें किसानों के पास थोड़ा अधिक धन होने पर महाजन बनने की प्रवृत्ति को भी वर्णित किया है। 'गोदान' में होरी और गोबर दोनों ही कुछ समय के लिए सूद पर ऋृण देते हैं।"[46] किसी भी किसान के पास जब थोड़ा धन जमा हो जाता था तो वह व्यापार, साहूकारी की ओर रुख करता था। जहाँ तक बहुसंख्यक निर्धन किसानों का प्रश्न था, वे बाध्य होकर वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया में पड़ते थे, क्योंकि राजस्व एवं भूमि का भाड़ा चुकाने के लिए नकद रुपयों की आवश्यकता होती थी। कोयम्बटूर के किसानों ने एक बार एक अंग्रेज जिलाधीश से कहा था कि वे "कपास की खेती केवल इस कारण कर रहे हैं, क्योंकि वह कपास को खा नहीं सकते। यदि वे अनाज उगाते तो उसे खा डालते और फिर लगान भरने को पैसे कहाँ से आते।"[47] इस प्रकार वाणिज्यीकरण की समस्या, लगान के भुगतान से सम्बन्धित थी जिससे किसानों के साथ-साथ ग्रामीण समुदाय की परम्परागत आत्मनिर्भरता भी समाप्त हो गई।

प्रेमचन्द भूमि पर जनसंख्या के बढ़ते दबाव को भी किसानों की प्रमुख समस्या मानते थे। "जनसंख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है, नया काम कोई नहीं मिलता। थोड़े से कारखाने जरूर खुले हैं, पर आबादी में जो वृद्धि हुई उस का बहुत थोड़ा हिस्सा उन कारखानों में खप सका। ज़मीन पर जो बोझ पहले था वह और बढ़ गया।"[48] यह एक सर्वविदित सत्य है कि "देश की आबादी के तीन-चौथाई लोगों का एकमात्र पेशा खेती है और वे खेती पर बहुत अधिक और बुरी तरह आश्रित हैं। ब्रिटिश शासन में कृषि पर यह निर्भरता बढ़ती गई। यह उद्योगों और कृषि के प्राचीन संतुलन के टूटने और साम्राज्यवादियों द्वारा भारत को कृषि प्रधान देश की श्रेणी से निष्कासित करना था।"[49] 1918 की मांन्टेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट के अनुसार, "यदि पूरे भारत को लिया जाए तो 22 करोड़ 60 लाख आदमी धरती के सहारे जीते हैं, और 20 करोड़ 80 लाख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, अपनी या औरों की ज़मीन को जोत बोकर जीविका कमाते हैं।" 1930 में साइमन कमीशन ने यह निष्कर्ष निकाला था कि "यह परिवर्तन बहुत ही धीरे-धीरे होना चाहिए।"[50]

भूमि पर जनसंख्या के दबाव के कारण "भूमि का बँटवारा इतनी तेजी से हुआ है कि जिसकी कोई हद नहीं। दक्षिण में सन् 1771 में औसत जमाबन्दी (औसत भूमि का क्षेत्रफल) चालीस एकड़ की थी। 1915 मे वह केवल सात एकड़ रह गई।"[51] क्योंकि खेती पर निर्भर जनसंख्या का प्रतिशत 1915 में 72-73 प्रतिशत हो गया था।[52] "बंगाल में यह प्रतिशत 3 एकड़ और संयुक्त प्रान्त में केवल डेढ़ एकड़। यह डेढ़ एकड़ भी गाँव के चारों दिशाओं में स्थित होता है, इसलिए उसमें बहुत परिश्रम व्यर्थ हो जाता है।"[53] एक सर्वेक्षण के अनुसार 1935-36 मे संयुक्त प्रान्त में औसत किसानों की जोत 2.5 एकड़ थी।"[54]

संयुक्त प्रान्त	-	2.5 प्रति व्यक्ति जोत एकड़ में
बंगाल	-	3.1 प्रति व्यक्ति जोत एकड़ में
मद्रास	-	4.9 प्रति व्यक्ति जोत एकड़ में
बम्बई	-	12.2 प्रति व्यक्ति जोत एकड़ में

खेती का दूर-दूर और विभिन्न दिशाओं में होना भी उनकी एक गंभीर समस्या थी। "अधिकतर किसानों के पास दो-ढ़ाई बीघों से ज्यादा नहीं होता है जबकि ब्रिटेन में 17.3 प्रतिशत के पीछे एक आदमी खेती करता है।"[55] सभी किसानों के खेत एक जगह नहीं हैं। 'प्रेमाश्रम' में मनोहर और बलराज के धान के खेत दूसरे गाँव में हैं। "उसमें भी पाँच बिस्वे गाँव के पूर्व हैं, तो दस बिस्वे गाँव के पश्चिम, दस बिस्वे उत्तर तो पाँच बिस्वे दक्खिन। पाँच बिस्वे को जोतकर उसे हल बैल लिए मील भर चलना पड़ता है, तब कहीं दूसरा खेत मिलता है। इस तरह उसका बहुत सा समय नष्ट हो जाता है। न वह कुँए बनवा सकता है, न बाड़े खींच सकता है, न फ़सल की रखवाली कर सकता है। "पंजाब में तो वहाँ की प्रान्तीय सरकार ने इस विषय में बहुत कुछ काम किया है, लेकिन हमारा प्रान्त (संयुक्त प्रान्त) अभी मीठी नींद सो रहा है। मि. मेहता ने दो जिलो में चकबन्दी का आयोजन किया था, पर ऊपर से कोई ताकीद ना होने के कारण उसमें कुछ ज्यादा सफलता न हुई।"[56] विनायक नन्दशंकर मेहता एक आई.सी.एस. अफसर थे जिन्होंने प्रतापगढ़ में चकबन्दी कार्यक्रम लागू किया था। प्रतापगढ़ के कमिश्नर के रूप में मेहता ने अवध किसान आन्दोलन में किसानों के प्रति सहानुभूति बरती तो ताल्लुकदारों के दबाव में सरकार ने उनका तबादला कर दिया। इस प्रकार "भूमि के अधिकाधिक विखण्डन के कारण कृषि योग्य भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गई थी। इन छोटी जोतों पर उत्पादन करना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं था, वहीं दूसरी ओर भारतीय किसान इतने गरीब थे कि वह उत्पादन की आधुनिक पद्धतियों और तकनीक को विकसित नहीं कर सके।"[57] पूरे अवध में बेदखली की नोटिसों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी।

अवध में बेदखली की नाटिसें 57.1

	1905-06	1916-17	1917-18	1918-19	1919-20	1920-21
लखनऊ	2068	2262	2495	1399	2325	1989
उन्नाव	3474	3564	4232	2127	6392	4712
रायबरेली	1784	1920	1857	1641	2962	2440
सीतापुर	1889	506	1905	1531	2148	2123
हरदोई	3784	3834	3560	1746	7666	7463
खीरी	1059	142	1261	781	1271	1417
फ़ैजाबाद	2146	2235	2266	2105	3374	2826
गोंडा	2295	4038	3752	2412	4068	3091
बहराइच	1703	2102	1795	2412	1878	2257
सुल्तानपुर	2326	2431	2473	2019	3661	3972
बराबंकी	2895	3932	3725	2722	3843	4452
प्रतापगढ़	2157	2088	2129	2719	3892	766
कुल बेदखलियाँ संपूर्ण अवध में	27580	30054	31450	23614	43490	37508

वस्तुतः भारत की अर्थव्यवस्था में उद्योगों और कृषि को अलग-अलग खातों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता, क्योंकि प्राचीनकाल से दोनों एक-दूसरे के पूरक रहे हैं, और अंग्रेजों ने शासन सँभालने के बाद न केवल कृषि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करके उसकी रीढ़ तोड़ी थी बल्कि स्थानीय उद्योगों को भी नष्ट कर दिया था। परिणामस्वरूप जनसंख्या का भूमि पर दबाव बढ़ा और जोतों का आकार छोटा हो गया। "1921-31 में कृषि पर निर्भर लोगों की संख्या पाँचवे से तीसरे स्थान पर पहुँची और इस दशक के अन्त (1940) तक यह संख्या आधी-आधी हो गई।"[58] "1930 की एक सरकारी रिपोर्ट के शब्दों में "ज़मीन खेती से निकलती जा रही थी और यह ठीक उस वक्त हो रहा था जब कि देश में ज़मीन की भयानक कमी थी और जितनी ज़मीन पर खेती हो रही थी उसके लिए किसानों में भयंकर छीना-झपटी चलती थी।"[59]

प्रेमचन्द की रचनाओं में किसानों का शोषण करने वालों की लम्बी श्रृंखला है। सरकार से लेकर चपरासी और ज़मींदार, कारिन्दा, पटवारी, महाजन, दारोगा, हाकिम,

पुलिस, कर्मचारी सभी मजबूती के साथ खड़े हैं। किसानों और ज़मींदारों के बीच मध्यस्थों की एक बड़ी श्रृंखला है। "अलिफलैला में नाविक सिन्दबाद की पीठ पर जो समुद्री बूढ़ा सवार हुआ था, वैसे बहुत सारे बूढ़े भारतीय किसान की पीठ पर सवार थे।"[60] इसी प्रकार उन अभागों पर पुलिस का, ज़मींदार ताल्लुकेदार का, सेठ-साहूकार का, संक्षेप में "हर एक अधिकारी का जुल्म ज्यों का त्यों जारी है। संयुक्त प्रान्तीय कौंसिल ने यदि कभी इन अभागों की सहायता करनी चाही तो प्रान्त की 'ताल्लुकेदारों की कौंसिल' ने जनमत को सदैव कुचल दिया।"[61] इसीलिए प्रेमचन्द ने लिखा कि "कौन कहता है कि हम तुम आदमी हैं। आदमी वह है जिनके पास धन है, अख्तियार हैं, इलम है, हम लोग तो बैल हैं और जुतने के लिए पैदा हुए हैं।"[62] हम राज नहीं चाहते, भोग-विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोटा पहनना, मोटा-झोटा खाना और मरजाद (मर्यादा) के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता।"[63] लेकिन शोषण के चलते उनकी यह छोटी सी इच्छा भी नहीं होती, "रात दिन ज़ाफा, बेदखली, अखराज की घूम मची हुई है।"[64]

इस शोषणकारी व्यवस्था में जहाँ ज़मींदारों को मात्र अपने लगान से मतलब है वहीं महाजन को ऋणों पर मिलने वाले सूद की और वह कभी भी मूल धन नहीं प्राप्त करना चाहता। उसे प्राप्त करने के लिए उनका शारीरिक बल, मानसिक हथकण्डे, अंग्रेजी सरकार के पदाधिकारी और स्वयं कानून है। होरी की ऐसी ही परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए पण्डित दातादीन कहते हैं कि "कल मैं तुम्हारी बुआई करा दूँगा। उपज दस दिन पीछे होगी, हमारा तुम्हारा आधा साझा रहेगा।"[65] होरी सोचता है कि "केवल बोआई के लिए आधी फसल देनी पड़ रही है, उस पर एहसान केसा जता रहे हैं।"[66] शोषण ने इन किसानों को जितना स्वार्थी बना दिया है इसे प्रेमचन्द ने कहानी 'कुन' में दिखाया है जहाँ माधव की पत्नी मौत से जूझ रही है वहीं माधव और घीसू इस इंतजार में बैठे हैं कि कब वह मर जाए तो वह आराम से आलू खाएँ। दोनों ही उसे देखने इस डर से अन्दर नहीं जाते कि एक की अनुपस्थिति में दूसरा वह आलू खा लेगा। अतः शोषण ने उन्हें इतना पलायनवादी बना दिया है कि इससे अधिक वह सोच भी नहीं सकते। "जिस समाज में रात दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ अच्छी न थी, और वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।"[67] यह वास्तविकता है जिसकी पराकाष्ठा कफन के लिए एकत्र किए गए पैसों से माधव और घीसू शराब पीते हैं अथवा 'पूस की रात' में हल्कू मालूम होने के बावजूद जानवरों को अपने खेतों से नहीं भगाता है।

संभवतः कहीं न कहीं किसानों की यह मान्यता थी कि उनकी सारी उपज कोई दूसरा ही ले जाएगा। 'रियासत की दीवान' में किसानों से बलपूर्वक चन्दा एकत्र किया जाता है। 'कायाकल्प' में विशाल सिंह के राजतिलक पर आसामियों से चन्दा वसूल किया और उन्हें बेगार करने के लिए विवश किया गया। 'सेवासदन' में हल पीछे पाँच रुपये लिए गए। डाँड-नज़राना, दस्तूरी-कागद आदि अलग से हैं। इस शोषण का स्वरूप आर्थिक एवं धार्मिक दोनों ही हैं। कहीं-कहीं प्रेमचन्द ने इस शोषण के विरुद्ध किसानों को मुखर रूप में भी वर्णित किया है। जैसे 'प्रेमाश्रम' का बलराज इज़ाफा करने पर ज़मींदार का सर तोड़ने की बात करता है। भारत में साम्राज्यवादी शासन के तीन मुख्य युगों-प्रारम्भिक पूँजीवाद का युग, औद्योगिक पूंजीवाद का युग और बैंक पूँजी का युग, में बीसवीं सदी में ब्रिटेन की बैंक की पूँजी का अधिपत्य कायम हुआ। "बींसवी सदी में बैंक पूँजी द्वारा भारत का शोषण ही इस देश की लूट का मुख्य रूप बन गया। "सूदखोरी की प्रथा इस शताब्दी में बड़ी तेजी के साथ फैली और इससे सर्वाधिक शोषण किसानों का ही हुआ।"[68]

किसानों की अत्यधिक निर्धनता और शोषण का प्रभाव स्वाभाविक रूप से कृषि उत्पादन पर पड़ता है। अधिकतर खेती के लिए हलों में बैलों का प्रयोग होता था, जो बूढ़े मरियल होते थे। "उनके बैल पिंसिंन लेने की स्थिति में पहुँच जाते थे, परन्तु किसान चाहकर भी हल के जुए से मुक्त नहीं कर सकता था।"[69] यह किसान इतने निर्धन थे कि वह कृषि की आधुनिक तकनीकों और उन्नत किस्म के बीजों एवं खादों का प्रयोग करने के स्थान पर परम्परागत पद्धतियों से ही उत्पादन करने के लिए विवश थे। प्रेमचन्द लिखते हैं कि "किसान को भरपेट भोजन नहीं मिलता उनके बैलों को भूसे और सूखी चूरी पर रहना पड़ता है।"[70] इसके अतिरिक्त उन्हें अच्छी खाद और बीज भी उपलब्ध नहीं होते थे। "सिंचाई के उपयुक्त साधन भी नहीं थे। कुँओं नदियों और तालाब का पानी सूख जाता तो उसके साथ ही खेत भी सूख जाते।"[71] उनकी गरीबी का यह नतीजा हुआ कि वे उत्पादन के तरीकों और तकनीकों को विकसित नहीं कर सके। ज़मीन की तरक्की पर खर्च करने के लिए पैसा नहीं रहने की वजह से किसान आदिम तरीकों और साधनों को अपनाए रहने के लिए विवश था। वैज्ञानिक खाद और खेती के आधुनिक यांत्रिक साधनों का इस्तेमाल कर सकने की हालत में किसान नहीं थे और न वे अपने पशुओं को ही स्वस्थ और शक्ति सम्पन्न बनाए रख सकते थे।"[72]

परम्परागत साधनों के प्रयोग के परिणामस्वरूप भूमि की उत्पादन शक्ति का ही ह्रास होने लगा था। प्रति एकड़ अन्न की औसत उत्पत्ति कम हो गई थी और निरन्तर होती जा रही थी। साथ ही साथ फसलों की उपज में भी कमी आने लगी।[73]

"साम्राज्यवाद का पूरा इतिहास इस बात के प्रभावों से भरा पड़ा है कि भारत की खेती की उत्पादन शक्ति बराबर गिरती गई है। यदि 1936-37 से 1938-39 तक का औसत निकाला जाए तो दूसरे महायुद्ध के पहले भारत में अनाज की प्रति एकड़ उपज लगभग 7 मन 8 सेर थी, वह 1944-45 में करीब 6 मन 26 सेर रह गई।"[74] "निम्न श्रेणी की भूमि के विस्तार से और निरन्तर खाद के बिना ही फसल उगाते रहने से धरती की उर्वरा शक्ति कम हो जाने की वजह से उत्पादन घट गया है। अतः भारत कृषि के क्षेत्र में निरन्तर और भयंकर उपकर्ष से विपन्न होता जा रहा है।"[75]

यद्यपि ज़मींदारों को इन आधुनिक तकनीकों का ज्ञान है, लेकिन उनकी न तो उत्पादन वृद्धि में रुचि होती है और न ही किसानों में। प्रेमचन्द ने ज़मींदारों के संबंध में लिखा, "कृषि संबंधी विषयों से उन्हें बड़ा प्रेम था। पत्रों में जहाँ कहीं किसी नई खाद या किसी नवीन आविष्कार का वर्णन देखते, तत्काल उस पर लाल पेंसिल से निशान कर देते और अपने लेखों में उस की चर्चा करते थे। किन्तु शहर से थोड़ी दूर पर उनका एक बड़ा गाँव होने पर भी, वह अपने किसी आसामी से परिचित न थे।"[76] यद्यपि जब उन्हें किसानों की स्थिति का पता चलता है तो वह गाँव में रहना पसन्द करते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द ने ज़मींदारों और किसानों के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क के अभाव को भी एक प्रमुख समस्या बताया है। जिसे बढ़ाने में सरकार ने ज़मींदारों का पक्ष लेकर और बढ़ाया था।

भारतीय किसानों की निरक्षरता को प्रेमचन्द ने उनकी दयनीयता का कारण मानने वालों का खण्डन करते हुए 'निरक्षरता की दुहाई'[77] लेख में उसका कारण उनमें संगठन के अभाव को बताया है। लेकिन कहीं-न-कहीं इस तथ्य को भी वह स्वीकारते हैं कि किसानों की निरक्षरता उन्हें अपने हितों के संघर्ष में हारने पर मजबूर कर देती है। "बैर का अन्त" कहानी में जागेश्वर अपने ताऊ सिद्धेश्वर की बेटी के खे़त विश्वेसरी से छुड़ाने का प्रयत्न करता है। लेकिन न्यायिक प्रक्रिया की जटिलता और विश्वेसरी के ग्राम पंचायत पर प्रभाव, महाजनी के कारण और अदालत के अधिकारियों से जान-पहचान के कारण अन्ततः जागेश्वर को अपना ज़मीन, घर और पेड़ सब नीलाम करने पड़े।[78] किसान अनपढ़ है, वह कानून नहीं जानता। लगान चुका भी देता है तो रसीद नहीं मिलती। जो समझदार किसान होते उन्हीं को रसीद मिलती और शेष पर लगान लेकर भी तकाजे किए जाते।[79] "महाजन का खाता किसानों के लिए जादू का पिटारा बना रहता है। साहूकार को उनसे कितना लेना था और वे उसमे से कितना अदा कर चुके हैं इसका हिसाब प्राय किसानों को नहीं मालूम होता। "सूद की दर को कम करने के लिए और खेती की ज़मीनों को किसानों के

हाथ से निकलने से बचाने के लिए कानून के पोथे रंग डाले गए हैं। लेकिन सरकार खुद भी मानती है कि ये सारे कानून बेकार साबित हुए हैं।"[80]

ब्रिटिश शासन की नई विधि व्यवस्था में गरीब किसान की तुलना में धनी साहूकार का पलड़ा भारी रहा, क्योंकि मुकदमेबाजी खर्चीली थी। "साहूकार तो वकील बाहाल कर सकता था और मुकदमा बहुत दिनों तक चले तब भी उसका खर्च बर्दाश्त कर सकता था, लेकिन बेचारा किसान, जो मुश्किल से अपना जीवन निर्वाह कर पाता था, वकीलों की महँगी विधि सेवा का कहाँ से प्रबन्ध करता? अपने दावे को पुष्ट करने में चालाक साहूकार इस बात अर्थात निरक्षरता का पूरा-पूरा फायदा उठाता था।"[81] किसान ऋण के भार से दबा जा रहा है, अनपढ़ होने के कारण वह महाजनों से अपने ऋण तीन का तेरह देकर भी निजात नहीं पाता। मुकदमेबाजी उसे तबाह कर डालती है।"[82]

भारत के किसान इतने तबाह क्यों हैं? इसके जवाब में प्रेमचन्द ने 1933 में लिखा है — "इसीलिए कि जब से अंग्रेजी शासन शुरू हुआ, यानि आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले से विदेशी हुकूमत ने सदैव किसानों के हितों की उपेक्षा की और ज़मींदारों के हितों का समर्थन किया। संयुक्त प्रान्त की ही दशा लीजिए। शायद ही किसी प्रान्त के किसान इतने परेशान और दुःखी हों। शायद ही किसी प्रान्त में ज़मींदार-ताल्लुकेदार इतनी मनमानी कर सकते हों।"[83] "यह मनमानी किसके बल पर होती है निःसन्देह सरकारी आश्रय और संरक्षण द्वारा।" भारतीय इतिहास के वैभव और सम्पन्नता की सभी विभिन्न अवस्थाओं और युगों में भारतीय कृषक जनता कुचली और विपन्न रही है। ब्रिटिश राज में तो दुर्भाग्य और अधिक विषम हो गया है।"[84] निश्चित रूप से सरकार और किसानों का संबंध किसी भी रूप में मानवीय और न्यायपूर्ण नहीं रहा। इस अमानवीयता के कई उदाहरण प्रेमचन्द की रचनाओं में मिलते हैं। "जो काम ज़मींदार के कारिन्दे नहीं कर पाते तो उनकी सहायता के लिए पुलिस और सेना भी आ जाती है।"[85]

श्रम तथा उत्पादन किसानों का काम है और उनके श्रम का उपभोग धनी वर्ग करता है। प्रेमचन्द इसके लिए शिक्षित वर्ग को दोषी मानते हैं, "पढ़े-लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाए रखने के लिए एक संगठन बना लिया है। उसी का नाम गवर्नमेंट है। गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो और गवर्नमेंट का खातमा हो जाता है।"[86] इसे प्रेमचन्द 'मुर्दे और गिद्धों का तमाशा' कहते हैं। वह इसे 'हुकूमत' नहीं कहते। 'यह चोरी भी नहीं है। यह केवल मुर्दे और गिद्धों का तमाशा है।"[87] अपनी प्रतिष्ठा और ऊँचे वेतनों के लिए सरकारी अधिकारी सरकारी आज्ञा का अक्षरतः पालन करना अपना धर्म समझते थे। आम जनता के कष्टों से उन्हें कोई सरोकार नहीं था।

'कर्मभूमि' में मंदी के बावजूद लगान माफ नहीं हुआ। जिला हाकिम मि. गजनवी का कहना है कि "हमारा काम अफसरों की आज्ञा मानना है अतः हमें लगान वसूल करना चाहिए। प्रजा को यदि इससे कष्ट होता है तो हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं।"[88] इस प्रकार सरकार प्रत्यक्ष रूप से ज़मींदारों के अत्याचारों को समर्थन करती थी। "मैंने सुना है कि वह उल्टे और शह देती है, सरकार को तो अपने कर से मतलब है, प्रजा मरे या जिये। उससे कोई प्रयोजन नहीं, अक्सर ज़मींदारों ने लगान वसूल करने से इन्कार कर दिया है, अब पुलिस उनकी मदद पर भेजी गई है। भैरोंगंज का सारा इलाका लूटा जा रहा है। एक किसान के घर में घुसकर कई कांस्टेबलों ने उसे पीटना शुरू किया। बेचारा बैठा मार खाता रहा। सब कांस्टेबलों ने गरीब को इतना मारा कि वह मर गया।"[89] प्रेमचन्द ने इन 'बारहमासी' सत्ता वाले सरकारी कर्मचारियों के प्रति खुला क्षोभ प्रकट किया है।[90]

प्रेमचन्द ने किसानों की परम्परागत मान्यताओं में असीम आस्था को भी उनकी एक समस्या माना है। उन्होंने कादिर जैसे किसानों के पुरातनपन्थी विचारों की दीवार को जर्जर होकर ढहता हुआ दिखाया है। "वह अन्याय का विरोध नहीं करना चाहते, हर चीज अल्लाह और किस्मत के नाम पर सह लेना चाहते हैं।"[91] उसके अपने जीवन की कुछ अन्ध आस्थाएँ थीं, जिनको पूरा करना उसका कर्तव्य बन चुका। "बिरादरी, भोज-भात और डाँड-बाँध कुछ ऐसे सामाजिक कृत्य थे जो धर्म का स्वरूप ग्रहण कर चुके थे और धर्म की उपेक्षा उसके लिए असंभव थी।"[92] अपनी झूठी मर्यादा की रक्षा करना उसका कर्तव्य था। यह 'मर्यादा सुरक्षा' भी राक्षसी की भाँति थी। बेटी का विवाह, समाज की मर्यादा, खेती के प्रति आस्था, द्वार पर गाय और बैल बाँधना और ब्राह्मणों के अत्याचार सहना ये सब सत्य उसकी मर्यादा में आते थे।[93] "सरकार भी यह मानती है कि भारतीय प्रकृति से उदार और फिजूलखर्च है जिसके फलस्वरूप वे विवाहों तथा अन्य सामाजिक उत्सवों में अपरिमित खर्च करते हैं।"[94] इस प्रकार उनमें मितत्ययिता का आभाव था। "किसानों के निरन्तर कचहरियों में मुकदमेबाजी करते रहने को भी इसी फिजूलखर्ची का रूप बताया गया है।"[95] जबकि "भारतीय राष्ट्रवादियों का यह मानना है कि 'विश्व में भारतीय किसान से बढ़कर अधिक अल्पाहारी', मितव्ययी तथा संयमी कोई दूसरी जाति नहीं है।"[96]

प्रेमचन्द ने जिन सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की है, उनकी जड़ भी उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में ही खोज निकाली है। इसीलिए "प्रेमचन्द का विश्लेषण सुधारवादी न होकर क्रान्तिकारी और सामाजिक व्यवस्था की जड़ पर ही आघात करने वाला हो जाता है।"[97] और यह जड़ है सामन्तवादी व्यवस्था। प्रेमचन्द मानते हैं कि आर्थिक शोषण के कारण किसानों में ईर्ष्या की भावना आती है और वह एक

दूसरे के पतन का कारण बनते हैं। यह ईर्ष्या उनके पतन का कारण भी है और परिणाम भी।[98] 'गोदान' में ऋण पर ली गई होरी की गाय इसी ईर्ष्या के कारण विष द्वारा मारी जाती है। परिणामस्वरूप उसकी समस्याएँ बढ़ती हैं। गाय-बैल किसानों के लिए जीवन है। 'सभ्यता का रहस्य' में दमड़ी जाड़े से मर जाता है, पर बैल नहीं बेचता। 'बलिदान' कहानी में बैल बेचने के बाद गिरधारी आत्महत्या कर लेता है। किसान को अपने बैल और खेत से जो गहरा सम्बन्ध होता है उसे प्रेमचन्द ने 'बलिदान' कहानी में वर्णित किया है।[99] इसके अतिरिक्त "बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाए हुए थी और उसके रोम-रोम में बिंधी हुई थी।"[100] बिरादरी के इस भय के प्रति प्रेमचन्द गोबर के माध्यम से अपना विरोध प्रकट करते हैं। गोबर इस बिरादरी और हुक्का पानी को नहीं मानता बल्कि बिरादरी से अधिक वह धन को अहमियत देता है। वहीं होरी पंचायत में रायसाहब से मेल जोल रखने में, धर्म में, भगवान में विश्वास करता है।

'बाबाजी का भोग' का रामधन घर में भोजन के लिए अनाज न होने पर भी द्वार पर आए साधु को खाली हाथ लौटाना नहीं चाहता। इसी प्रकार होरी भी पंडित दातादीन द्वारा माँगे जा रहे अधिक धन देने से इनकार नहीं करता, क्योंकि उसे अपना परलोक सुधारना है।"[101] प्रेमचन्द मानते हैं कि, 'इनका देवत्व ही इनकी दुर्दशा का कारण है। काश यह आदमी ज्यादा और देवता कम होते तो यों न ठुकराये जाते।'[102] "इन दोषपूर्ण परम्पराओं के कारण किसान विभिन्न समस्याओं का सामना कर रहा है, वह इन कुरीतियों से मुक्त होकर पुनः शक्तिशाली बनेंगें। कुछ किसान अपने भाग्य और कर्मों को दोष देते हैं। हमें यह महसूस करना चाहिए कि हम अपने भाग्य को मोड़ सकते हैं और अपनी समस्याओं को कम कर सकते हैं।"[103]

निश्चित कर की वसूली जब सरकार के लिए आर्थिक तौर पर लाभजनक नहीं हुई तब अस्थायी भूमिकर के आधार पर ज़मीन का नया बन्दोबस्त किया गया। इस आराज़ी बन्दोबस्त में कुछ समय के बाद ज़मीन का फिर नए सिरे से बन्दोबस्त होता था, ताकि सरकार चाहे तो हर बार अपनी मालगुजारी बढ़ाती जाए। यह आराज़ी बन्दोबस्त संयुक्त प्रान्त के अधिकांश भाग, बंगाल और बम्बई के कुछ हिस्सों एवं मध्य प्रदेश तथा पंजाब में लागू था। 'प्रेमाश्रम' में तथा प्रेमचन्द की अन्य रचनाओं मे जो इज़ाफा लगान की समस्या और ज़मीन की बेदखली का वर्णन है, उसे आरजी बन्दोबस्त के रूप में देखा जा सकता है।[104] इसके परिणामस्वरूप "किसानों का एक बढ़ता हुआ हिस्सा धीरे-धीरे भूमिहीन खेत मज़दूरों या ग्रामीण सर्वहारा के नए वर्ग में शामिल होता गया और यहाँ तक कि खेती पर निर्भर रहने वाला आबादी का एक तिहाई से ज्यादा भाग खेत मज़दूर बन गया।" जनगणना के आँकड़ों के अनुसार

1882 मे भूमिहीन खेत मज़दूरों की संख्या 75 लाख, 1921 में 2 करोड़ 10 लाख तथा 1931 में 3 करोड़ 30 लाख थी।"[105] लगान न दे पाना ही इस बेदखली का समस्या का मूल कारण था। जिससे अधिकांश भूमि पर गैर-काश्तकारों का स्वामित्व हो जाता है। 'प्रेमाश्रम' में पंडित लेखराज यद्यपि "खेती नहीं करते लेकिन किसान हैं, ज़मींदारी नहीं करते लेकिन ज़मींदार हैं और महाजनी किए बिना भी महाजन हैं।"[106] वहीं 'गोदान' में पंडित दातादीन अंशकालीन महाजन हैं जो "खेती तो न करते थे पर चोरी के माल में हिस्सा बाँटने के समय अवश्य पहुँच जाते थे।"[107] इसी प्रकार वह महाजनी का काम भी करते और ऋण अदा न होने पर किसानों की संपत्ति पर अधिकार कर लेते।

"किसानों की सबसे बड़ी समस्या लगान का भुगतान और बेदखली है।"[108] "यह किसान जिनके पास अपनी थोड़ी सी भी ज़मीन थी, हमेशा उसकी बेदखली से डरते थे।"[109] प्रेमचन्द की रचनाओं में पंडित नेहरू के विश्लेषण पूर्णतया साकार होते हैं। "ज़मींदार चाहे तो वह भूस्वामित्व वाले किसानों को बेदखल कर सकता है। उसकी पहुँच उच्चाधिकारियों तक है। पुलिस अदालत सभी उसकी मदद करते हैं।"[110] "यद्यपि इस कानूनी लड़ाई में किसान अधिकतर पराजित ही होते थे, फिर भी वे ज़मींदारों के खिलाफ न्यायपालिका में फरियाद कर सकते थे।"[111] इन फरियादों में सामान्यता उसी वर्ग की विजय होती है, जो सम्पन्न गैर-काश्तकार की श्रेणी में आता है। ऐसे गैर-काश्तकारों की एक लम्बी श्रृंखला 'गोदान', 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'नेकी', 'बलिदान', 'बाँका ज़मींदार', 'पूस की रात' आदि रचनाओं में मिलती है। "भारतीय किसान ऐसे गैर-काश्तकारों का बोझ अपने सिर पर लादे था। किसान को इन सारे लोगों को दिए जाने वाले लगान का दुर्वह असहय भार ढोना था।"[112]

भारतीय किसानों को केवल मानवीय समस्याओं का ही नहीं बल्कि प्राकृतिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है। इस संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा कि "किसानों की फसलों को भौतिक विपत्तियों का भी सामना करना पड़ता है, अर्थात कभी कीड़ों, कभी चूहों, कभी लाही, कभी माही, कभी पतंगे। कभी दीमक का जोर होता है। किसानों के पास इन भौतिक बाधाओं की कोई दवा नहीं है। यद्यपि इनके लिए कई दवाओं का आविष्कार हो चुका है, लेकिन किसानों को इनका ज्ञान नहीं है।"[113] भारतीय किसान पूर्णतया मानसून पर निर्भर रहता है। यदि समय पर वर्षा न हुई तो सूखे का सामना करना पड़ता है। और यदि वर्षा अधिक हो जाए तो बाढ़ का। यह दोनों ही स्थितियाँ क्रमशः 'गोदान' और 'घमण्ड का पुतला'[114] में देखी जा सकती है। लार्ड कर्जन ने लिखा कि "जब किसी देश के वासियों की बहुत बड़ी संख्या एक ऐसे उद्योग पर निर्भर हो, जो स्वयं वर्षा पर निर्भर हो तो स्पष्ट है कि वर्षा न होने पर सारी

कृषि पर निर्भर जनता का बुरी तरह से प्रभावित होना तथा वर्षा के पूर्णतया आभाव की स्थिति में जनता का विपन्न होना स्वाभाविक और निश्चित है।"[115]

इस प्रकार किसानों को दोहरी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जैसे शीतकाल में सनसन बहती हवा में 'गोदान' का होरी अपने तार-तार हुए कम्बल, फटी हुई मिरजई के साथ और शीत के झोंकों से गीली हुई पुआल पर सोने का असफल प्रयास करता है, वहीं दूसरी ओर गर्मी के दिनों में पानी न बरसने से सूखे की नौबत आती है। इन विपत्तियों के साथ 'प्रेमाश्रम' में महामारी का प्रकोप प्रेमचन्द के किसानों को बर्बाद करता है और रही सही कसर 'आधार' कहानी में साँड हरे-भरे खेतों को नष्ट करके करता है।"[116] प्राकृतिक प्रकोपों से नष्ट हुए अपने हरे भरे खेतों के संबंध में मधुबन (संग्राम) कहता है, "कल इन्हीं खेतों को देखकर केसी गज भर की छाती हो जाती थी। ऐसा जान पड़ता था, सोना बिछा दिया गया है। बित्ते-बित्ते भर की बालें लहराती थीं पर अल्लाह ने सारा सब सत्यानाश कर दिया।"[117] प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि दैवीय आपदाओं और किसानों में गहरा सम्बन्ध होता है। लेकिन कहीं न कहीं इन दैवीय आपदाओं में मानवीय पक्षों की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। जैसे यदि होरी का कंबल तार-तार न होता, उसकी मिरजई फटी न होती और उसके पास रोग को दूर करने के लिए औषधि खरीदने भर को पैसा होता तो संम्भव था कि वह इन दैवीय विपत्तियों का सामना कर पाता।

प्रेमचन्द के समाधान सम्बन्धी सुझाव

यह एक महत्वपूर्ण सत्य था कि "आगामी कुछ महीनों में मुख्य मुद्दा कृषि सुधार है और मुझे आशा है कि हम सब, चाहे हमारे एक-दूसरे से कितने ही मतभेद हों, मिलकर लम्बे समय से लम्बित पड़े किसानों के भार (समस्याओं) को समाप्त करना होगा।"[118] किसानों की समस्याओं के समाधानों के प्रति प्रेमचन्द ने न केवल सरकार वरन् आम जनता और राजनीतिक संगठनों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है। इन समाधानों में उन्होंने किसानों की निर्धनता को दूर करने, ज़मीदारों, करिन्दों, महाजनों, पुलिस एवं अन्य सरकारी पदाधिकारियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन करने, विस्तृत जोतों के लिए चकबन्दी की व्यवस्था करने, सूद की दरों को कम करने आदि को विशेष महत्व दिया है।

प्रेमचन्द यह मानते हैं कि "देश की आर्थिक स्थिति में सुधार से ही किसानो की आर्थिक स्थिति में सुधार आएगा। गाँवों में जो रोग हैं, उसका प्रधान कारण निर्धनता है, किसानों का गन्दा रहना नहीं। गन्दगी तो उनकी विवशता है। यदि वह निर्धन न हों तो गन्दगी भी न रहे।"[119] पंडित नेहरू ने 'निर्धनता' को भारतीय किसानों की

प्रमुख समस्या मानते हुए इसके समाधान के लिए प्रस्ताव पारित करने की वकालत की, "यद्यपि इससे उनकी समस्याओं का पूर्णतया समाधान नहीं होगा, लेकिन कम-से कम उनकी विपत्तियों और कठिनाइयों में कमी आएगी।"[120] 'गोदान' में सोना, जिसकी आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है, के घर का वर्णन किया है, जहाँ न तो गन्दगी है और न ही रोग।"[121] "किसानों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए ऐसे उद्योगों को विकसित करना चाहिए जिससे वह अपने खाली समय का उपयोग कर सके। ब्रिटिश भारत में ऐसे घरेलू उद्योगों का सर्वथा आभाव है, जो कृषक निर्धनता का प्रमुख कारण है। क्योंकि इससे जो अतरिक्त आय होती थी, वह समाप्त हो गई।"[122] वास्तव में "यह काम असंगठित रूप से सफल नहीं हो सकता। इसे या तो सहकारी सोसाइटियों के हाथ में दिया जाना चाहिए या सरकार को खुद अपने हाथ में रखकर व्यापार और उद्योग विभाग के द्वारा इसका संचालन करना चाहिए एक प्रान्त में बहुत सी ऐसी चीजें हैं जिनकी खपत नहीं है, मगर दूसरे प्रान्तों में उनकी अच्छी खपत है ऐसे उद्योगों का प्रचार किया जाना चाहिए।"[123]

कृषक निर्धनता का समाधान करने के लिए प्रेमचन्द मशीनीकरण का विरोध करते हैं, "जो काम पचास आदमी मिलकर करते थे, उसे एक आदमी मशीन के जोर से पूरा कर लेगा। बेकारी बढ़ाने का इसके सिवा और क्या इलाज है? मिलों में दो चार सौ मज़दूर काम करेंगे अवश्य, पर दस पाँच हजार किसानों को तबाह करके।"[124] इसीलिए वह किसानों के संघ का सुझाव देते हैं जिसमें किसानों के हितों के लिए सामूहिक प्रयास संभव होगा। 1933 में बस्ती और गोरखपुर में ऊख के किसानों का संघ बनने पर प्रेमचन्द ने उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा — "यह संघ उनके (किसानों) हितों की मिल वालों से रक्षा करेगा।"[125]

किसानों को कर्ज़ों से बचाने के लिए आवश्यक है कि उन्हें उचित दरों पर ऋण दिलवाने के लिए 'सहकारी बैंक' स्थापित किया जाए। निःसंदेह कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय है, लेकिन उसे प्रोत्साहन देने वालों का सर्वथा आभाव है। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में इन प्रयासों का वर्णन किया है, लेकिन यह इतने अपर्याप्त थे कि किसानों को कोई लाभ पहुँचना संभव नहीं था। उनके अनुसार "ऋणों पर सूद की दर कम करना ही काफी नहीं है बल्कि "ऐसे साधन भी होने चाहिए, जिनसे किसानों को थोड़े सूद पर रुपये मिल सके। इसके लिए कृषि सहायक बैकों को खोला जाना चाहिए, जिनसे किसानों के उद्धार का सबसे आवश्यक अंग उन्हें महाजन के पंजे से निकालना और इसके साथ ही उन्हें हल्के सूद पर रुपये दिलाने की व्यवस्था करना है। यह उद्देश्य बैंकों से ही पूरा हो सकता है।"[126] यद्यपि कहीं-कहीं ऋण समितियों की स्थापना हुई है, लेकिन विडम्बना यह रही कि "निर्धनतम जिलों में, जहाँ किसानों

की सहायता की सबसे बड़ी आवश्यकता थी, वहाँ ऋण समितियों का कोई इस्तेमाल नहीं था।[127] और जहाँ यह ऋण समितियों बनी भी उनमें एक सिरे पर ऐसे लोग थे जो अच्छे खाते-पीते और स्वयं को सदस्य बनाकर असीमित देयता का खतरा अपने ऊपर मोल लेना नहीं चाहते थे। दूसरे सिरे पर ऐसे व्यक्ति थे जो इतने गरीब थे कि उन्हें सदस्यता मिल नहीं सकती थी। अतः यह कभी भी नहीं हुआ कि सहकारिता आन्दोलन में लगी जनसंख्या ने कृषि जनसंख्या का वास्तविक प्रतिनिधित्व किया हो।"[128] लेकिन प्रेमचन्द ने किसानों की मुक्ति ऐसे ही सहकारी आन्दोलनों में देखी थी और 'प्रेमाश्रम' में इसे प्रस्तुत किया।

किसानों की आर्थिक स्थिति में सकारात्मक सुधार करने की एक आवश्यक शर्त है — 'जमींदारों की सहृदयता'। उन्हें यह महसूस कराना चाहिए कि वो किसानों के परिश्रम के बल पर ही एक विलासी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ऐसी विलासिता का वर्णन प्रेमचन्द ने कई स्थानों पर किया है — "वह अत्यन्त रूपवान, सुगठित, बलिष्ठ युवक था। देहात में रहा, न पढ़ना, न लिखना, न मास्टर का भय, न परीक्षा की चिन्ता। सेरों दूध पीता था। घर में भैंसें थी, घी के लोंदे के लोंदे उठाकर खा जाता था, उस पर कसरत का शौक।"[129] अर्थात् इस वैभव का श्रेय किसानों को जाता है कि ज़मींदार के पुत्रों को यह सुख प्राप्त है। अतः ज़मींदारों को किसानों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए जिससे वह भी अपना जीवन व्यतीत कर सके। लेकिन भारतीय ज़मींदार रायसाहब, (गोदान), और राय कमलानन्द, (प्रेमाश्रम), पानी की तरह धन का अपव्यय तो कर सकते हैं, लेकिन किसानों या उत्पादन वृद्धि के लिए नहीं। इसीलिए प्रेमचन्द ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन में ही किसानों की समस्याओं का समाधान देखते हैं।

पं. नेहरू ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन का समर्थन करते हैं, क्योंकि ज़मींदार बिना कुछ किए सर्वाधिक लाभ प्राप्त कर रहे थे, और जो कुछ भी उत्पादन नहीं करते वह देश पर बोझ हैं। "एक आदर्श राज्य वह होगा जहाँ कोई ज़मींदार नहीं होगा। कई देशों में बहुत बड़े-बड़े ज़मींदार थे, लेकिन उनका उन्मूलन कर दिया गया और ज़मीन किसानों को दे दी गई। हमें भी ऐसे प्रयास करने चाहिए।"[130] यद्यपि ज़मींदारों और सरकारी व्यवस्था अर्थात् राजस्व व्यवस्था करने का अधिकार ज़मींदारों को दिया गया। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में इस संबंध को काफी बारीकी से दिखाया है जहाँ लगान वसूली में सरकार प्रत्यक्ष रूप से ज़मींदारों का पक्ष लेती है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर एक कृषि विद्यालय की स्थापना के लिए ज़मींदारों से सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयास करता है। उनका मानना है कि "जब हम दो चार कुएँ खोदवा कर, पटवारी से मिलकर, कर्मचारियों का सत्कार करके आसानी से आमदनी बढ़ा

सकते हैं, तो यह झंझट कौन करें?"[131] अर्थात् उत्पादन सुधारने का प्रयास क्यों किया जाए? अतः जब तक ज़मींदारों की ऐसी मनोवृत्ति में परिवर्तन नहीं आएगा। तब तक कृषक और कृषि व्यवसाय अथवा उत्पादन की उपेक्षा होगी। "इसका एकमात्र उपाय यही है कि किसान स्वयं को संगठित करें और उन पर अत्याचार करने वालों से निपटने के लिए अपनी पंचायतों का गठन करें।"[132]

प्रेमचन्द अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से ज़मींदारों को उनके कर्तव्य अर्थात् किसानों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाने की सलाह देने का प्रयास करते है। यदि एक भी ज़मींदार उनकी शिक्षा के आधार पर अपने आसामियों के साथ सहृदयता का व्यवहार करेगा तो प्रेमचन्द जी के प्रयासों को कुछ सफलता मिलेगी। इस प्रकार प्रेमचन्द के अनुसार ज़मींदारी प्रथा को समाप्त किए बिना किसानों का उद्धार संभव नहीं।"[133]

ज़मींदारों के साथ-साथ उनके कारिन्दों, जो व्यावहारिक रूप से लगान एकत्र करते और किसानों पर अत्याचार करते, को भी प्रेमचन्द ने मानवीय दृष्टिकोण अपनाने का सुझाव दिया है। यह प्रयास उन्होंने 'प्रेमाश्रम' में गायत्री के माध्यम से किया है — "पेट को गरीबों की हाय से तो मरना अच्छा नहीं। अगर हम उनकी भलाई नहीं कर सकते तो इतना ही करें कि हमारे हाथों उनका अहित न हो।[134] यद्यपि कारिन्दों के अत्याचार पूर्ण व्यवहार के लिए प्रेमचन्द व्यवस्था और कारिन्दों की अधिकारी प्रवृत्ति को दोषी मानते हैं। अर्थात् एक ओर उनका वेतन कम होता है, वहीं दूसरी ओर लगान एकत्र करते समय वह स्वयं को कर्मचारी न समझकर अधिकारी ही मानते हैं। अतः इसके लिए जरूरी है कि उनका वेतन बढ़ाया जाए और उनकी मानवता को जाग्रत् किया जाए। 'उपदेश' कहानी में प्रेमचन्द ने यह संकेत दिया है कि ऐसी समस्याओं के समाधान के लिए स्वयं ज़मींदारों को गाँव में रहना चाहिये। तभी वह अपना और अपने आश्रितों का उद्धार कर पाएँगे। कारिन्दों की तरह हाकिमों के लिए 'कर्मभूमि' में कुछ सुझाव समरकान्त के माध्यम से दिए हैं "फर्ज़ में थोड़ी सी मिठास मिला देने से किसी का कुछ नहीं बिगड़ता, हाँ, बन बहुत जाता है। ये बेचारे किसान ऐसे हैं कि थोड़ी सी हमदर्दी करके आप इन्हें अपना गुलाम बना सकते हैं। हुकूमत यह बहुत झेल चुके, अब भलमंसी का बर्ताव चाहते हैं। जिस औरत को तुमने हण्टरों से मारा, उसे एक बार माता कहकर उसकी गर्दन काट सकते थे। यह मत समझो कि तुम उन पर हुकूमत करने आए हो, यह समझो कि तुम उनकी सेवा कर रहे हो।"[135]

इसी प्रकार अन्य पदाधिकारी भी जैसे वकील, डॉक्टर आदि सहृदयता द्वारा किसानों की काफी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं।[136] 'प्रेमाश्रम' के

डॉ. प्रियनाथ और इरफान अली की तरह यदि समाज के सभी वर्ग किसानों के लिए अपने हितों का आंशिक बलिदान करें तो यह प्रेमचन्द के समाधानों की सफलता होगी।

खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए सरकार केवल प्रचार और प्रदर्शन तक ही सीमित थी और वह भी शहरों में। इस संबंध में वह मानते हैं कि "अच्छे औजारों, अच्छे बीजों, अच्छी खादों को केवल दिखा देना ही काफी नहीं है। सौ में दो किसान इस प्रदर्शन का फायदा उठा सकते हैं। जिनको भोजन का ठिकाना नहीं है, जो नाक तक ऋण के नीचे दबा हुआ है, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह नई तरह के बीज या औजार या खाद खरीदेगा। उसे तो पुरानी लीक से जौ भर हटना भी दुस्साहस मालूम होता है।"[137] अतः प्रेमचन्द किसानों को आधुनिक संसाधनों तथा तकनीकों के प्रति जाग्रत् करने के लिए सरकारी सहयोग का समर्थन करते हैं। प्रेमचन्द इसके लिए सरकार को दोष नहीं देते, 'प्रेमाश्रम' में डिप्टी ज्वालासिंह की तहकीकात द्वारा वह स्पष्ट करते हैं कि "हमारी सरकार को किसानों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं है। दूसरी ओर प्रेमचन्द औद्योगिकीकरण का भी समर्थन नहीं करते, क्योंकि यह उनकी रचनाओं के प्रमुख पात्र किसानों के लिए हितकारी नहीं था।"[138]

सरकार किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए शिक्षा के प्रचार पर भी बल देती है। लेकिन प्रेमचन्द किसानों के लिए ऐसी शिक्षा का समर्थन करते हैं जिससे उनमें अपने अधिकारों के प्रति जाग्रति उत्पन्न हो न कि शिक्षा प्राप्त कर शहरी बाबू बन जाएँ। अमरीका या यूरोप की बड़ी-बड़ी मशीनें भारतीय किसानों के लिए व्यर्थ है। "यदि नए यन्त्रों और नई तकनीक का प्रदर्शन करना हो तो यह सम्पन्न ज़मींदारों के समक्ष करना चाहिए। तभी आधुनिक कृषि संबंधी शिक्षा उपयोगी होगी। क्योंकि हमारे जमीदार ही 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर की तरह उसका प्रयोग कर सकते है।"[139]

प्रेमचन्द यह भी मानते हैं कि किसानों की स्थिति में सुधार सरकारी प्रयासों विशेषकर उसके द्वारा आर्थिक सहायता देकर और सहकारी प्रयासों द्वारा संभव है। 1934 में 'किसान सहायक एक्ट' किसानों की रक्षा के लिए बना था। "मगर हुआ यह है कि किसान तो पीछे रह गए, बड़े-बड़े ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों के हित को ही प्रधानता दी गई। किसान ने कर्ज़ लिया है बैलों के लिए या बीज के लिए या खाने के लिए। उसको यदि सरकार ऋण से मुक्त करा दे, तो वह कृषक समाज का उद्धार करेगी। ज़मींदारों ने कर्ज़ लिया है ऐयाशी के लिए, शराबखोरी के लिए, बड़े-बड़े महल बनवाने के लिए। उनके हित के लिए किसानों को दबाया जाए, जो समाज में ज़मींदारों से कहीं उपयोगी है।"[140] सरकार ने समय समय पर उनकी (किसानों की) रक्षा के लिए कानून बनाए इनका इतना फायदा तो जरूर हुआ कि उनकी पतनोन्मुखी

प्रगति रुक गई, लेकिन उन्नति के लिए दशाएँ अनुकूल न हो सकीं। हम इतना अवश्य चाहते हैं कि सरकार और ज़मींदार दोनों ही इस बात को न भूल जाएँ कि किसान भी मनुष्य है, इसलिए लगान बाँधते समय इस बात का ख्याल रखें कि किसानों को कम-से-कम खेती में इतनी मजूरी तो मिल जाय कि वह अपने बाल-बच्चों का पालन कर सकें।"[141]

इसके अतिरिक्त यह सरकार का ही दायित्व है कि सूद की दर निश्चित की जाए, किसानों की ज़मींदारों से रक्षा की जाए और सरकारी लगान में मंदी तेजी के अनुसार कमी-बेशी होनी चाहिए।"[142] साथ ही किसानों को भूमि पर स्वामित्व मिले और उनको ऋणग्रस्तता से मुक्त किया जाय। "ऋणग्रस्तता को वैधानिक उपायों द्वारा समाप्त करने की सरकारी कोशिश नाकामयाब रहीं। 1928 के रायल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर की रिपोर्ट के अनुसार, "ऋणग्रस्तता की समस्या के समाधान के लिए किए गए वैधानिक प्रयास अपेक्षाकृत असफल रहे हैं।"[143] लेकिन जब तक किसानों को पूर्णतया ऋणमुक्त नहीं किया जाता और जब तक उनकी गरीबी से संबंधित सभी समस्याओं पर आघात कर उन्हें पूरी सुरक्षा प्रदान नहीं की जाती तब तक भारतीय कृषि की समृद्धि की आशा बेकार है।"[144] प्रेमचन्द ने इस ऋणग्रस्तता के भीषणतम प्रभावों को 'गोदान' में दिखाया है।

प्रेमचन्द देश को स्वाधीन बनाना या केवल अंग्रेज़ों को बाहर निकलना ही नहीं चाहते थे बल्कि वह किसानों के भाग्यवाद को, जो "सरकार का सबसे बड़ा टैक्स कलेक्टर" है, भी मिटाना चाहते थे। इसलिए उनका यह मत होता जा रहा था कि "किसान के लिए लगान आधा हो जाना उतना उपकार नहीं है, जितना अन्धविश्वास और मिथ्या रस्म-रिवाजों से मुक्त होना या नशे से परहेज करना। आपस में जो कलह बढ़ता जा रहा है और लोगों में मुकदमेबाज़ी का जो चस्का पड़ता जाता है इसे रोकना, किसानों को कारिन्दों, पटवारियों और दूसरे अमलों के जुल्म से बचाना उनकी इससे कहीं बड़ी सेवा है कि उनका लगान कुछ कम हो जाए।"[145] और इसीलिए वह स्वराज्य की माँग करते हैं। पंडित नेहरू किसानों की समस्त समस्याओं का समाधान 'स्वराज्य प्राप्ति' मानते हैं।"[146] उन्होंने लिखा कि "किसानों की सभी समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जब देश की सबसे बड़ी समस्या अर्थात् भारत की स्वतन्त्रता, का समाधान होगा।"[147]

भारतीय किसानों की भूमि छोटी जोतों की होती है, इसलिए प्रेमचन्द का मानना है कि "जमाबन्दियाँ जितनी छोटी होती हैं, उन पर खेती का खर्च उतना ज्यादा बैठता है। इसलिए ज़मीन के लगान की दर में नए सिरे से तरमीन होनी आवश्यक है। बेशक उससे ज़मींदारों की आमदनी कम हो जाएगी और सरकार को

अपने बजट बनाने में बड़ी कठिनाई पड़ेगी, लेकिन किसान के जीवन का अन्य सभी हितों से कहीं ज्यादा मूल्य है।"[148] प्रत्येक किसान के पास इतनी ज़मीन होनी चाहिए जिस पर वह और उसका परिवार उत्पादन करे। "उसे एक निश्चित रकम लगान के रूप में देश की मुख्य पंचायत को देनी चाहिए। यह पंचायत देश की सरकार होगी, लेकिन वह राज्य जनता के प्रति उत्तरदायी होगा। इससे किसानों की आय बढ़ेगी और वह अधिक आत्मनिर्भर होंगे। राष्ट्रीय राजस्व में भी वृद्धि होगी।"[149]

प्रेमचन्द के अनुसार चकबन्दी की अपेक्षा "कृषि के अन्य सुधारों के लिए रुपये, समय और शिक्षा की जरूरत है, लेकिन इस सुधार के लिए तो सरकार को एक पैसा भी खर्च न करना पड़ेगा। थोड़ी सी तवज्जह से किसानों का बहुत बड़ा फायदा हो जाएगा और हमें विश्वास है कि पैदावार भी बढ़ जाएगी। वह सुझाव देते हैं कि गाँव की मिट्टी को पैदावार के हिसाब से दो-तीन टुकड़ों में बाँटना पड़ेगा-बलुआ, काली मिट्टी और कंकरीली आदि। इसके बाद गोइड़ (आबादी के निकट) और वाही (आबादी से दूर) का विचार करके हरेक किसान को ज़मीन बाँट दी जाएगी। सोलह आने पैदावार की ज़मीन के लिए एक बीघे के बदले आठ आने पैदावार के दो बीघे मिल जाएँगे। किसानों को तो लाभ होगा ही, सरकार को भी लाभ होगा। पटवारियों का काम बहुत हल्का हो जाएगा और वह ज़मीन, जो मेड़ों से घिरी हुई है और जिसके बारे में हमेशा किसानों में झगड़े होते रहते हैं, खेत में मिल जाएगी। किसान भी इस सुधार का स्वागत करने को तैयार हैं। जब तक चकबन्दी न की जाएँगी, कृषि में सुधार न होगा, न नई जिन्सें पैदा की जा सकेंगी। कृषि की उन्नति की यह पहली सीढ़ी है और हमें आशा है, सरकार इसे हाथ में लेने में देर न करेगी।"[150] "इस प्रकार भारतीय बुद्धिजीवियों ने बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए खेती की इकाई के रूप में बड़े सुसंबंद्ध भूक्षेत्रों की आवश्यकता पर बल दिया।"[151]

1932 में सरकार द्वारा किसानों की भूमियों की चकबन्दी के फैसले की प्रशंसा करते हुए लिखा, "चकबन्दी हो जाने से इतना फायदा होगा कि किसान अपने चक (खेतों) को बाड़ों से घेर सकेगा, अपने कुएँ बनवा सकेगा, खेतों की निगरानी कर सकेगा। इससे उसकी उपज में कुछ बढ़ती होने की आशा हो सकती है।"[152] अन्यथा जोतों का आकार दिन-पर-दिन छोटा होता जाएगा। 'बलिदान' में हरखू की खेती कई हलों की है, जो बाद में केवल एक हल की रह जाती है। 'बेटी का धन' कहानी में सुक्खू चौधरी की केवल एक हल की खेती है, 'नेउर' कहानी में नेउर के पास पहले सात हलों की खेती थी, पर बाद में वह इतना सम्पन्न नहीं रहा। 'गोदान' में तीनों भाइयों, होरी, शोभा और हीरा, की एक-एक हल की खेती थी, लेकिन अन्ततः यह तीनों ही किसान नहीं रहे।"[153]

प्राकृतिक विपत्तियों के सम्बन्ध में सरकार का यह स्पष्टीकरण था कि यह ईश्वर का विधान थे और उन्हें रोकने अथवा हटाने की दिशा में मानव कुछ भी करने में असमर्थ है। 1900 में लॉर्ड कर्जन ने आकालों के संबंध में कहा कि "कोई भी सरकार न तो आकाश पर नियन्त्रण रख सकती है और न ही प्रकृति के इतने बड़े पैमाने पर विनाशकारी रूप की तथा उसके परिणामों के पहले से ही कल्पना कर सकती है।"[154] लेकिन राष्ट्रीय मान्यता प्राकृतिक प्रकोपों को मानवीय असफलता का परिणाम मानती है, जिन्हें रोका जा सकता है। "प्रकृति कितनी भी क्रूर क्यों न हो अपर्याप्त वर्षा के कारण फसलें कितनी भी थोड़ी क्यों न हुई हों अपने आप में दुर्भाग्य और दुखरूप आकाल तथा सूखा, जिससे बहुसंख्यक जनता नष्ट हो गई है, रोके जा सकते थे।"[155] प्रेमचन्द इस क्षेत्र में प्रयासों के आभाव को 'कामना तरु' में जंगली पशुओं के रूप में, 'आधार' में साँड के रूप में, 'पूस की रात', में नीलगाय के रूप में, 'घमण्ड का पुतला' में बाढ़ के रूप में, 'कर्मभूमि' में सूखा और 'गोदान' में आकाल के रूप में वर्णित करते हैं। इसीलिए वह इस क्षेत्र में सरकारी प्रयासों को प्राथमिकता देते हैं, जिनके पास धन साधन और नवीनतम आविष्कारों द्वारा इन प्राकृतिक विपत्तियों से किसानों की रक्षा करने के साधन है। अतः इन विपत्तियों का समाधान संभव है और "कृषि विभाग ने इस विषय में बहुत कुछ खोज लिया है और जरूरत है कि उसकी परीक्षित अनुभूतियाँ किसानों के कानों तक पहुँचाई जाए।" इसके लिए "दफ्तरी ढंग की नहीं, मिशनरी उद्योग की जरूरत है।" अब सरकार को किसानों के अनुसार अपनी नीति का निर्माण करना पड़ेगा।"[156] तभी इस समस्या का समाधान संभव है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने किसानों की उन सभी समस्याओं का समाधान देने का प्रयास किया है जिन्होंने उसके जीवन को कष्टमय बनाया है। इन समाधानों की सफलता के लिए कृषि व्यवसाय से संबन्धित सभी वर्गों के साथ-साथ बुद्धिजीवियों और सबसे महत्वपूर्ण सरकारी सहयोग की आवश्यकता होगी।

भारतीय परिस्थितियों में प्रेमचन्द के लिए यह संभव नहीं था कि वह किसानों की समस्याओं के समाधान के लिए कोई कसर छोड़ते। मई 1934 में उन्होंने शिवरानी देवी से कहा — "धुन्नू को सब काम सौंपकर हम और तुम दोनों देहातों में किसानों का काम करेंगे। क्योंकि जो हालत आजकल काश्तकारों की है, जब तक कोई उनके बीच में रहकर काम नहीं करेगा, तब तक उसकों सुधारना बहुत मुश्किल है। जरूरत है कि खुद उनके बीच में रहकर उनमें काम करें। जो उनके बीच रहकर के साल दो साल में हो सकता है वह लम्बी-लम्बी स्पीचों से काफी दिनों में भी होना कठिन है।"[157]

प्रेमचन्द के सुझावों की सार्थकता

प्रेमचन्द ने किसानों की समस्याओं के जो समाधान दिए हैं उन्हें यदि व्यावहारिकता की कसौटी पर कसा जाए तो सबसे पहला प्रश्न ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन' से संबंधित होगा। "लेकिन यह सर्वविदित है कि ज़मींदारों का एक प्रभावशाली वर्ग है और ब्रिटिश सरकार उनकी सरपरस्त है। अतः इनका उन्मूलन आसान नहीं होगा।"[158] दूसरी ओर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यदि ज़मींदार किसानों के प्रति नम्रता का व्यवहार करेंगे, जैसा कि प्रेमचन्द ने कहा, तो किसान इस नम्रता को उनकी कमजोरी नहीं समझेंगे? "इस स्थिति में उनकी स्थिति श्रेष्ठ हो जाएगी और संभव है कि भविष्य में वह ज़मींदारों का अपमान करें। "हमारे दृष्टिकोण से इस सुधार से किसानों का व्यवहार ज़मींदारों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सम्मानीय हो जाएगा।"[159] 'प्रेमाश्रम' का मायाशंकर, जो मूलतः एक ज़मींदार है, किसानों के साथ मित्रता और समानता का व्यवहार करता है। इसीलिए वह किसानों के लिए अपेक्षाकृत अधिक सम्मानीय है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य ज़मींदारों का सम्मान नहीं होता, लेकिन इन दोनों सम्मानों में एक बुनियादी अन्तर है और वह अन्तर है, "भयमुक्त सम्मान और भययुक्त सम्मान।"[160]

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में प्रेमशंकर द्वारा 'प्रेमाश्रम' की स्थापना कराई, जहाँ मानवतावादी प्रकृति के लोग एकत्र हों, उनमें जागरूकता आए और वह किसानों के बीच मिशनरी कार्य करें, ताकि उन्हें अपने अधिकारों से अवगत करा सकें। लेकिन कुछ आलोचकों के अनुसार वास्तव में 'आश्रम' से समाधान ढूँढना तत्कालीन समाज और प्रेमचन्द की सीमा है। हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े बुद्धिजीवी बाहर से आए और एक-एक आश्रम बनाकर बैठ गए। गाँधीजी ने 'साबरमती' में आश्रम खोला, अरविन्द घोष पांडिचेरी चले गए थे और रविन्द्रनाथ टैगोर ने भी शान्तिनिकेतन बसाया था। इसी तरह प्रेमशंकर भी हाजीपुर चले गए। उस समय प्रेमचन्द को यह व्यावहारिक हल मिला था। प्रेमचन्द ने अन्त में लखनपुर का जो चित्र खींचा है वह क्रान्ति के बाद का गाँव नहीं है, जैसा कि अधिकतर आलोचकों ने माना है, बल्कि बिना ज़मींदारों का गाँव है। प्रेमचन्द के अनुसार यह खुशहाली ब्रिटिश राज्य में मिल सकती है।"[161]

इसके अतिरिक्त एक प्रश्न और उठता है कि क्या प्रेमचन्द द्वारा दिए गए समाधानों को कार्यान्वित किया जा सकता है? क्या यह संभव है कि हमारे सभी ज़मींदार, मायाशंकर की तरह नम्र व्यवहार वाले, वकील इरफान अली की तरह किसानों की समस्याओं को समझने वाले और डॉ. प्रियनाथ की तरह किसानों के प्रति उदारता का व्यवहार करेंगे और उनके हितों के लिए अपने व्यक्तिगत लाभ का त्याग

करेंगे? "तत्कालीन समाज का प्रत्येक वर्ग आसानी से उपलब्ध भौतिक साधनों और आर्थिक उन्नति, जो पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव है, को आसानी से त्याग नहीं पाएगा। अतः यह असंभव तो नही, लेकिन कठिन अवश्य लगता है। यदि वे प्रेमचन्द के बताए गए सुझावों पर अमल करेंगे तो शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेंगे। निःसन्देह उन्हें न तो अत्यधिक भौतिक लाभ मिलेगा और न ही आर्थिक दृष्टिकोण से अत्यन्त सम्पन्न रहेंगे, लेकिन जो सहयोग और आत्मिक आनन्द उन्हें प्राप्त होगा वह अमूल्य होगा।"[162]

यह तथ्य उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द ने जो सुझाव किसानों के लिए दिए उनसे किसानों की आर्थिक दशा पर क्या प्रभाव पड़ा। 'प्रेमाश्रम' में मायाशंकर ने अपने किसानों को प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता दी, जिसके परिणामस्वरूप किसानों की स्थिति वैसी नहीं थी, जैसी आरम्भ में थी। परिवर्तित परिस्थितियों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा, "बाबू मायाशंकर घोड़े पर सवार लखनपुर में दाखिल हुए। उन्हें वहाँ बड़ी रौनक और सफाई दिखाई दी। प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे। फूस के झोंपड़े गायब हो गए थे, अब सभी घरों में खपरैल थे। पुराने चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कुआँ और धर्मशाला थी। मायाशंकर को देखते ही गाँव वाले अपने काम धंधे छोड़कर आ गए, सब ने उन्हें घेर लिया।"[163] इस प्रकार प्रेमचन्द ने यह संकेत दिया है कि जिन किसानों के पास खाने-पहनने का ठिकाना नहीं था, जो गन्दगी के साथ कच्चे घरों में रहते थे, वही किसान सुधारों के बाद पक्के और साफ-सुथरे घरों में रहते हैं। साथ ही अब उनकी आर्थिक स्थिति में काफी सुधार आया। इस सम्पन्नता का वर्णन करते हुए कादिर मियाँ कहते हैं, "मुझी को देखो, पहले बीस बीघे का कास्तकार था। 100 रुपये लगान देने पड़ते थे। दस बीस रुपये साल नज़राने में निकल जाते थे। अब 20 रुपये लगान है और नज़राना नहीं लगता। पहले अनाज घर तक नहीं आता था। आपके चपरासी, कारिन्दे वहीं गला दबाकर तुलवा लेते थे, अब अनाज घर में भरते हैं दो साल में कुछ नहीं तो कम-से-कम तीन-चार सौ बचे होंगे। मालगुजारी दाखिल करके चुपके से घर चले जाते हैं। नहीं तो जान सूली पर चढ़ी रहती थी।"[164]

प्रेमचन्द के समाधनों की सार्थकता पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति द्वारा ही संभव थी, जब समस्त शक्तियों के प्रयोग पर भारतीयों का अधिकार होगा और वह देश के धन को देश में ही व्यय करेंगे। अतः देश की स्वतन्त्रता के साथ कृषि का मुक्त विकास ही 'राष्ट्रीय योजनाओं का मुख्य उद्देश्य है। "लेकिन ऐसी किसी भी योजना की सफलता की एक आवश्यक शर्त यह है कि राजनीतिक सत्ता भारतीय जनता के हाथ में हो। सुनियोजित और समृद्ध राष्ट्रीय कृषि के लिए देश की अपनी राष्ट्रीय सरकार

आवश्यक है।"[165] क्योंकि "किसानों का धन 'देश का धन' होता है, यदि इनको सुखी बनाना कर्तव्य समझा जाता है, मरे को न मारना यदि धर्म समझा जाता है और यदि किसानों की दीन दशा सुधारना ही सच्चा सुधार समझा जाता है, तब हमें प्रेमचन्द के उपायों को अपनाने पर वह सफलता मिल सकेगी। जिसका अन्त भारतीय पारिवारिक जीवन संबंधी आदर्श के ढंग पर शान्ति प्राप्त करने में होगा। पाश्चात्य भौतिक उन्नति के ढंग का नहीं, जिसका अन्त कलह और अशान्ति में होता है।"[166] यद्यपि अपने अन्तिम उपन्यास 'गोदान' को लिखते समय किसानों की समस्याओं के निवारण और "उनकी स्थिति में सुधार के लिए जो सुझाव प्रेमचन्द ने दिए उसे अब व्यर्थ मानने लगे थे। उन्होंने यह महसूस किया कि लोकतन्त्र के विस्तार ने बड़े साहूकारों, व्यापारियों और महाजनों के शासन को सिद्ध किया है। उनकी किसानों पर पकड़ मजबूत हो गई है।"[167] और इस पकड़ से किसानों की मुक्ति सम्मिलित सहयोग से ही संभव है। इन्हीं संयुक्त प्रयासों से ही प्रेमचन्द ग्रामीण अर्थव्यवस्था में सुधार की संभावना तलाशते थे।

निष्कर्ष

गहन चिन्तन और मनन के बाद प्रेमचन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि "किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार किए बिना उसकी कोई भी समस्या नहीं सुलझ सकती।"[168] क्योंकि किसानों की सभी समस्याएँ मुख्यतया उसकी आर्थिक स्थिति से संबंधित होती है। इसके बावजूद भारत की अस्सी प्रतिशत जनसंख्या खेती पर निर्भर है, तो संभवतः इसलिए कि किसानों का मानना है कि "वे कृषक हैं किसी के गुलाम तो नहीं।"[169] फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने कहीं इस तथ्य से अपने किसानों को अवगत कराने का प्रयास करते हैं कि 'खेती केवल मर्यादा' की रक्षा का साधन मात्र रह गयी थी। जीविका का भार मज़दूरी पर आ पड़ा।"[170] प्रेमचन्द की इस मनोवृत्ति का कारण किसानों की बढ़ती बेदखली और खेत मज़दूरों की संख्या में आई अप्रत्याक्षित वृद्धि थी।[171]

किसानों के प्रति पूरी हमदर्दी रखते हुए भी, उनके शोषण और दमन के प्रसंगों के खिलाफ उनके संघर्ष में पूरी तरह उनका साथ देते हुए भी, प्रेमचन्द ने उनके भीतर के परम्परागत सामन्ती संस्कारों और उनसे उत्पन्न बहुत सारी मिथ्या धारणाओं की स्वयं आलोचना की है, जो जीवन यथार्थ के सूत्रों को ढकने में मदद करती है। 'प्रेमाश्रम' से लेकर 'गोदान' में उनकी यह आलोचना दिखाई देती है।[172] 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर "अर्थशास्त्रवेत्ताओं की तरह कृषकों पर फिजूलखर्ची, आलस्य, अशिक्षा या कृषि विधान से अनभिज्ञता का दोष लगाकर इस प्रश्न (अर्थात् कृषक दुरावस्था)

को हल न करते थे। उनकी दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों पर है, जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है, आपस में फूट, स्वार्थपरता और एक ऐसी संस्था का विकास, जो उनके पाँव की बेड़ी बनी हुई है।"[173] और यह सभी परिस्थितियाँ ज़मींदारी प्रथा पर आधारित हैं। इस दुरावस्था के सामन्यतया जो कारण बताये जाते हैं, अर्थात अंधविश्वास अज्ञान और सामाजिक पिछड़ापन, वह रजनी पाम दत्त के मुहावरे में 'गाड़ी को घोड़े के आगे रखने' की तरह थे। वास्तव में भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीति किसानों की दरिद्रता का मुख्य कारण था। इसीलिए पंडित नेहरू 'पूर्ण स्वतन्त्रता' द्वारा ही इनका उद्धार संभव मानते हैं।"[174] "राष्ट्रवादियों ने भारतीय कृषि के पुनरुद्धार और पुनर्गठन के लिए ब्रिटिश सरकार पर, जिन्होंने भारत में नई कृषि व्यवस्था की बुनियाद रखी थी, दबाव डाला। यह ब्रिटिश नीति का ही परिणाम था कि भारतीय जनता में कृषि के विषय में राष्ट्रीय हित की भावना का विकास हुआ और इस राष्ट्रीय भावना के उदय के साथ-साथ कृषि को समृद्ध बनाने की दिशा में भी प्रयास हुए।"[175] क्योंकि इसकी उपेक्षा करके भारतीय समाज और राष्ट्र की उन्नति नहीं हो सकती है।

प्रेमचन्द की गहन दृष्टि लगान चुकाने की समस्याओं, लगान वृद्धि की समस्याओं, उनके परिणामस्वरूप किसानों पर पड़ते बोझ, बेगार, ज़मींदारों की प्रतिष्ठा और अहम् महाजनों का अत्याचार, कारिन्दों और सरकारी कर्मचारियों की शोषण-वृत्ति और व्यवस्थागत प्रश्नों पर गई है। यह सभी प्रश्न सामंतवादी व्यवस्था के परिणाम है।"[176] इसी व्यवस्था के परिणाम को 'कुन' का घीसू साम्राज्यवादी शासन के पूर्व की स्थिति से तुलना करते हुए कहता है, "वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती है। शादी व्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो! गरीबों का माल बटोर-बटोर कर कहाँ रखोगे। बटोरने में तो कमी नहीं है, हाँ, खर्च में क़ियायत सूझती है।"[177] इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राधाकमल मुखर्जी ने यह धारणा बनाई कि "कृषि पर निर्भर भारतीय जनता आज बेहद अपर्याप्त साधनों से काम चलाती है। पिछले पचास वर्षों में यह स्थिति और भी बुरी होती जा रही है। छोटी जोतवालों की आर्थिक स्थिति खराब हुई जबकि ज़मींदारों और ज़मीन से वंचित किए गए किसानों, लगान वसूली करने वाले वर्ग और खून-पसीना एक करने वाले कृषि सम्बन्धी हमारे इतिहास के एक नाजुक दौर की सूचना देता है। किसानों में वर्ग-चेतना की एक अस्पष्ट आवाज उठने लगी, यह कृषि के क्षेत्र में व्याप्त मौजूदा साम्राज्य को चुनौती दे रही है।"[178]

निःसन्देह बढ़ते हुए कृषि दासों, खेत-मज़दूरों, की संख्या गरीबी, शोषण आदि में आने वाले तूफान की सूचना दे रहा था। उस तूफान के कुछ लक्षण परिलक्षित भी

होने लगे थे। भारत के सभी भागों में लगान वृद्धि, ऋणों के बदले बँधुआ मजदूर बनाने, बेदखली, कुर्की आदि के विरुद्ध आन्दोलन ही नहीं किए वरन् अनेक स्थानों पर बेदखली की ज़मीनों, कुर्की के खेतों में नीलामी का बहिष्कार किया तथा सूदखोर महाजनों के विरुद्ध ग्राम समितियाँ बनाई गई। प्रेमचन्द को इन सभी परिस्थितियों का पूर्व ज्ञान था जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा सामान्य जनता तक पहुँचाया। उनका मानना था कि "जनता स्वयं इस ओर आगे नहीं बढ़ेगी, क्योंकि निरन्तर शोषण ने उसे इस तरह भयभीत कर दिया है कि वह अपनी मुक्ति की बात नहीं सोच सकती। इस ओर शासक वर्ग को भी आगे बढ़ना पड़ेगा और अपने स्वत्वों का भी त्याग करना पड़ेगा।"[179]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. रिपोर्ट ऑफ रायल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर, साक्ष्य अभिलेख खण्ड-1, 928.
2. 'हतभागे किसान', प्रेमचन्द, 1 दिसम्बर 1932, 'जागरण' में प्रकाशित लेख, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-8, पृ. 215.
3. 'निरक्षरता की दुहाई', प्रेमचन्द फरवरी 1934 'जागरण' में प्रकाशित लेख.
4. इन्द्र नाथ मदन, 'प्रेमचन्द-एक विवेचन', पृ. 98.
5. 'बलिदान', कहानी, मई 1918, रचनावली, भाग-12, पृ. 92.
6. प्रेमचन्द इतिहास के साथ-साथ', पृ. 62.
7. शशिभूषण पाण्डेय, 'प्रेमचन्द हमारे समकालीन', पृ. 83.
8. लॉर्ड कर्जन, स्पीचीज, खण्ड 7-8 (कलकत्ताः 1900, 1902, 1904, 1906) पृ. 289-90. 1901 में कर्जन ने घोषणा की कि "1897-98 में प्रति व्यक्ति आय तीस रुपये थी।" कर्जन के समर्थन में भारत सरकार के लेखा विभाग के एक उच्चाधिकारीफ्रेड. जे. एटकिंसन बचाव के लिए आगे बढ़े। उन्होंने 'Royals tatisticals ociety' के सामने 1902 में एक पेपर पढ़ा जिसमें उन्होंने ब्रिटिश भारत की आनुपातिक प्रति व्यक्ति आय 1875 में 30.5 रुपये के मुकाबले 1895 में 39.5 रुपये संगठित की थी। एटकिंसन "Statistical Review of the Income and Wealth of British India" 'जरनल ऑफ द रायल स्टैटिकल सोसाइटी', खण्ड 65, भाग-2 जून 1902 पृ. 238।
9. 'हतभागे किसान', प्रेमचन्द रचनावली भाग-8, पृ. 214.
10. 'कर्मभूमि', पृ. 359.
11. 'प्रेमचन्द-हमारे समकालीन', पाण्डेय, पृ. 71.
12. 'प्रेमाश्रम', पृ. 433.
13. वाडिया एंड मर्चेंट, पृ. 198.
14. 'भारतीय अर्थशास्त्र', जाथर और बेरी, पृ. 283-84.
15. 'प्रेमचन्द' और उनका युग, राम विलास शर्मा, पृ. 101.

16. 'गोदान', पृ. 122.
17. वही, पृ. 274, 326.
18. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. नेहरू, भाग-5, पृ. 78. "Another great difficulty is the practice of many Zamindars not to give any receipt for rent paid to them. This is illegal but is none the less a very prevalent practice and a tenant can do little against it"
19. 'गोदान', पृ. 103.
20. A. Nandi's Essay published in 'Indian Politics', 1898 p.106. Nandi was a prominent Congress leader of U.P. Congress.
21. 'किसानों का कर्ज़', 10 जुलाई 1933 'जागरण' में प्रकाशित लेख, रचनावली, भाग-8, पृ. 368.
22. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ प. नेहरू, भाग-5, पृ. 71.
23. 'गोदान', पृ. 102
24. डॉ. सुरेश घींगड़ा, 'प्रेमचन्द की आर्थिक भूमिका', पृ. 16.

    "1882 की जनगणना के आँकड़ों के अनुसार भूमिहीन खेत मजदूरों की संख्या 75 लाख थी जो 1921 में 2 करोड़, 10 लाख और 1931 में 3 करोड़ 30 लाख हो गई थी।" 'यू.पी. प्रोविंशियल कांग्रेस कमेटी', 'अग्रेरियन डिस्ट्रेस इन द युनाइटिड प्रोविंसेंस', इलाहाबाद, 1931, पृ. 26.
25. राम विलास शर्मा, पृ. 103.
26. ए.आर. देसाई, पृ. 45.
27. 'कर्मभूमि', पृ. 360.
28. बिपिन चन्द्रा, 'भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास', पृ. 354.
29. वही, पृ. 16, 1902-03 में गोखले ने राष्ट्रवादियों द्वारा प्रशंसित अपने बजट भाषण में यह तथ्य उजागर किया था। देखें 'नैरोजी स्पीचीज', पृ. 6.
30. 'आइने केसरी की समीक्षा', प्रेमचन्द 1904, रचनावली, भाग-9, पृ. 263.
31. साम्राज्यवादी ज़मींदारों की वफादारी से बहुत प्रभावित थे। अतः 1893 में कार्नवालिस द्वारा लागू की गई 'स्थाई भूमि व्यवस्था' में ज़मींदारों को ही प्राथमिकता दी गई थी। कार्नवालिस का यह मानना था कि ज़मींदार किसानों की अपेक्षा न केवल अधिक समझदार होंगे बल्कि आर्थिक रूप से सम्पन्न होने के कारण वह अपने धन का प्रयोग भूमि की उत्पादकता को बढ़ाने में व्यय करेंगे। परिणामस्वरूप सरकार को प्राप्त होने वाले राजस्व में कमी की संभावना नहीं रहेगी। यद्यपि व्यावहारिक रूप से कार्नवालिस की यह अवधारणा सही साबित नहीं हुई, क्योंकि ज़मींदार अपने धन और सरकार से मिले विशेषाधिकारों का प्रयोग कर केवल किसानों का शोषण करते थे वरन् स्वयं एक विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे थे। कालान्तर में इन्हीं ज़मींदारों ने स्वयं अपने हितों की रक्षा के लिए और सरकार से अपनी माँगें मनवाने के लिए स्थानीय स्तर पर कई संगठन बनाए थे।

31.1 'चम्पारन में महात्मा गांधी', 'प्रताप' में प्रकाशित टिप्पणी, 7 मई 1917

32. 'जमीदारों की दुर्दशा', 'जागरण', 1934, रचनावली, भाग-9, पृ. 28. फरवरी 1934 में प्रेमचन्द ने 'आगरा ज़मींदार सम्मेलन' पर टिप्पणी करते हुए लिखा — "ऐसी मुफ्तखोर, निकम्मी, लुटेरी, आराम तलब संस्था बहुत दिन जीवित नहीं रह सकती, चाहे वह अष्ट धातु के किले ही में क्यों न अपने को बन्द कर लें। लेकिन अगर कोई यह चाहे कि उसे, किसान, को अपना शिकार भी बनाए और उससे वोट भी लें, उसे ठोकर भी जमाए और उससे पाँव भी दबवाये तो उसे लज्जित होना पड़ेगा।" रचनावली, भाग-9, पृ. 58.

33. 'प्रेमाश्रम', पृ. 50-51.

34. वही, पृ. 47.

35. बिपिन चन्द्रा, 'भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास', पृ. 17.

36. 'प्रेमाश्रम' पृ. 51-52.

37. 'कर्मभूमि' पृ. 235.

38. सुमित सरकार, पृ. 52.

39. रजनीपाम दत्त, 'भारत' 'वर्तमान और भावी', पृ. 87.

40. 'गोदान', पृ. 241.

41. "आंवागमन के साधनों और पूँजी के बढ़ते प्रभाव के कारण किसानों को बाजारों की सुविधा उपलब्ध हुई जहाँ फसल कटने के बाद वह अपना अनाज बेच सकते थे। किसान अब खास किस्म की फसल उगाने पर जोर देने लगे।" देसाई पृ. 35-36.

42. देसाई, पृ. 57-58.

43. गोदान, पृ. 332.

44. प्रोसीडिंग ऑफ द काउंसिल ऑफ द गवर्नर ऑफ बाम्बे', 1901, भाग-39, पृ. 247.

45. डी.आर. गाडगिल, पृ. 193.

46. 'गोदान', पृ. 59.

47. सुमित सरकार, पृ. 52.

48. 'भीषण सत्य', 1 अगस्त 1933 'जागरण' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-8, पृ. 408.

49. आर.पी. दत्त, पृ. 184.

50. वही, पृ. 78.

51. 'हतभागे किसान', भाग-8, पृ. 216.

52. रजनीपाम दत्त, पृ. 191-92.

53. 'हतभागे किसान' प्रेमचन्द, पृ. 216.

54. जेड.ए. अहमद, पृ. 3. अहमद द्वारा दिए गए आँकड़ों से यह स्पष्ट नहीं होता कि इन जोतों का आकार क्या था और आर्थिक दृष्टिकोण से यह लाभदायक थीं या नहीं – 1926 के 'एग्रीकल्चर जरनल ऑफ इंडिया' ने जोतों का वर्गीकरण उनके आकार के अनुसार किया–

खेती करने वालों का प्रतिशत

10	एकड़ ऊपर	—	24 प्रतिशत
5-10	एकड़ ऊपर	—	20 प्रतिशत
1-5	एकड़ ऊपर	—	33 प्रतिशत
1	या कम एकड़ ऊपर	—	23 प्रतिशत

इन ऑकड़ों के अनुसार एक से पांच एकड़ भूमि पर खेती करने वालों का प्रतिशत सर्वाधिक था। संयुक्त प्रान्त की स्थिति के सम्बन्ध में 'कांग्रेस एग्रेरियन इक्वायरी कमेटी' ने भी ऐसी छोटी जोतों का वर्णन किया है। विस्तृत रूप से अध्याय 'प्रेमचन्द और भारतीय किसान' में देखें।

55. रजनीपाम दत्त, 'भारत-वर्तमान और भावी', पृ. 82-83.

"इस जबरदस्त दबाव के चलते एक ओर किसानों की आय घटने लगी वहीं दूसरी ओर उसी अनुपात में उन पर ऋणों का भार बढ़ा।"

56. 'आराज़ी में चकबन्दी', प्रेमचन्द, 19 अक्टूबर, 1932, 'जागरण' में प्रकाशित लेख, रचनावली, भाग-8, पृ. 149. देखें, मेहता रिपोर्ट, 1920.

57. देसाई, 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि', पृ. 44. ऐसा नहीं था कि भारत में पर्याप्त भूमि का आभाव था। जमीन के 34.2 प्रतिशत भाग पर ही खेती होती है। 35.2 प्रतिशत भूमि जो खेती के लिए दुस्प्राय है उसे छोड़ने के बाद भी 30.6 प्रतिशत भूमि अभी ऐसी है जिस पर खेती हो सकती है। जेड.ए. अहमद, पृ. 2-3, इसके लिए पूँजी की दरकार होगी और लोगों के पास पूँजी बहुत कम है यह काम तो केवल एक सामूहिक संगठन ही कर सकता है और वह भी सरकारी मदद से।" दत्त, 'भारत वर्तमान और भावी', पृ. 81.

57.1 'रेवेन्यू एडमिनिस्टेशन रिपोर्ट ऑफ एन.डब्लू.पी.एंड़ अवध' 1905-6, फाइल न. 45/1921.

58. दत्त, 'भारत वर्तमान और भावी', 1975, पृ. 82.

59. वही, पृ. 82.

60. देसाई, पृ. 24.

61. 'किसानों का कर्ज़', 10 जुलाई 1933, जागरण में प्रकाशित, रचनावली, भाग-8, पृ. 367.

62. 'गोदान', पृ. 23.

63. वही, पृ. 186.

64. 'प्रेमाश्रम', पृ. 10.

65. 'गोदान', पृ. 179.

66. वही, पृ. 179.

67. 'कुन', कहानी, मई 1917 में 'ज़माना' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-12, पृ. 33.

'पूस की रात', मई 1930, माधुरी में प्रकाशित, रचनावली, भाग-14, पृ. 350.

68. रजनीपाम दत्त, पृ. 61.

69. 'गोदान', पृ. 445.
70. वही, पृ. 148.
71. 'उपदेश', कहानी अप्रैल 1926 'माधुरी' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-13, पृ. 272.
72. देसाई, पृ. 44.
73. 'मुक्तिधन', कहानी मई 1924, 'माधुरी' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-13, पृ. 83.
74. रजनीपाम दत्त, पृ. 83.
75. जी.वी. जोशी, 'गोखले स्पीचीज' पृ. 227, 333, 338, 753..
76. 'उपदेश', कहानी, रचनावली, भाग-13, पृ. 272.
77. 'निरक्षता की दुहाई', रचनावली, भाग-9, पृ. 57-58.
78. 'बैर का अन्त', अप्रैल 1923, सरस्वती में प्रकाशित, रचनावली, भाग-12, पृ. 398.
79. 'गोदान' पृ. 300.
80. रजनीपाम दत्त, पृ. 97.
81. देसाई, पृ. 50.
82. 'किसानों का कर्ज़', रचनावली, भाग-8, पृ. 368.
83. वही, पृ. 367.
84. पृथ्वीशचन्द्र राय, 'द पावर्टी प्राब्लम इन इंड़िया', बम्बई 1898, पृ. 199.
85. कर्मभूमि, पृ. 346, 369.
86. वही, पृ. 230.
87. कायाकल्प, पृ. 104.
88. कर्मभूमि, पृ. 302
89. वही, पृ. 372.
90. 'प्रेमाश्रम', पृ. 591.
91. रामविलास शर्मा, पृ. 52.
92. 'गोदान', पृ. 188-91.
93. 'संग्राम' नाटक, पृ. 21, गोदान, पृ. 391-92, 321, 'सद्गति' रचनावली, भाग-14 पृ. 404, 'सवा सेर गेहूँ', कहानी रचनावली, भाग-13, पृ. 127.
94. 'मारकिस ऑफ डफरिन एंड आवा स्पीचीज', पृ. 240, कलकत्ता, 1889.
95. 'कर्जन स्पीचीज', पृ. 166.
96. बिपिन चन्द्रा, पृ. 21.
97. डॉ. सुरेश धींगड़ा, पृ.16-17.
98. 'मुक्तिमार्ग', कहानी, रचनावली, भाग- 13, पृ. 32.

99. 'सभ्यता का रहस्य' कहानी, मार्च 1925, 'माधुरी' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-13, पृ. 166. 'बलिदान रचनावली, भाग-12, पृ. 92. 'बलिदान' कहानी के पात्र गिरधारी के लिए बैल अन्नदाता हैं, उसके जीवन का आधार हैं, मान-मर्यादा की रक्षा करने वाले हैं, आशा की दो आँखें, इरादे के दो तार, अच्छे दिनों के दो चिहन, दो हाथ हैं।
100. 'गोदान', पृ. 214.
101. 'बाबाजी का भोग', कहानी, पृ. 47.
102. 'गोदान', पृ. 311.
103. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. नेहरू, भाग-3, पृ. 376.
104. शशि भूषण पाण्डेय 'प्रेमचन्द हमारे समकालीन', पृ. 65
105. रजनीपाम दत्त, पृ. 87
106. 'प्रेमाश्रम' पृ. 133, और 531, 533, 118.
107. 'गोदान', पृ. 120
108. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. नेहरू, भाग-5, पृ. 66.
109. वही, भाग-3, पृ. 372.
110. वही, पृ. 373.
111. पं. नेहरू ने इस संबंध में लिखा है, "If a case between a landlord and Kisan comes up in the court, it is difficult for the Kisan to win the case no matter how just his case.", सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. नेहरू, भाग-3, पृ. 373.
112. देसाई, पृ. 54 जहाँ उत्पादन करने वालों पर दबाव बढ़ा वहीं लगान एकत्र करने वाले गैर काश्तकारों की संख्या में ज़मींदारी प्रथा के कारण अप्रत्याशित वृद्धि हुई। संयुक्त प्रान्त में 1891 और 1921 के बीच लगान वसूलने की संख्या में 46 प्रतिशत की वृद्धि हुई। वाडिया एण्ड मर्चेन्ट, पृ. 231.
113. 'हतभागे किसान', रचनावली, पृ. 216.
114. 'घमण्ड का पुतला', 'जमाना', 1916 में प्रकाशित, रचनावली, भाग-11, पृ. 417.
115. 'कर्जन स्पीसीज', भाग-1, पृ. 313-14.
116. 'आधार' कहानी, 1926 रचनावली, भाग-13, पृ. 341 'कामना तरु', कहानी में किसान जंगली पशुओं से अपने फसलों की रक्षा करने के लिए दूसरे गाँव में दूसरे के यहाँ सोता है।
117. 'संग्राम', नाटक, रचनावली, भाग-10, पृ. 9.
118. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. नेहरू, भाग-8, पृ. 387.
119. प्रेमनारायन टण्डन, 'प्रेमचन्द और ग्राम समस्या', पृ. 89.
120. पं. नेहरू इस संबंध में प्रस्तावों के पारित होने के महत्व के संबंध में लिखते हैं,

    "I am aware that mere Passing of some legislation is not going to solve the problem of the peasantry one and for all. But at least, their misery and suffering will be lessened." सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. नेहरू, भाग-8, पृ. 390.

121. 'ओसारी में खाट है। उस पर सुजनी का गर्म बिस्तर बिछा हुआ है। खाट के नीचे लोटे में पानी रखा है। आँगन में ज्योत्सना ने आइना सा बिछा रखा है। 'गोदान', पृ. 506.
122. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. नेहरू, भाग-3, पृ. 365.
123. 'हतभागे किसान', रचनावली, भाग-8, पृ. 215.
124. 'शक्कर सम्मेलन', प्रेमचन्द, 17 जुलाई 1933, 'जागरण' में प्रकाशित लेख, रचनावली, भाग-8, पृ. 374.
125. 'ऊख के किसानों का संघ', प्रेमचन्द, 7 अगस्त 1933, 'जागरण' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-8, पृ. 392.
126. 'कृषि सहायक बैंक की जरूरत', अगस्त 1933 'जागरण' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-8, पृ. 393.
127. डॉ. सुरेश घींगड़ा, पृ. 18.
128. वही, पृ. 18.
129. 'सेवासदन', प्रेमचन्द पृ. 78.
130. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. नेहरू, भाग-3, पृ. 374.
131. 'प्रेमाश्रम', पृ. 131.
132. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. नेहरू, भाग-3, पृ. 376.
133. प्रेमनारायण टण्डन, पृ. 93-94.
134. 'प्रेमाश्रम', पृ. 202.
135. 'कर्मभूमि', पृ. 467.
136. 'प्रेमाश्रम', पृ. 618-619.
137. 'हतभागे किसान', रचनावली, भाग-8, पृ. 215.
138. प्रेम नारायण टण्डन, पृ. 80-81.
139. वही, पृ. 82.
140. 'किसान सहायक एक्ट' प्रेमचन्द, 16 अप्रैल 1934, जागरण में प्रकाशित लेख, रचनावली, भाग-9, पृ. 91.
141. हतभागे किसान, रचनावली, पृ. 215.
142. रामबक्ष, पृ. 115.
143. 'रिपोर्ट ऑफ रॉयल कमीशन आन एग्रीकल्चर', 1928.
144. वाडिया एंड मर्चेन्ट, पृ. 195-96.
145. 'कांग्रेस की विधायक योजना', प्रेमचन्द 30 अप्रैल 1934, जागरण में प्रकाशित लेख, रचनावली, भाग-9, पृ. 102. "Some Kisans blame their fate or their sins and regard them as karma .... So we should forget such talk and realise that we can mould

our own destiny and lessen our haroship." सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ प. नेहरू, भाग-3, पृ. 376.

146. "I appeal to the peasant for their cooperation in the struggle for swaraj as that alone can help them in the removal of their miseries." सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ प. नेहरू, भाग-5, पृ. 104.
147. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग- 8, पृ. 390 और भाग 5, पृ. 66। वह किसानों की समस्याओं के समाधान के विषय में लिखते हैं — "The final solution of their troubles can only be found when the bigger problem of India's freedom has been solved."
148. 'हतभागे किसान', रचनावली, भाग-8, पृ. 215.
149. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-3, पृ. 374.
150. 'अराज़ी में चकबन्दी', रचनावली, भाग-8, पृ. 149.
151. देसाई, पृ. 55.
152. 'हतभागे किसान', रचनावली, भाग-8, पृ. 215-16.
153. 'बलिदान', रचनावली, भाग-12, पृ. 92.
'बेटी का धन', 7 नवम्बर 1915, 'ज़माना' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-9, पृ. 364.
'नेउर', 1933 जनवरी हंस में प्रकाशित, रचनावली, भाग- 15, पृ. 143.
154. 'कर्जन स्पीचीज', भाग-1, पृ. 313, 314
155. दत्त, पृ. 56, नैरोजी, 'पावर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंड़िया', पृ. 665.
156. 'हतभागे किसान', पृ. 216.
157. शिवरानी देवी 'प्रेमचन्द घर में', पृ. 172.
158. सेलेक्टेड वर्क्स, भाग-3, पृ. 374-75.
159. टण्डन, पृ. 115.
160. वही, पृ. 115.
161. रामबक्ष, पृ. 61. यहाँ पर स्मरणीय है कि इस उपन्यास की रचना का उद्‌देश्य साम्राज्यवाद नहीं वरन् सामंतवाद का विरोध करना है। क्योंकि अभी तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में कोई भी आन्दोलन इतना महत्वपूर्ण नहीं हुआ था जैसे असहयोग आन्दोलन, जिसमें देश के सभी वर्गों, समुदायों, जातियों सहर्ष भाग लिया था।
162. टण्डन, पृ. 116.
163. 'प्रेमाश्रम', पृ. 649.
164. वही, पृ. 643.
165. देसाई, पृ. 60.
166. टण्डन, पृ. 121.

किसान आन्दोलन

हिन्दुस्तान को आधार बनाकर हिन्दुस्तान के जान-माल की मदद से अंग्रेजों ने ऐसा साम्राज्य कायम किया था, जिसमें सूरज न डूबता था। उस साम्राज्य के स्तम्भ थे, अंग्रेजों के दलाल, भारत के राजा, जागीरदार और जमींदार। इसीलिए सरकार की नीतियाँ इसी समृद्ध वर्ग के अनकूल, उनका समर्थन प्राप्त करने के लिए बनाई जाती थीं, न कि आम जनता के हितों के लिए। स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेताओं ने एक अनियन्त्रित जन-चेतना की उत्पत्ति के भय से किसान आन्दोलनों को हमेशा सशंकित नजरों से देखा वहीं प्रेमचन्द ने किसान आन्दोलन को स्वाधीनता आन्दोलन को रीढ़ माना, स्वाधीनता आन्दोलन का अर्थ उनके लिए किसान और मजदूर आन्दोलन ही था। भारतीय साहित्य और भारतीय समाज में इस दृष्टि से उनका महत्व सर्वोपरि है। यही वजह है कि प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं का मुख्य विषय कृषक-समाज को लिया। भारतीय समाज की मुख्य समस्या आज भी कृषक समाज की समस्या है और अधिकांश समस्याएँ इसी समाज से जुड़ी हैं।

प्रेमचन्द ने किसानों के विरुद्ध सामन्तवाद और पूँजीवाद के गठबन्धन को समझा, जिसमें कानून, न्याय और शक्ति उसी के हाथ में है, जिसके पास पैसा है और इस गठबन्धन का विरोध स्पष्ट रूप से उनकी रचनाओं में मिलता हैं। "यद्यपि अज्ञान, अशिक्षा व प्राकृतिक आपदाओं के साथ भूमि कर में वृद्धि, ज़मींदार की मालगुजारी, महाजनी शोषण और अफसरों की जबरदस्ती की वसूली के कारण दरिद्रता किसान का भाग्य बन गई थी, परन्तु धीरे-धीरे परिस्थितियों में बदलाव आ रहा था। रूसी क्रान्ति एवं गांधीजी के प्रभावस्वरूप विभिन्न कृषक आन्दोलनों एवं हड़तालों के सूत्रपात से कृषकों में जागृति के लक्षण प्रकट हुए। प्रेमचन्द साम्यवाद एवं महात्मा गांधी दोनों की महत्ता से परिचित एवं प्रभावित थे।"[1] इसीलिए 1920-22 में लिखे गये उपन्यास 'प्रेमाश्रम' के जागरूक किसान युवक बलराज जहाँ साम्यवाद से प्रभावित है वहीं प्रेमशंकर गांधीवाद का प्रतीक है जो अहिंसा की शक्ति मे विश्वास रखता है। यद्यपि प्रेमचन्द ने किसी भी विचारधारा का अंधानुकरण नहीं किया है, लेकिन इन साधनों के माध्यम से वह एक शोषणहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे। मराठी के साहित्यकार टी.के. कर से प्रेमचन्द ने एक बार कहा था — "मैं कम्युनिस्ट हूँ, किन्तु मेरा कम्युनिज्म केवल यह ही है कि हमारे देश में ज़मींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें। मैं गांधीवादी नहीं हूँ केवल गांधीजी के चेंज ऑफ हार्ट में विश्वास करता हूँ।"[2]

जब से भारत में अंग्रेजी राज कायम हुआ, तभी से किसानों के विद्रोह हुए तथा उनकी संख्या बराबर बढ़ती ही गई। शुरू-शुरू में किसानों का गुस्सा और बेचैनी अलग-अलग साहूकारों और जमींदारों से बदला लेने की थी। लेकिन शीघ्र ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि यह जमींदार या ताल्लुकदार सरकार के ही दलाल हैं। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने आन्दोलन का रुख सरकार और उसकी नीतियों के विरुद्ध करके सिर्फ अपने सुखी जीवन के लिए न लड़ रहे थे, बल्कि वह संसार के सभी दासों की शान्ति और स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे। प्रेमचन्द हिन्दी के पहले लेखक थे जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के उपन्यास लिखे।"[3] प्रेंमचन्द का यह दृढ़ विश्वास था कि "राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब वह करोड़ों किसानों की अपनी माँगों का आन्दोलन बन जाए। वह जानते थे कि किसानों के आन्दोलन से स्वाधीनता का आन्दोलन कमजोर नहीं होगा"[4] जबकि कांग्रेस के प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं का मानना था कि स्वाधीनता आन्दोलन में आम जनता के शामिल हो जाने से अराजकता आने की संभावना अधिक है। संभवतः इसीलिए राष्ट्रीय आन्दोलन गांधी के शामिल होने के पूर्व कांग्रेस का आधार इतना व्यापक नहीं था। निश्चित रूप से इसका श्रेय गांधी को जाता है कि उन्होंने 'आम जनता' को स्वाधीनता आन्दोलन में शामिल कर साम्राज्यवादी सरकार के विरुद्ध व्यापक जनाधार तैयार किया। इस 'आम जनता' में किसान बहुसंख्यक थे।

अन्याय और उत्पीड़न के खिलाफ बोलने वाले किसान प्रेमचन्द की आरम्भिक रचनाओं में भी मिलते हैं, लेकिन किसानों द्वारा किए जाने वाले विरोध के स्वर में एक पैनापन 1917 की रूसी क्रान्ति के बाद ही दिखाई देता है। 'कर्मभूमि' में किसानों का यह प्रतिरोध एक आक्रामक रूप ले लेता है। वास्तव में 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने किसानों के आन्दोलन को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य ने प्रस्तुत किया है। जबकि 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने तत्कालीन आन्दोलनों से प्रभावित होकर और भविष्य की ओर देखते हुए तमाम हिन्दुस्तान की जनता की तरफ से अंग्रेजी राज को चुनौती दी, "फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो।"[5]

1930 का वर्ष भारत में चल रहे स्वाधीनता आन्दोलन के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस वर्ष जहाँ स्वाधीनता आन्दोलन को एक नई दिशा मिली, वहीं प्रेमचन्द के साहित्यिक व्यक्तित्व में भी एक नया और क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। "31 दिसम्बर 1929 में लाहौर के कांग्रेस अधिवेशन में पहली बार पूर्ण स्वराज्य का नारा दिया गया और पंडित नेहरू के साथ-साथ कांग्रेस में समाजवादी विचारों का प्रभाव बढ़ा। हिन्दी साहित्य में भी वामपंथी प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगीं। भारत के किसानों और मजदूरों की राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी बढ़ने लगी।"[6] "प्रेमचन्द

स्वाधीनता आन्दोलन के सिपाही थे। उनके लिए स्वराज्य का मतलब था — किसानों के लिए स्वराज्य।"[7]

यद्यपि प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में किसी संगठित किसान आन्दोलन का वर्णन नहीं किया है, इसके बावजूद वह मानते थे कि "अगर जनसाधारण के आन्दोलन और संघर्षों को लेकर साहित्य न रचा जाएगा तो वह असर न होगा। हिन्दुस्तान की बहुसंख्यक जनता किसानी करती है। इस जनता को छोड़कर औरों के बारे मे लिखने से उपन्यासकर अपने देश और युग का प्रतिनिधि केसे होता? इसीलिए उन्होंने किसानों के बारे में लिखा।"[8]

किसान आन्दोलन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ

भारतीय अर्थव्यवस्था के दो मुख्य आधार स्तम्भ हैं — कृषि और उद्योग धन्धे। अंग्रेजों की स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था का सन्तुलन नष्ट हो गया था। कृषि पर निरन्तर बोझ बढ़ा, बेदखली और लगान वृद्धि के क्षेत्र में तथा भूमि सम्बन्धों में अप्रत्यक्षित परिवर्तन आए। परिणामस्वरूप भारतीय किसानों की आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। आर्थिक आभावों के कारण किसानों की सहनशीलता कम होने लगी और उन्होंने अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन का मार्ग अपनाया। प्रेमचन्द को भारत के किसानों के प्रति सच्ची सहानुभूति थी। उन्होंने अपनी रचनाओं और लेखों में उन कारणों का वर्णन किया है जो 20वीं शताब्दी के किसान आन्दोलन के लिए उत्तरदायी थे।

"ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से पूर्व परम्परागत भूमि-व्यवस्था में ज़मीन किसानों की समझी जाती थी तथा राज्य को उपज का एक भाग ही कर के रूप मे दिया जाता था। मुगलों से पूर्व यह भाग पैदावार के बारहवें से लेकर छठे भाग तक होता था, लेकिन मुगलकाल मे यह एक तिहाई तक हो गया था।"[9] ब्रिटिश सरकार ने इस भूमि सम्बन्ध में बुनियादी परिवर्तन किए। उन्होंने पैदावार के लाभांश के स्थान पर ज़मीन का लगान निश्चित किया और प्राकृतिक आपदाओं के बावजूद एक निश्चित राशि लगान के रूप में देना अनिवार्य था। डॉ. हैरोल्ड के अनुसार अंग्रेजों से पहले किसानों से ली जाने वाली मालगुजारी तथा अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद ली जाने वाली मालगुजारी में बहुत अन्तर है। मालगुजारी तथा किसान के ऊपर पड़ने वाले राज्य सम्बन्धी अन्य खर्च पचास प्रतिशत से भी अधिक होते थे। एक गाँव से 21,020 रुपये मालगुजारी के लिए वसूल किए गए जबकि गाँव के खर्च के लिए केवल 1,870 रुपये शेष रहे।"[10] एक अध्ययन के अनुसार 1857-58 में एकत्र की गई मालगुजारी 153 लाख पौंड थी जो 1936-37 में बढ़कर 239 लाख पौंड हो

गई।"[11] और इस राजस्व को भुगतान करने मे एक किसान काश्तकार से खेत मजदूर बन रहा था।

बीसवीं शताब्दी में सरकार, ज़मींदार और महाजन तीनों का संगठित शोषण अपनी चरम सीमा पर पहुँचा। कानून भी महाजन और ज़मींदार के हितों को पोषित करते थे। ऋण न चुकाने पर किसान को जेल में बन्द किया जा सकता था और उसकी ज़मीन दूसरे व्यक्ति को दी जा सकती थी। सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में इन्हीं कानूनों के बहाने महाजनों को संरक्षण दिया था। ऋण भारतीय किसानों की मजबूरी थी और साहूकार किसानों को सौ पचास रुपये उधार देकर उनसे आजीवन मजदूरी कराते रहते हैं। केवल उन्हें जिन्दा रहने के लिए कुछ अनाज रोज दे दिया करते हैं। वेतन सूद में कटता रहता है।"[12] साहूकार का खाता किसानों के लिए हमेशा रहस्यमय रहा। ऋण न चुका पाने की स्थिति में किसान अपनी ही ज़मीन पर खेत-मजदूर के रूप में अथवा बटाईदार बनकर साहूकार का खेत जोतने लगते और जो कुछ पैदा करते उसका अधिकांश भाग लगान और सूद के रूप में उसे सौंपने पर मजबूर होते।"[13] "1921 में तमाम खेती करने वालों का पाँचवाँ हिस्सा खेत-मजदूरों का था। 1931 में एक तिहाई अर्थात 3 करोड़, खेती करने वाले खेत-मज़दूर बन गए और इस संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी।"[14]

तीव्र साम्राज्यवादी शोषण के फलस्वरूप गाँवों के कुटीर उद्योग नष्ट हो गये। अर्थव्यवस्था पंगु हो गई। "त्तकालीन किसान पर महाजन वर्ग बुरी तरह हावी था। ऋणगस्त होकर किसान अपनी जमीन महाजन को सस्ते दामों पर बेचने के लिए विवश था। अतः एक ओर बड़े किसानों की संख्या बढ़ी और दूसरी ओर ज़मीन जोतने वाला किसान भूस्वामित्व से वंचित होकर मजदूर होने को बाध्य हुआ।"[15] इस जटिल शोषण तन्त्र का विरोध प्रेमचन्द ने 'गोबर' के माध्यम से किया है, जो निःसन्देह भावी आन्दोलनों के लिए किसानों के असंतोष को अभिव्यक्त करता है। "दुःख की बात तो यह है कि शासक-वर्ग के विचार और सिद्धान्त शासित वर्ग के भीतर भी समा गए हैं जिसका फल यह हुआ है कि हर आदमी अपने को शिकारी समझता है और शिकार है समाज।"[16] प्रेमचन्द ने महाजनों के कारण उत्पन्न कृषक असंतोष को विस्तृत रूप में 'गोदान' (1936) मे ही दिखाया है, क्योंकि इससे पहले ऋण और सूद की समस्या को उन्होंने पहले अनुभव नहीं किया था।

महाजनों ने सरकार की मदद से भारतीय अर्थव्यवस्था मे छोटे पूँजीपतियों की भूमिका अदा की। वहीं दूसरी ओर साम्राज्यवादी शासकों ने अपने स्वार्थ के लिए एक

नए वर्ग अर्थात् ज़मींदार वर्ग को उत्पन्न किया। उन्होंने भारत के छोटे, स्वावलम्बी आर्थिक संगठनों के स्थान पर ज़मीदारों के रूप में अपनी कुटिल, राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों का एक साथ प्रयोग किया। यह इंग्लैंड की ज़मींदारी प्रथा की नकल थी जो भारत के लिए घातक सिद्ध हुई।"[17] "आज भी ज़मींदार साहबान अपने को ज़मीन का मालिक ही समझते हैं। अंग्रेज़ी सरकार के पहले उनकी हैसियत दलालों की थी, जो बादशाह की ओर से लगान वसूल करने के लिए रखे जाते थे और लगान न अदा कर सकने पर निकाल बाहर किए जाते थे और बड़ी जिल्लत के साथ। अंग्रेज़ी राज में उनका मान बढ़ गया। तब से यह लोग अपने को ज़मीन का मालिक समझने लगे।"[18] जिससे भू-स्वामित्व किसानों के हाथ से जाता रहा।

संयुक्त प्रान्त में अंग्रेजों ने अस्थाई भूमि व्यवस्था को लागू किया था जिसमें समय समय पर ज़मीन का बन्दोबस्त अर्थात् लगान निर्धारण नए सिरे से होता था और सरकार को लगान बढ़ाने का अवसर मिलता था। अतः स्थाई बन्दोबस्त के अभाव में संयुक्त प्रान्त के किसानों की स्थिति दयनीय थी। इसी इज़ाफा लगान को प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' मे कृषक असंतोष का बुनियादी कारण बताया है। जहाँ किसान इस स्थिति में नहीं है कि वह बढ़ा हुआ लगान अदा कर सके। "ज़मींदार वर्ग कृषि व्यवस्था पर एक अनावश्यक बोझ के समान था जो उत्पादन में किसी प्रकार का योगदान नहीं देता था।"[19]

"प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान (1914-18) संयुक्त प्रान्त, विशेषकर अवध और पूर्वी उत्तर प्रदेश में कृषि के व्यापारीकरण के कारण भूमि की माँग बहुत अधिक बढ़ने लगी। ज़मींदार और उसके सहायकों ने धोखेबाजी और शक्ति प्रदर्शन के द्वारा किसानों की बेदखली आरम्भ कर दी।"[20] सम्पन्न ज़मींदारों ने कृषि पर पूँजी लगाई। "1920-22 मे अवध में यह कार्य व्यापक स्तर पर हुआ।"[21] बेदखली अवध के किसान आन्दोलन में एक प्रमुख कारण था। इस आन्दोलन का नेतृत्व एक साधू, बाबा रामचन्द्र ने किया था। प्रेमचन्द ने भी एक बाबा सूक्खू चौधरी को नेतृत्व दिया, जो अपने चमत्कार से रुपयों को ठीकरों में बदल कर किसानों का लगान चुकाकर उन्हें बेदखली से बचाता है। बेदखली के अतिरिक्त अवध के किसान आन्दोलन के अन्य प्रश्न थे, तालाबों पर रोक, बेगार, रसद, चरावर आदि। गर्मी के मौसम में कारिन्दा गौस खाँ अपनी मर्जी से तलाब का पानी रोक लेता है। किसान अपने इस परम्परागत अधिकार पर हमले का विरोध करते हैं। 'गाँव के लोग तुरन्त तालाब के तट पर जमा हो गए और चपरासियों से वाद-विवाद करने लगे।'[21.1] भूमि से बेदखल किसानों का वर्णन 'प्रेमाश्रम' में विशद रूप से मिलता है। "सरकार ने बकाया लगान

भुगतान के कारण किसानों की बेदखली को रोकने के कोई प्रयास नहीं किए। उसने ज़मींदारों को पूरी छूट दे दी कि वह पिछला लगान न देने वाले को बेदखल कर दें। लगान बिना रसीद के वसूला गया और नज़राना भी लिया जा रहा था। लेकिन सरकार ने किसानों को राहत दिलाने का कोई प्रयास नहीं किया।[22] ऐसी बेदखली का वर्णन प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में किया है। इससे सम्बन्धित आँकड़े पूर्व अध्याय में वर्णित हैं।

'बेदखली' अवध के किसान आन्दोलन में सबसे बड़ा मुद्दा था। इस आन्दोलन का नेतृत्व एक साधु बाबा रामचन्द्र ने किया था। संयुक्त प्रान्त में भूमि पर अवैध अधिग्रहणों ने ताल्लुकेदारों और ज़मींदारों को सम्पन्न बना दिया था। इन परिस्थितियों में निर्धन किसानों का आन्दोलित होना स्वाभाविक है। जिस दिन बेदखली होती है उस दिन 'गाँव में जरा भी हलचल न थी। मर्दों में कादिर मियाँ के छोटे लड़के के सिवा सभी नीच जातियों के लोग थे, जिन्हें मान-अपमान का ज्ञान ही न था और वह बेचारा कानूनी बांतों से अनभिज्ञ था। सबके दिल में ऐसा हौल समाया था कि घर से बाहर ही न निकलते थे।[22.1] पं. नेहरू ने इलाहाबाद के एक ज़मींदारी क्षेत्र में किसानों की बेदखली का वर्णन किया है। "वर्तमान में इस महिला के पिता इस के प्रबन्धक हैं और व्यावहारिक रूप से वही इस ज़मींदारी के मालिक भी हैं। पिछले कुछ महीनों में इन पर अवैध रूप से किसानों की भूमि का अधिग्रहण करने और उन पर अत्याचार करने की शिकायतें सामने आईं। अन्ततः इलाहाबाद की जिला कांग्रेस कमेटी ने इन आरोपों को किसानों के बयानों के आधार पर सही ठहराया।"[23] "संयुक्त प्रान्त में, विशेषकर अवध में बड़े-बड़े ताल्लुकेदार थे, जो एक बड़ी राशि नज़राने के रूप में उन किसानों से लेते थे, जिनका भूमि पर स्वामित्व नहीं था और जब चाहते तब उन्हें लगान वसूली के बहाने भूमि से बेदखल कर उस पर कब्जा कर लेते थे। वह विभिन्न रूपों से किसानों पर अत्याचार करने के दोषी पाए गए।"[24] इसीलिए अवध में किसान आन्दोलनों की व्यापकता अपेक्षाकृत अधिक थी। प्रेमचन्द की रचनाओं का केन्द्र भी अवध के कुछ जिले जैसे बाराबंकी रायबरेली, गोरखपुर, लखनऊ, प्रतापगढ़ आदि थे। उपलब्ध आँकड़ें भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि ज़मींदारों और ताल्लुकदारों ने सरकार से कहीं अधिक भू-राजस्व की माँग की थी। 1893-94 से 1944-45 तक इस प्रभावशाली वर्ग ने लगान की माँग 42 प्रतिशत तक बढ़ाई थी जबकि सरकारी राजस्व की माँग में केवल 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इस प्रकार ज़मींदारों-ताल्लुकदारों का हिस्सा बढ़कर 69 प्रतिशत हो गया।

संयुक्त प्रांत में लगान, भू-राजस्व और ज़मींदारों-ताल्लुकदारों का हिस्सा लाख रुपयों में [24.1]

वर्ष	*कुल लगान संग्रहण*	*सरकार को दिया जाने वाला कुल भू-राजस्व*	*ज़मींदारों-ताल्लुकदारों का मुनाफा*
1893-94	1,224	593	631
1898-99	1,236	619	617
1904-05	1,383	640	743
1909-10	1,508	649	859
1914-15	1,632	651	981
1919-20	1,784	677	1,107
1924-25	1,867	690	1,177
1929-30	1,940	703	1,237
1934-35	1,881	712	1,169
1939-40	1,810	702	1,108
1942-43	1,713	682	1,035
1944-45	1,753	682	1,071

अवध में ताल्लुकदारी प्रथा थी और जौनपुर, गोरखपुर, आज़मगढ़, और बनारस के जिलों में ज़मींदारी प्रथा थी। निःसन्देह किसान दोनों जगह शोषित थे, लेकिन दोनों स्थानों में राजस्व व्यवस्था में अन्तर था, विशेषरूप से जोत की सुरक्षा के दृष्टिकोण से। 'गदर के बाद अवध में ताल्लुकदारी बन्दोबस्त होने के बाद सिर्फ 4.5 प्रतिशत किसानों को अपनी जोत पर दखल का हक मिला, शेष 95.5 प्रतिशत किसान ऐसे थे जिन्हें अपनी जोत पर किसी भी तरह की सुरक्षा हासिल न थी। इन्हें ताल्लुकदार कभी भी बेदखल कर सकते थे'।[24.2] अवध में किसान आन्दोलन के आरम्भ होने के पूर्व 1918 में 'इंडियन कॉन्सटीट्यूशनल रिफॉर्म्स' के लिए बनी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट के चौथे खण्ड में ताल्लुकदारी और ज़मींदारी प्रथा वाले इलाकों में सुरक्षित और असुरक्षित जोत वाले किसानों के आँकड़े दिए थे। इसके अनुसार अवध के लखनऊ डिवीजन में लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, हरदोई और खीरी जिलों में एक रुपये से लेकर 99 रुपये तक लगान देने वाले गरीब और मध्यवर्गीय कुल किसानों में से सिर्फ 1.32 प्रतिशत किसानों को ही अपनी जोत पर सुरक्षा हासिल थी, शेष 98.68 प्रतिशत किसान कभी भी बेदखल किए जा सकते थे।[24.3]

प्रेमचन्द ने इस तथ्य को भी उजागर करने का प्रयास किया कि ज़मींदार प्रायः उन परिस्थितियों में बकाया लगान की माँग करते थे जब किसानों के लिए उसे चुका पाना असम्भव रहता था और इसी बहाने वह उनकी भूमि पर कब्जा कर लेते थे। 'प्रेमाश्रम' में उस समय बकाया लगान माँगा गया, जब सारा गाँव जेल में था और उत्पादन नहीं हुआ था। "सबको विश्वास था कि एकतरफा डिग्री होगी और सबके सब बेदखल हो जाएँगे।"[25] 'गोदान' में बरसात के बाद जब किसान बीज बोने जा रहे थे तभी ज़मींदार रायसाहब ने बकाया लगान की माँग की। 'कर्मभूमि' में आर्थिक मंदी के दौरान ज़मींदारों ने मौरूसी किसानों को बेदखल करने का प्रयास किया। "वह व्यक्ति, जो आर्थिक मन्दी के समय आर्थिक समस्याओं से जूझ रहे थे, ने यह महसूस किया कि किसानों के प्रति दुर्व्यवहार और भूमि से बेदखल करने से अधिक कष्टदायक और कुछ नहीं था।"[26] ऐसे नाजुक समय में सारे किसान बेदखल कर दिए जाते हैं और उनकी जीविका का एकमात्र साधन छीन लिया जाता है। यह वर्णन ही प्रेमचन्द की यथार्थवादी जीवन दृष्टि का परिणाम हैं। 'किसानों के चरम शोषण की 'मुर्दा फरोशी' और 'कन्या विक्रय' जैसी प्रथायें, जो बेदखली की समस्या से निकली थीं और अवध के इलाको में प्रचलित थीं'[26.1] 'उन्हें प्रेमचन्द ने 'गोदान' से पूर्व प्रभावशाली रूप से वर्णित नहीं किया।

सरकार और उसकी नीतियों ने कृषक असंतोष उत्पन्न करने में अहम् भूमिका निभाई है। किसान आन्दोलनों के संबंध मे प्रेमचन्द ने स्पष्ट रूप से यह बताया है कि अंग्रेज़ों के विरुद्ध होने वाले संघर्षों और ज़मीदारों के विरुद्ध होने वाले संघर्ष में क्या संबंध हैं। "ज़मीन के वास्तविक स्वामी किसान हैं, जबकि उसके मालिक बन बैठे हैं अंग्रेज और उनके दलाल। इसीलिए अंग्रेजों के बनाए हुए कानून, उनकी कायम की हुई कचहरियाँ और शान्ति और व्यवस्था की रखवाली करने वाली पुलिस किसानों को दबाने में सबसे आगे रहते थे।"[27] प्रेमचन्द ब्रिटिश नौकरशाही की अदालतों और सरकारी महकमों को न्याय की हत्या करने का यन्त्र और गरीबों की लाश नोचने वाले यन्त्र बताते हैं। 'कर्मभूमि' में अमरकान्त कहता है, "इतनी अदालतों की जरूरत क्या? यह बड़े-बड़े महकमे किसलिए? ऐसा मालूम होता है गरीबों की लाश नोचने वाले गिद्धों का समूह है।"[28]

"यह एक युग की ट्रेजेडी है कि जब किसान पर अत्याचार बढ़े हैं उसने उनका प्रतिरोध करने की कोशिश की है। लेकिन सफल नहीं हो पाया। एक तरफ लखनपुर, 'प्रेमाश्रम' का गाँव, अपनी शक्ति बटोरता है, लड़ता है, परास्त होता है, फिर बिखर जाता है, दूसरी तरफ ज्ञानशंकर और कारिन्दे, थानेदार और तहसीलदार, जज, वकील और पेशकारों की फौज है जो अपनी सारी ताकत से गाँव को कुचल देना चाहती है।

इस संघर्ष में दोनों प्रतिद्वन्द्वी बराबर के नहीं हैं। ज़मींदार और राजसत्ता असंगठित किसानों के मुकाबले में बहुत शक्तिशाली है।"[29] दूसरी ओर सरकार का यह मानना है कि देहातों में जो कुछ काम हुआ है वह सरकारी कर्मचारियों द्वारा ही हुआ है। सरकारी कर्मचारियों का जो अनुभव जनता को हुआ है वह अत्यन्त निराशाजनक है। अफसरों के दौरे सुनकर देहातियों के प्राण सूख जाते हैं। बेचारे अपने पुआल, गाय और बकरियाँ छिपाने लगते हैं। अक्सर देहातों में हाकिमों का खर्च अदा करने के लिए बड़े-बड़े चन्दे लिए जाते हैं। सभी देहातियों पर रोब जमाते हैं। बाजार में घी का भाव सेर भर का हो, मगर दौरे पर अफसर दो सेर का घी लेगा। हरेक चीज वह आधे दामों पर लेना अपना अधिकार समझता है, क्योंकि वह अफसर है आधा दाम भी वह देते हैं जो बड़े नेकनाम है। अधिकतर तो सारी चीजें मुफ्त में ही ले लेते हैं। इसे अलावा तो हमने सरकार के द्वारा देहातों का कोई हित होते नहीं देखा। 1920 में छपे बाबा रामचन्द्र पेपर्स इस बेगारी के सम्बन्ध में लिखा है कि 'जब कभी किसी चीज की जैसे घी, उपली, लकड़ी, रस की जरूरत पड़ी, किसान के सामने नाम के लिए कुछ दाम फेंक दिया और किसान से जो चीज चाही ले ली। एक रुपये का ड़ेढ़ सेर घी, 15 या 20 खांचा भूसा, 11 आने में महीनों पाथा हुआ उपली जिलेदार लिया करते हैं।[29.1] 'जब कोई साहब दौरे पर निकलते हैं तो स्थानीय तहसीलदार साहब के पास रोबकार जाता है कि अमुक साहब की रसद-रसानी व पड़ाव की सफाई का इंतजाम किया जाए। तहसीलदार चपरासियों को नियुक्त करते हैं। चपरासियान ज़मींदार के यहाँ जाते हैं और उनसे रसद इत्यादि माँगते हैं। ज़मींदार किसी गरीब काश्तकार का पेड़ लकड़ी के लिए दिखला देते हैं, और किसी का पुआल।'[29.2]

देहात में नेताओं की भूमिका के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि सरकार ने उनके कार्यों में रोड़े अटकाए हैं, क्योंकि "देहातों की जागृति का अर्थ है — ज़मींदार और हुक्काम के प्रभाव का कम होना। इसे न सरकार सहन कर सकती है और न कर्मचारी। किसान लगान दिए जाएँ, हुक्काम की जबरदस्तियाँ सहें जाएँ, यही सरकार की इच्छा है।"[30] लेकिन इस अन्याय और शोषण के प्रति किसानों का असंतोष अस्वाभाविक नहीं था। इसे व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्हें मात्र एक दिशा-निर्देशक की आवश्यकता है, जो उनके असंगठित असंतोष को साम्राज्यवादियों की पक्षपातपूर्ण नितियों के विरुद्ध संगठित कर सके। संयुक्त प्रान्त में आर्थिक दृष्टिकोण से राजस्व व्यवस्था को अधिक लाभदायक बनाने के लिए अस्थाई भूमिकर के आधार पर ज़मीन का नया बन्दोबस्त किया गया। इसे 'अराज़ी बन्दोबस्त' कहा गया, जिसमें सरकार कुछ समय बाद एकत्र किए जाने वाले लगान में वृद्धि कर सकती थी। 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', और प्रेमचन्द की अन्य रचनाओं में इज़ाफा लगान, बेदखली

आदि का वर्णन है उसे 'अराज़ी बन्दोबस्त' के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। 'तुम हमारे खेत पर चढ़ोगे, हम तुम्हारे खेत पर चढ़ेंगे। छोटे सरकार की चाँदी होगी। सरकार की आँखें तो तब खुलती जब कोई किसी के खेत पर दाँव न लगाता। सब कौल कर लेते।'[30.1] इसीलिए यह किसानों की आवश्यकता थी वह शोषण के विरुद्ध अपनी एकता का कौल कर लें। इसके परिणामस्वरूप बहुत सी ज़मींदारियाँ नीलाम होकर व्यापारियों के नियन्त्रण में जाने लगीं। इस प्रकार सरकार ने एक 'अनिश्चित आय से निश्चित लगान' अदा करने वाली व्यवस्था को लागू किया और इसमें वह किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहती थी। सरकार की इस असमर्थता का एक प्रमाण यह है कि 1927 में खेती की जाँच करने के लिए उसने जो 'रॉयल कमीशन' नियुक्त किया था, उसे भूमि व्यवस्था को छूने की भी मनाही कर दी गयी थी।"[31]

सरकार द्वारा किसानों की सहायता के लिए अनेक कानून बनाए गए, लेकिन उनसे कर्ज़े के बोझ का बढ़ना नहीं रुका। यह बात 'कृषि कमीशन की रिपोर्ट' में भी स्वीकार की जा चुकी है। इसी प्रकार ज़मीन पर किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए भी अनेक कानून बनाए गए, "लेकिन उनसे ज़मींदारी प्रथा और शिकमी प्रथा का विकास नहीं रुका और जिन थोड़े से किसानों को कुछ विशेष अधिकार दिए गए, वे खुद छोटे ज़मींदार बन गये और अधिकार विहीन किसानों का शोषण करने लगे।"[32] केवल लगान वसूली को अपनी जीविका का साधन बनाने वाले शोषक वर्ग की संख्या संयुक्त प्रान्त में 1891-1921 के बीच 46 प्रतिशत बढ़ गई। इसी अनुपात में खेतिहर काश्तकारों की संख्या भी निरन्तर बढ़ रही थी। 1931 की जनगणना से भारत के कृषि सम्बन्धों की जो तस्वीर हमारे सामने है, वह निरन्तर बढ़ते हुए वर्गभेद की तस्वीर है। "उस समय लगान पर मौज करने वाले भू स्वामियों की संख्या 41 लाख 50 हजार थी और कृषि मजदूरों की संख्या 3 करोड़ 52 लाख से भी अधिक थी।"[33]

1932 में 'किसानों की कर्ज़ा कमेटी के प्रस्ताव' नामक लेख में प्रेमचन्द ने सरकार की उन सिफारिशों की प्रशंसा की जिनका लक्ष्य किसानों को साहूकारों से बचाना था। इसकी मुख्य सिफ़ारिशें थी — "सूद की हद बाँध दी गई, महाजनों को हिसाब रखने के लिए मज़बूर किया जाय, ऋणों के भुगतान के लिए किसानों को गिरफ्तार न किया जाए आदि।"[34] यद्यपि इन प्रस्तावों के व्यावहारिक प्रयोग के प्रति प्रेमचन्द सशंकित थे। इसीलिए 'गोदान' में उन्होंने इन सभी समस्याओं को व्यापक स्तर पर उठाया है। उनका मानना है कि "जहाँ सरकार प्रजा हित का काम करती है, वहाँ हम सदैव उसे धन्यवाद और बधाई देने के लिए तैयार हैं।"[35]

व्यावहारिक रूप से सरकार किसानों के असंतोष को दबाने के लिए नालिश, कुर्की, बेदखली आदि साधनों का प्रयोग करती है, जिसमे ज़मींदारों का उसे प्रत्यक्ष

समर्थन मिलता है। इस सरकारी दमन का वर्णन 'कर्मभूमि' मिलता है। यह उपन्यास स्वाधीनता आन्दोलन के उस दौर का है जब लोग अंग्रेजों का मनमाना अत्याचार सहने के लिए तैयार न थे। वे अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करने लगे थे। इसके लिए वह जो भी साधन मिले उनका उपयोग करने के लिए तैयार थे।

'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने अमरकान्त को किसानों के ऐसे नेता के रूप में वर्णित किया है जो किसानों का लगान माफ कराने के लिए सरकार और महंत से सिफारिश करता है। सात दिन के इंतजार के बाद उसकी मुलाकात महंत से होती है और वह उसे सरकार से पत्र व्यवहार करने और कारिन्दों द्वारा सख्ती न किए जाने का आश्वासन देते हैं। इस आश्वासन के बाद अमरकान्त किसानों को समझाता है कि "हुल्लड़ मचाओगे, तो कुछ न होगा, उल्टे और डण्डे पड़ेंगे।"[36] लेकिन हफ्ते भर बाद भी लगान माफ नहीं हुआ और सरकारी मुलाजिम मि. गजनवी ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "भला छः महीने तो गुजरने दीजिए। अभी हम काश्तकारों की जाँच करेंगे, उसकी रिपोर्ट भेजी जाएगी, रिपोर्ट पर गौर किया जाएगा, तब कहीं कोई हुक्म निकलेगा।"[37] प्रेमचन्द, जिन्होंने अपनी सभी रचनाओं में राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न चरणों को प्रतिबिम्बित किया है, ने 1929 की आर्थिक मंदी की उपेक्षा नहीं की है, जिसने भारतीय किसानों को बहुत अधिक प्रभावित किया। इस मन्दी (जो कि यूरोपीय पूँजीवादी संकट की देन थी) ने कृषक असंतोष में महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका निभाई। "इस साल अनायास ही जिन्सों का भाव गिर गया। इतना गिर गया जितना 40 साल पहले था।"[38] इस विश्वव्यापी मंदी के दौरान मूल्यों में 60 प्रतिशत से भी अधिक की कमी आई और किसान लगान देने की स्थिति में नहीं था। इन परिस्थितियों में सरकार को कुछ उदार और आवश्यक कदम उठाने की आवश्यकता थी। लेकिन सरकार ने इसके विपरीत मार्च के बजट में न केवल किसानों और ज़मींदारों से प्राप्त लगान की राशि को वसूलने का लक्ष्य बनाया वरन् बकाया लगान की वसूली की भी बात कही। 'यू.पी. कांग्रेस कमेटी' ने 13 मार्च को एक प्रस्ताव द्वारा सरकार को चेतावनी दी कि "यदि शीघ्र ही किसानों को राहत नहीं दी गई तो आर्थिक असंतोष को दबाए रखना कठिन होगा।"[39] किसान जो चीजें बेगार और रसद में पहले ज़मींदार को रिवाजी तौर पर देता था, महँगाई के कारण अब उनका देना उसे चुभने और अखरने लगा। लगान की बढ़ती दर अब उसके लिए और भी घातक बन गई। बाजार तन्त्र ऐसा था कि महँगाई से फायदा किसान को नहीं, ज़मींदार महाजन और व्यापारी को होता था।[39.1]

"इस साल अनायास ही जिन्सों का भाव गिर गया। जब भाव तेज था, किसान अपनी उपज बेच-बाचकर लगान देता था, लेकिन किसानों ने एक-एक दाना बेच

डाला, भूसें का एक तिनका भी न रखा, यह सब कुछ करने पर भी एक चौथाई लगान से ज्यादा न अदा कर सके। नतीजा यह हुआ कि हलके में हाहाकार मच गया।"[40] सभी अपनी भूमि को बेदखली से बचाने में स्वयं को असमर्थ महसूस कर रहे थे। "किसान आमतौर पर जो पैसा बचाते हैं उससे सोने के जेवर खरीद लेते हैं। अर्थ संकट के दिनों में दिवालिया बनने से बचने के लिए किसानों ने धड़ाधड़ सोने के जेवर बेचे। 1931-37 के बीच कुछ नहीं तो 24 करोड़ 10 लाख पौंड का सोना भारत से निकल गया। लेकिन ऐसे किसानों की संख्या तेजी से बढ़ती गई जो लगान न दे पाने के कारण ज़मीनों से इस्तीफे दे रहे थे।"[41]

प्रेमचन्द ने आर्थिक संकट और भारतीय किसानों पर इसके प्रभाव को अपनी रचनाओं में स्थान दिया। सारा अनाज तौल देने के बावजूद किसान इस हालत में नहीं थे कि लगान दे सकें। फलतः कुर्की और बेदखली होती है। किसान, ज़मींदार या महन्तजी के पास लगान में छूट देने के लिए फरियाद करते हैं। ज़मींदार कहते हैं कि "जब सरकार अपनी मालगुजारी में कमी नहीं करती तो हम लगान केसे कम कर सकते हैं? प्रेमचन्द ज़मीदारों को दोषी नहीं मानते, क्योंकि "यदि ज़मींदार असामियों से लगान न वसूल करें, तो क्या खुद खाएँ और क्या सरकार को दें।"[42] इस संकट के दौरान कांग्रेस ने किसानों को रियायत दिलाने के लिए बहुत प्रयास किए, लेकिन अब तक यह सभी प्रयास निरर्थक सिद्ध हुए। "कीमतों में अप्रत्याक्षित गिरावट, जो रुपये में नौ आना तक बढ़ी और दूसरी ओर 1931 की फसल में रियायत रुपये में लगभग 2 आना 7 पैसे की दी गई, के कारण व्याप्त उग्र असंतोष में कांग्रेस के लिए कुछ भी कर पाना असंभव था। अभी तक बेदखली और शोषण होता है। इन कटु अनुभवों के आधार पर कांग्रेस न तो कर भुगतान की सलाह देगी और न ही किसी ऐसी अफवाह में विश्वास करेगी कि तहसीलदार किसानों को यह सूचना देने जाते थे कि इस वर्ष बकाया का भुगतान करने की कोई आवश्यकता नहीं है।"[43]

प्रेमचन्द लिखते हैं कि 'हमें शिकायत सरकार से है जो, किसानों की दशा से भली-भाँति वाकिफ होकर भी और यह जानते हुए भी कि इस मंदी में जितनी तबाही उन पर आई है, उतनी समाज के और किसी अंग पर नहीं आई, हमेशा ज़मीदारों का ही पक्ष लेती है। जो किसान मुश्किल से लगान दे पाता है वह सूद कहाँ से दे।"[44] 'महान आर्थिक मंदी के परिणामस्वरूप 'संयुक्त प्रान्त' के किसानों के मध्य भयंकर आर्थिक असंतोष था। यद्यपि यह असंतोष प्रान्त के विभिन्न भागों और ज़मीदारों तथा किसानों के विभिन्न वर्गों के मध्य अलग अलग था, लेकिन यह एक सर्वव्यापी असंतोष था। यह एक सर्वविदित सत्य है कि किसान लगान देने में असमर्थ थे।"[45]

इन परिस्थितियों में भी सरकार की ओर से लगान में छूट देने की कोई प्रभावी योजना नहीं बनाई गई। "खेती के पतन, किसानों की ज़मीनों के छिनने और उनमें वर्ग-भेदों के बढ़ने की यह पूरी क्रिया संसार व्यापी अर्थ-संकट के कारण बहुत आगे बढ़ गई है। 1928-29 में फसल कटने के समय के औसत दामों को आधार मानने पर लगभग 1,034 करोड़ रुपये के मूल्य की पैदावार खेती से हुई थी। 1933-34 में केवल 473 करोड़ की पैदावार हुई। यानि, उसमें 55 प्रतिशत की कमी हो गई। लेकिन मालगुजारी ज्यों की त्यों रही। 1928-29 में 33 करोड़ 10 लाख की मालगुजारी वसूल की गई थी, 1931-32 में 33 करोड़ और 1933-34 में 30 करोड़ एकत्र की गई। 1933-34 में 9 प्रतिशत की कमी आई, वह इसलिए कि किसानों के लिए ज्यादा देना असंभव हो गया था।"[46]

संयुक्त प्रांत के किसानों के असंतोष का मुख्य कारण यह था कि "यहाँ करों में रियायत देने के संबंध में सरकार की नीति अस्पष्ट है। 1930 कृषि व्यवस्था में महान संकट का वर्ष था। इस संकट के बावजूद यह काफी आश्चर्यजनक है कि सरकार ने खरीफ की फसल के करों में छूट देने संबंधी संकेत नहीं दिए वरन् केवल रबी की फसल में छूट देने का प्रस्ताव दिया गया।"[47] "सरकार लगान में यह छूट 1914-15 के लगान के समरूप करना चाहती थी जो अनुचित था, क्योंकि 1914-1915 में कृषि उत्पादों का मूल्य 1931 की अपेक्षा कम था।"[48]

आर्थिक मंदी का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि किसानों पर ऋणों के भुगतान का बोझ बहुत बढ़ गया। इस भयानक ऋणग्रस्ता का वर्णन 'गोदान' में मिलता है। किसान तो चीजों का दाम मंदा हो जाने से तबाह और ऋण के मार से दबा जा रहा था, अनपढ़ होने के कारण वह महाजनों से अपने ऋण का हिसाब नहीं तलब कर सकता। इसलिए प्रेमचन्द कर्ज़ के सूद की दर को घटाना आवश्यक मानते थे। "1917 महँगी का जमाना था। 1930 के बाद सस्ती का जमाना आया, इसलिए इस बीच में लिए गए कर्ज़ का सूद घटा देना चाहिये।"[49] हालात इतने खराब थे कि उन्हें दूर करना आवश्यक हो गया। "किसान लगातार फसलों की तबाही से जूझ रहा था। इसके अतिरिक्त अनाजों के दाम कम होने से उनकी स्थिति काफी दयनीय हो गई थी।"[50] इस दयनीयता से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने संघर्ष का मार्ग अपनाया।

आर्थिक मंदी के अतिरिक्त बहुत सी अन्य समस्याएँ भी किसानों के आंदोलन के लिए उत्तरदायी थी। स्वार्थी बिचौलियों का एक नया वर्ग ही उत्पन्न हो गया था जिसने किसानों के शोषण को उस सीमा तक पहुँचा दिया जहाँ किसान असंतोष विद्रोह की स्थिति तक पहुँचा। भूमि पर दबाव बढ़ा और नई भूमि व्यवस्था में ज़मीदारों, महाजनों, कारिन्दों आदि का प्रभाव बढ़ा। अतः जब भी किसानों ने अन्याय का

प्रतिकार करना चाहा तो इन बिचौलियों को किसान ने अपने और सरकार के मध्य एक शक्तिशाली कड़ी के रूप में पाया। भारत के किसान बदली हुई परिस्थितियों में अधिक समय तक यह दमन सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। किसान आंदोलनों (1920-32) के पूरे देश में फैलने की यह स्वाभाविक प्रक्रिया थी।

कृषक जागृति

प्रेमचन्द ने यह बताने का प्रयास किया है कि किसानों के अत्याचार सहने की एक सीमा होती है। परिस्थितियों की मार खाते खाते अब वह प्रतिरोध की मुद्रा में आ गए थे। जो लोग वैसे ('प्रेमाश्रम' का सुक्खू चौधरी) कभी भी ज़मींदारों का विरोध करना नहीं चाहते थे, वह हालात के आगे प्रतिरोध के लिए विवश थे। प्रेमचन्द की रचनाएँ, विशेष रूप से 'प्रेमाश्रम' कृषक जागरण का एक दस्तावेज है। इसमें उन्होंने कृषक जागरण को देशव्यापी जन-जागरण से जोड़ने का प्रयास किया है।"[51] इस उपन्यास के रचनाकाल में फसल की बर्बादी, अकाल और महामारी के कारण किसानों में जो सुगबुगाहट पैदा हुई थी वह दिखाई देती है। इसमें किसान ज़मींदारों के अत्याचारों का विरोध करते हैं, क्योंकि अब वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। "कारिन्दा कोई काटू है न जमींदार कोई हौवा है। यहाँ कोई दबैल नहीं है। जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं तो धौंस क्यों सहें?"[52]

असहयोग आन्दोलन के पहले ही 'प्रेमाश्रम' की रचना पूरी हो चुकी थी। "उस समय तक किसानों की कोई सभा या स्कूल आदि भले ही न हों, किसानों ने अपने हित के लिए संघर्ष करना शुरू कर दिया था।"[53] इसके बावजूद कुछ आलोचकों का मानना है कि यह असहयोग आन्दोलन की प्रतिध्वनि था। इस संबंध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द त्तकालीन कृषक जागृति से प्रेरित हुए हों और इस प्रेरणा का स्रोत रूसी क्रान्ति थी। जिस समय, अगस्त 1920, प्रेमाश्रम के मूल उर्दू मसौदे का हिन्दी अनुवाद हो रहा था तब तक असहयोग आन्दोलन लगभग समाप्त हो गया था। अतः संभवतः हिन्दी अनुवाद करते समय इसमें कुछ घटनाएँ गाँधी के आन्दोलन से प्रभावित लगती हैं।

'प्रेमाश्रम' लिखे जाने के दौरान हिन्दी भाषी क्षेत्रों में केवल दो ही जगह किसान आन्दोलन अस्तित्व में आया था—चम्पारन और अवध। 1917 का चम्पारन आन्दोलन गाँधी के लिए महत्वपूर्ण था, यद्यपि उन्होंने वहाँ कोई संगठन नहीं बनाया था। वहीं अवध में 'एका सभा' के रूप में किसान संगठन का विकसित रूप मिलता है। अवध में बाबा रामचन्द्र ने किसानों के बीच अभिवादन के लिए 'जय सीताराम' शब्द को चलाया था और शीघ्र ही यह किसानों को संगठित करने का एक सांकेतिक नारा बन

गया। बाबा रामचन्द्र ने इसे 'सीटी' और नेहरू ने 'युद्ध घोष' कहा जिसे सुनकर क्षण भर में हजारों किसान एकत्र हो जाते थे। किसान सभा के सदस्यों को कुछ प्रतिज्ञायें लेनी होती थीं। सर्वप्रथम रात को किसान सभा बुलाई जाती थी, सत्यनारायण और मुहम्मद शरीफ की कथा बाँची जाती थी, फिर किसानों की समस्याओं पर विचार-विमर्श होता था और प्रतिज्ञायें करवाई जाती थी।[53.1]

पंडित मदन मोहन मालवीय ने जनवरी 1918 में इलाहाबाद को केन्द्र बनाकर होमरूल लीग के अन्तर्गत कुछ स्थानीय ज़मींदार वकीलों के सहयोग से यू.पी. किसान सभा कायम की जिसने सरकार को किसानों की समस्याओं पर एक लम्बा-चौड़ा माँग पत्र पेश कर दिया। छोटे ज़मीदारों और शहरी वकीलों द्वारा बनाई गई इस किसान सभा ने कहीं भी किसानों के लिए किसी सभा का गठन किया गया। परिणामस्वरूप 1918 के दिल्ली के कांग्रेस अधिवेशन, जिसकी अध्यक्षता स्वयं मालवीय जी ने की थी, में पहली बार एक हजार किसान प्रतिनिधि संयुक्त प्रांत से भेजे गए, जिनमें से सात सौ प्रतिनिधियों का खर्च यू. पी. किसान सभा ने उठाया। इसके पूर्व 1917 में गांधी के चम्पारन आन्दोलन को राष्ट्रीय समाचारों ने प्रमुखता से छापा। विषेश रूप से कानपुर से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक पत्र 'प्रताप', ने अगस्त 1917 के अंक में। सरकार ने उन पर कानूनी कार्यवाही की और ज़मानत माँगी। इस सरकारी नोटिस के प्रत्युत्तर में 'प्रताप' ने 'चम्पारन का उद्धार' नामक किताब छापकर चम्पारन में एक-एक किसान के घर तक पहुँचा दी।[53.2] लेकिन बाबा रामचन्द्र की किसान सभा के समक्ष यू. पी. किसान सभा निरर्थक सिद्ध हुई।

"प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में डॉ. शान्ति कुमार से राष्ट्रीय शिक्षा देने के लिए 'सेवाश्रम' की स्थापना कराते हैं। इसका प्रमुख कारण स्वयं प्रेमचन्द का, काशी में राष्ट्रीय शिक्षा के लिए स्थापित विद्यापीठ के शिक्षकों में से एक होना था।"[54] वास्तव में प्रेमचन्द ने इन राजनीतिक गतिविधियों को देखा था जिन्होंने किसानों को अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत् करने का प्रयास किया। एक ओर रमेशचन्द्र दत्त, दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले ने सरकार पर लगान नीति सुधारने के लिए दबाव डाला। वहीं तिलक ने 12 जनवरी, 1897, 'केसरी' में किसानों को राजनीतिक शिक्षा दिए जाने की वकालत करते हुए लिखा था कि "उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करना चाहिए और संवैधानिक तरीके से संघर्ष करने की विधि समझानी चाहिए।"[55]

किसानों में जागरूकता के चिह्न प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ से ही दिखाई रहे थे। इसका एक अहम् कारण सम्भवतः सेना में किसानों की जबरन भर्ती भी थी।"[56] बिहार में चम्पारन (1917) के किसानों की विजय और गुजरात में खेड़ा सत्याग्रह

(1918) की सफलता ने किसानों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की ताकत दी। खेड़ा सत्याग्रह के संबंद्ध में मई 1919 में सरदार पटेल ने लिखा था, "लोगों के मन से अधिकारी वर्ग का भय निकल गया है और खेड़ा का किसान अधिकारियों के साथ हिम्मत और इज्जत से काम ले सकता है। इतना ही नहीं जो गरीब से गरीब रैय्यत सैकड़ों वर्षों से चुपचाप बेगार करके गुलामी की हालत बर्दाश्त करती थी, वह अब मुक्त हो गई है।"[57] भारतीय कृषक समाज की बदलती हुई मनोवृत्ति का प्रेमचन्द ने गहराई से अध्ययन किया। शोषित किसानों की भावी पीढ़ियाँ (गोबर, बलराज आदि) इस शोषण के विरुद्ध मुखर होती हैं। वह यह महसूस करते हैं कि "हमें अब संगठन, परस्पर प्रेम-व्यवहार की और सामाजिक अन्याय को मिटाने की जरूरत है।"[58] प्रेमचन्द ने एक नए आदर्श द्वारा किसानों को प्रेरित किया जिसके अनुसार "हर इन्सान को इन्सान की तरह रहने का हक मिलना चाहिए। वह किसी भी तरह का अन्याय बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। वह उस लोहे की तरह है जो आग में तपकर इस्पात बनने की क्षमता रखता है।"[59]

प्रथम विश्वयुद्ध, रूसी क्रान्ति, रौलेट एक्ट का देशव्यापी विरोध, जलियाँवाला बाग की दुर्घटना आदि ने भी किसानों को जागृत् किया होगा। प्रेमचन्द रूसी क्रान्ति से सर्वाधिक प्रभावित थे जिसने किसानों के महत्व को प्रतिष्ठित किया। वह बलराज के माध्यम से किसानों को संघर्ष करने के लिए प्रेरित करते हैं। वह कहता है, "तुम लोग तो ऐसे हँसी उड़ाते हैं, मानो काश्तकार कुछ होता ही नहीं। रूस में काश्तकारों का राज है। वह जो चाहते हैं, करते हैं। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।"[60] रूसी क्रान्ति से प्रेरित प्रेमचन्द ने 1919 में लिखा, "अब एक फाकाकश मज़दूर भी अपनी अहमियत समझने लगा है और धन-दौलत की ड्योढ़ी पर सिर झुकाना पसन्द नहीं करता। उसे अपने कर्तव्य चाहे न मालूम हों, लेकिन अपने अधिकारों का पूरा ज्ञान है। वह जानता है कि इस सारे राष्ट्रीय वैभव और प्रभुत्व का कारण मैं हूँ। यह सारा राष्ट्रीय विकास और उन्नति मेरे ही हाथों का करिश्मा है। अब वह मूक संतोष और सर झुकाकर सब कुछ स्वीकार कर लेने में विश्वास नहीं रखता।"[61] इस प्रकार प्रेमचन्द ने इस तथ्य को उजागर किया कि किसानों में किसी राष्ट्र को सम्पन्न बनाने की सारी क्षमता है।

'प्रेमाश्रम' पहले महायुद्ध के बाद का उपन्यास है। यूरोप की बड़ी-बड़ी ताकतों ने युद्ध के ज़रिये अपना संकट हल करने की कोशिश की, लेकिन युद्ध से संकट हल नहीं हुआ। गुलाम देशों की हालत और बुरी हो गई। वहाँ की जनता को और भी दबाकर रखने के लिए पश्चिमी ताकतों ने जोर जुल्म बढ़ाया। दूसरों को गुलाम बनाने

को सामने नहीं लाते। यद्यपि जून 1920 से ही पंडित नेहरू किसान सभाओं के सम्पर्क में आने लगे थे। 27 जनवरी, 1921 को रायबरेली के अकबरपुर तहसील के गौहाना में 30-40 किसानों की सभा जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुई। सभा में किसानों की माँगें नहीं उठाई गईं। भाषणों में ब्रिटिश सरकार की निन्दा की गई लेकिन ताल्लुकदारों और ज़मींदारों के खिलाफ कुछ नहीं कहा गया था। उन्होंने ज़मींदारों की सम्पत्ति लूटने वाले किसानों को हाथ उठाने के लिए कहा, उनके हाथ उठाते ही वहाँ मौजूद खुफिया अधिकारियों ने लूट के दोषी किसानों को गिरफ्तार कर लिया। बारह साल बाद नेहरू ने लिखा कि मुझे उनकी हालत पर बड़ा दुख हुआ और इस बात पर अफसोस हुआ कि मैंने नाहक ही इन सीधे-भोले लोगों को लंबी-लंबी सजाएँ दिए जाने की हालत में ला दिया।[126.1]

अवध के किसान आन्दोलन, जिसकी अभिव्यक्ति 'प्रेमाश्रम' में की गई है, के विषय में लंदन के टाइम्स ने 6 मार्च, 1922 के अंक में लिखा है—"पहले सब किस्म के अधिग्रहणों से कुचले गए काश्तकारों की हालत ऐसी न थी कि वे प्रभावशाली ढंग से अपना विरोध भी प्रकट करते, लेकिन हाल के राजनीतिक जागरण के संपर्क में आकर उन्होंने अपने अधिकारों के लिए संगठित होकर लड़ना आरम्भ किया है। अपने अधिकारों की रक्षा की इस लड़ाई में किसानों ने ज़मींदारों की कचहरियों में आग लगाई, लगानबंदी का रास्ता अपनाया और अपने साथियों को गिरफ्तारी से बचाने के लिए सशस्त्र प्रतिरोध किया।"[12] राष्ट्रीय आन्दोलन के बड़े नेताओं का किसान आन्दोलन को विशेष सहयोग प्राप्त नहीं था। इलाहाबाद के कुछ बड़े वकीलों ने अवश्य इनका समर्थन किया। "वास्तव में कांग्रेस के बड़े नेता किसानों की, "भूमि का अधिकार जोतने वाले को मिले" माँग से डर गए थे। किसान सभा के अनपढ़ सदस्यों द्वारा सैकड़ों की तादाद में कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेना और अपने 'देहाती', 'जंगली' व्यवहार द्वारा भद्र सुसंस्कृत उच्चवर्गीय नेताओं के कांग्रेस अधिवेशनों का रंग फीका करना उन भद्र नेताओं को मान्य नही था।[128] "कांग्रेस का उच्च वर्गीय नेतृत्व अपने वर्गहितों के विरुद्ध किसान संगठनों का समर्थन नहीं करता था। यदि किसान आन्दोलन उनकी इच्छाओं के विरुद्ध क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाते थे तो इस राष्ट्रीय नेतृत्व ने या तो बिचौलियों की भूमिका का निर्वाह किया अथवा खुलकर उनकी निन्दा की।"[129] बाबा रामचन्द्र ने लिखा कि अगर राष्ट्रीय नेताओं ने किसान आन्दोलन का नेतृत्व किया होता तो किसान ताल्लुकदारी प्रथा को उखाड़ फेंकते।[129.1]

दिसम्बर 1921 में किसानों का असंतोष एक बार फिर उभरकर सामने आया। इस बार उनकी गतिविधि के केन्द्र—रायबरेली, फ़ैजाबाद और सुल्तानपुर नहीं बल्कि

प्रान्त के उत्तरी क्षेत्र हरदोई, बहराइच और सीतापुर थे। किसानों के असंतोष को आन्दोलन की शक्ल दी कांग्रेस और खिलाफत नेताओं ने।[130] "इस आन्दोलन में किसानों के लिए उनका कार्यक्रम था कि वे सरकार को भूराजस्व नहीं दे। इससे सरकार के आर्थिक आधार के कमजोर हो जाने का खतरा आया। यद्यपि 1921 के कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में कर भुगतान नहीं करने की कोई चर्चा नहीं की गई।"[131] अवध में किसान संगठन का नाम 'एका' था। इनकी मुख्य शिकायत लगान वृद्धि और उपज के रूप में लगान वसूल करने की प्रथा को लेकर थी। इस आन्दोलन को नेतृत्व पिछड़ी जातियों के मदारी पासी और सहदेव आदि ने दिया। जो कांग्रेस की अहिंसक नीति के प्रति प्रतिबद्ध नहीं थे और किसानों के अतिरिक्त छोटे ज़मींदारों ने भी इनका समर्थन किया। इसके फलस्वरूप अवध का किसान आन्दोलन 1922 में 1920 की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो गया।[132]

प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में मनोहर, बलराज और कादिर मियाँ के रूप में इन स्थानीय किसानों नेताओं की अभिव्यक्ति मिलती है। 'कर्मभूमि' में बाबा रामचन्द्र और उनके सहयोगियों के रूप में शांतिकुमार, आत्मानन्द, अमरकान्त आदि का चित्रण विस्तृत रूप से किया है। "अवध का किसान आन्दोलन काफी लम्बे समय (1918-42) तक चला और 1942 के बाद यह अपना नेतृत्व और जनाधार खोने लगा था।"[133] इसलिए पूरे आन्दोलन की अभिव्यक्ति (1932 तक) 'कर्मभूमि' में मिलती है। ब्रिटिश सरकार ने फौज और पुलिस की मदद से निर्ममतापूर्वक इस आन्दोलन का दमन किया। प्रेमचन्द के यह दोनों उपन्यास अवध के किसान आन्दोलनों के ऐतिहासिक दस्तावेज है।

कांग्रेस ने हमेशा किसान आन्दोलनों को अहिंसात्मक आन्दोलन और लगान देते रहने की सलाह दी। "उन्हें लाठियों और चाकुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ज़मींदारियों को लूटना नहीं चाहिए। किसानों को अपने शत्रुओं को दया और प्रेम से जीतना होगा। ज़मींदारों को कानूनी लगान देने से इनकार कर अनैतिक समझा जा सकता है।"[134] वास्तव में कांग्रेसी नेताओं को यह अनुभव था कि किसी भी हिंसात्मक आन्दोलन का दमन करना सरकार के लिए कठिन न होगा। उत्तर प्रदेश में सरकार ने हिंसात्मक किसान आन्दोलन को जिस तरह कुचला, वह इस बात का सबूत है कि राष्ट्रीय नेताओं की आशंका सही थी।[135]

1930 के बाद भारतीय किसानों में एक जागृति का प्रार्दुभाव हुआ और उन्होंने परिस्थितियों को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। यह चेतना विश्वव्यापी आर्थिक मंदी और कांग्रेस के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का परिणाम थी। निःसंदेह इस परिप्रेक्ष्य में 1928 के 'बारदोली सत्याग्रह' की अवहेलना नहीं की जा सकती, जिसने प्रेमचन्द को 'कर्मभूमि' की रचना के लिए एक यथार्थवादी आधार दिया।

"सशस्त्र संग्राम में किसी समय चित्तौड़ ने जो यश प्राप्त किया और भारत का मुख जिस प्रकार उज्ज्वल किया, वही यश इस निशस्त्र संग्राम में बारदोली ने प्राप्त किया और उसी भाँति भारत का मुख उज्ज्वल किया है। सिद्धांत पर अपना सर्वस्व बलिदान कर देने की ऐसी मिसाल इतिहास में कदाचित मुश्किल से मिलेगी। आज बारदोली खाली है, वहाँ की आदर्श पर जान देने वाली जनता सब कुछ त्याग कर आस पास की रियासतों में जा बसी है। यह न समझिये, कि उनकी दशा भी उत्तरी भारत के किसानों की सी है। नहीं, वे छोटे-छोटे ज़मींदार हैं। कुछ लोग कई-कई हज़ार सालाना कर देते हैं। उनमें अधिकांश ऐसे हैं, जिनके घर वाले विदेशों में धनोपार्जन कर रहे हैं और उनका जीवन भी व्यवसाय है, पर इस समय उन्होंने सिद्धांत पर सब कुछ होम कर दिया। इनका यह दैवीय साहस देखकर हम लज्जा से सिर झुका लेते हैं, क्योंकि हम अपने में वह तप और विश्वास नहीं पाते। तुम धन्य हो बारदोली के वीरो।"[136]

प्रेमचन्द के पहले उपन्यास 'वरदान' (1905-6) से लेकर 'गोदान' (1936) तक किसानों के प्रति उनकी जो अनुभूतियाँ और चिन्ता थी, वह निरंतर गंभीर और यथार्थवादी होती गई। प्रेमचन्द के किसानों को अपने अधिकारों की जानकारी है और वह उन्हें प्राप्त करने के लिए निरंतर संघर्षरत है। इस गहरी सहानुभूति ने किसानों के प्रति कांग्रेस की कृत्रिम सहानुभूमि से उन्हें परिचित करा दिया था। ''कांग्रेस के मेम्बर (काउंसिल में) कभी कभी न्याय और नीति ने नाते भले ही किसानों की वकालत करें, लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुखों और वेदनाओं की उन्हें (ज़मींदार) जो काउंसिल में उनके प्रतिनिधि हैं वह अखर नहीं हो सकती, जो एक किसान को होती है।"[137]

राधाकमल मुखर्जी ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि "मद्रास, बंगाल और संयुक्त प्रांत में लगान की राशि दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती रही है।[138] प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' उपन्यास और 'समरयांत्र' कहानी संग्रह की रचना बारदोली सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान की थी। इसमें उन्होंने पहली बार लगान के विरुद्ध किसानों के एक संगठित संघर्ष का वर्णन किया है। क्योंकि अब उनको इस बात का ज्ञान था कि ज़मींदार को इज़ाफा करने का अधिकार उसी दशा में होता है, जब वह अपने प्रयत्न से भूमि की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करे। अन्यथा इस प्रकार-की निर्मूल लगान वृद्धि अनर्थ है।[139] बारदोली में किसानों को नेतृत्व सरदार पटेल और उनके सहयोगियों ने दिया, जबकि 'कर्मभूमि' में नेतृत्व प्रदान करने का दायित्व अमरकांत को दिया गया।

आर्थिक मंदी के दौरान लगान देना किसान की सामर्थ्य के बाहर था। तेजी के समय बाँधा गया लगान मंदी में बिना किसी कटौती के देना किसानों के लिए संभव नहीं था। "संयुक्त प्रान्त के बहुत से जिलों की समस्या राजनीतिक नहीं वरन् आर्थिक

थी, जो करों के भुगतान की वास्तविक असमर्थता का परिणाम थी। गृह सदस्य और मुख्य सचिव ने इस प्रांत के आर्थिक असंतोष की पुष्टि की है। इस प्रांत के किसानों से करों के पूर्ण भुगतान की अपेक्षा नहीं की जा सकती।[140]

"मंदी का दौर शुरू होने के पहले वर्ष में खेती से लगभग दस अरब चौतीस करोड़ रुपये मूल्य की पैदावार हुई थी। 1933-34 में वह घटकर चार अरब तिहत्तर करोड़ की हुई। पाँच साल में पचपन प्रतिशत गिरावट आई।[141] आकाल के कारण किसानों की और भी दुर्दशा हुई। संयुक्त प्रांत में उन काश्तकारों द्वारा जो लगान नहीं दे सके, मजबूरी में भूमि का परित्याग करना पड़ा। 1931 में यह संख्या 71,500 थी। 2,56,000 लोगों से जबरन मालगुजारी वसूल करने के आदेश जारी किए गए। उनमें से अधिकांश लगान देने में असमर्थ रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि 1934-35 तक 50 लाख एकड़ कृषि क्षेत्र में कमी आई। इससे उत्पादन में भी भारी गिरावट आई।[142]

प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' और गांधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन की प्रकृति और नेतृत्व में काफी समानता है। 'कर्मभूमि' के आत्मानंद और पंडित नेहरू के विचारों में समानता मिलती है। आत्मानंद कहता है कि "महन्त जी (जमींदार) जब तक लगान बिल्कुल न छोड़ दें, महन्त जी अथवा हाकिम के पास जाकर प्रार्थना करने से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि महंत जी को उत्सव मानने के लिए और हाकिमों को बड़ी-बड़ी तलबों के लिए रुपये चाहिए। इसलिए लोग कोई उत्सव न होने देंगे और उनका मकान और ठाकुरद्वारा घेर लें।"[143] वहीं कांग्रेस ने सरकार से बातचीत करने तक इलाहाबाद के किसानों को यह सलाह दी कि वह समझौता होने तक लगान का भुगतान न करें। लेकिन समझौता न होने पर पं. नेहरू ने कहा, "यदि रियायतें मिलतीं तो निःसंदेह हम किसानों को उस समझौते पर अमल करने की सलाह देते और करों की ना-अदायगी के आंदोलन को तो प्रश्न ही नहीं रहता। अभी तक यह सलाह केवल इलाहाबाद जिले में ही दी गई है और यह संभव है कि इलाहाबाद के उदाहरण का वह भी अनुसरण करेंगे।"[144]

यद्यपि स्वामी आत्मानंद का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उग्र है, जो प्रेमचन्द के व्यक्तिगत विचारों की अभिव्यक्ति है। क्योंकि किसानों की समस्याओं का समाधान करने के लिए वह किसी प्रकार का समझौता करने को त्तपर नहीं थे। लेकिन नेहरू ने किसानों को अहिंसक रहने की सलाह दी, क्योंकि सत्याग्रह एक बहुत ही उपयोग शस्त्र है। "यदि आपके साथ लगान वसूली के समय बदसलूकी या अत्याचार होता है तो आपको उसका जवाब हिंसक होकर नहीं देना चाहिए।[145] वास्तव में गांधीवादी नेतृत्व ने अवध में किसान आन्दोलन को संगठित नहीं किया था। वहीं गांधी के समर्थक ये मानते थे कि स्वराज आन्दोलन की सफलता के लिए यह जरूरी था कि ज़मींदार-किसान संघर्ष न हो।

वहीं दूसरी ओर अमरकांत आत्मानंन्द की नीतियों का विरोध करता है। वह पहले समझौते और बातचीत के बाद ही प्रत्यक्ष कार्यवाही का समर्थन करता है। उसका यह दृष्टिकोण कांग्रेसी नेताओं के अनुरूप है। किसान आन्दोलन में भाग लेकर वह गांधी-इरविन समझौते को भंग नहीं करना चाहते थे। तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय आन्दोलनों में गांधी के प्रभाव के कारण किसान नेता अहिंसक थे और अमरकान्त की तरह बातचीत के माध्यम से समस्याओं का समाधान करना चाहते थे। लेकिन अन्ततः लाल फीताशाही और आन्दोलन का क्रान्तिकारी रूख उसे प्रत्यक्ष कार्यवाही के लिए प्रेरित करता है। यह आन्दोलन ज़मींदारों और ताल्लुकदारों के मूल अधिकारों को नष्ट नहीं करना चाहता था।[146] गांधी ने भी किसानों को यह सलाह दी थी कि जमींदारों के प्रति उनका व्यवहार अहिंसक रहना चाहिए।[147]

आर्थिक दबावों के परिणामस्वरूप 'कर्मभूमि' में अमरकान्त करों की नाअदायगी का आन्दोलन चलाता है। "जब तक हम लगान देना बंद न करेंगे, सरकार यूँ ही टालती रहेगी।[148] इसका एक अन्य कारण संभवतः 5 मार्च, 1931 को गांधी द्वारा वायसराय की जो ग्यारह सूत्रीय माँगें दी गई थीं।[149] उनमें किसानों की माँगों की उपेक्षा की गई। इसीलिए आन्दोलन को प्रेमचन्द ने एक अहिंसात्मक आन्दोलन नहीं वर्णित किया है। "उस समय जब लोग कर्ज़ की समस्या को किसान आन्दोलन की एक बुनियादी समस्या न समझते थे, प्रेमचन्द ने उस पर विशेष बल दिया। प्रेमचन्द ने लगानबंदी को स्वाधीनता आन्दोलन की रीढ़ बताया था।[150] "जो शुद्ध आर्थिक आन्दोलन था, न कि राजनीतिक।"[151]

'कर्मभूमि' में मि. गजनवी सरकारी जाँच के बाद ही लगान में छूट देने की बात करते हैं, लेकिन यह जाँच धीमी गति से की गई।[152] ऐसी स्थिति में सरकार के उद्देश्यों के बारे में पंडित नेहरू ने लिखा कि "उनकी इच्छा यह रहती है कि वह ज्यादा से ज्यादा राजस्व, करों में छूट अथवा कमी की घोषणा करने से पहले एकत्र कर लें।"[153]

अमरकान्त एक तरफ किसानों को सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाता है, वहीं दूसरी ओर वह विश्वासघात करके आत्मानंद को गिरफ्तार करने के लिए चाल चलता है। किसानों को अपनी बात मनवाने के लिए धमकाता भी है—"अगर धैर्य से काम लोगे तो सब ठीक कुछ हो जाएगा। हुल्लड़ मचाओगे तो कुछ न होगा, उल्टे डंडे और पड़ेंगे।[154] वास्तव में अमर अपने वर्ग के अनुरूप व्यवहार करता है। वह विनय और चक्रधर की परम्परा का किसान नेता है, जो किसानों के हितों की अनदेखी करके समझौता कर लेते हैं। जब किसान आन्दोलन अपनी सफलता की पराकाष्ठा पर है तब अमर सेठ धनीराम के प्रस्ताव को स्वीकार कर समझौते के लिए तैयार हो जाता

है, यद्यपि सरकार लिखित रूप से कोई आश्वासन नहीं देती। इस प्रकार यह आन्दोलन गांधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तरह समझौता और कमेटीवाद में खो जाता है। जनता के बलिदानों का बुर्जवा नेतृत्व की दृष्टि में कोई अर्थ नहीं। सेठ धनीराम और लाला समरकान्त, जो तेज बहादुर सप्रू और एम. आर. जयकर की ही भूमिका में थे, ने आन्दोलन को दबाने में सरकार का साथ दिया।[155]

सम्भवतः प्रेमचन्द को सरकार की भावी नीतियों और उच्च मध्यमवर्गीय नेताओं की रणनीति का ज्ञान था। इसीलिए 'कर्मभूमि' में उन्होंने सभी बड़े-बड़े नेताओं को गिरफ्तार कराया। अमर को सरकार विरोधी भाषण देने के आरोप में उसी तरह गिरफ्तार किया गया जैसे गांधी को आन्दोलन की प्रगति रोकने के लिए गिरफ्तार किया गया था। अमरकांत लगानबंदी आन्दोलन गांधी के सत्याग्रह के सिद्धान्तों पर चलाना चाहता था, इसलिए जेल में जब यह सुनता है कि पुलिस के अत्याचारों के कारण आन्दोलन हिंसात्मक रुख ले रहा है तो उसे बहुत दुख होता है। अंत में सरकार झुकती है, निर्णय लेने के लिए एक कमेटी बना दी जाती है और लगानबंदी आन्दोलन के सब केदी छोड़ दिए जाते हैं।[156] उच्च मध्यवर्गीय नेतृत्व इससे आगे किसान आन्दोलन को ले जा भी नहीं सकता, यही 'कर्मभूमि' का मूल स्वर है।

1942 में साम्राज्यवादियों ने प्रेमचन्द की 1930-31 में की गई कल्पना को साकार रूप दिया जब उन्होंने किसान संगठन और राष्ट्रीय कांग्रेस की शक्ति को तोड़ने के लिए सभी कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार किया। "1942-45 का काल पूरे किसान आन्दोलन के लिए अग्नि परीक्षा का काल था। अगस्त 1942 में साम्राज्यवाद ने पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन पर एक क्रूर हमला किया। कांग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारी के बाद दमन की चक्की अंधाधुंध चलने लगी।"[157] इसी दमन चक्र को प्रेमचन्द ने 1930-31 में ही 'कर्मभूमि' के माध्यम से वर्णित किया था।

किसानों के क्रान्तिकारी रुख के भयानक परिणामों के बारे में जिला हाकिम सलीम, अमर को चेतावनी देता है—"इसका नतीजा क्या होगा जानते हो? गाँव के गाँव बरबाद हो जाएँगे, फौजी कानून जारी हो जाएगा, शायद पुलिस बैठा दी जाएगी, फसलें नीलाम कर दी जाएँगी, जमीनें जब्त हो जाएँगी। कयामत का जमाना होगा।[158] 1931 में सरकारी लगान का दबाव इतना ज्यादा था कि इलाहाबाद जिले की केवल एक तहसील में छः सौ से अधिक बेदखलियों की शिकायतें मिली थीं।[159] "इसी प्रकार 1920-21 में सरकार ने अवध के किसानों के प्रतिरोध का दमन करने के लिए हजारों की संख्या में किसानों को जेल भेजकर और अन्य से मुचलका या इकरारनामा भरवाकर आन्दोलन का दमन किया था।[160]

समय के साथ किसान आन्दोलनों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। पहले हमारे किसान अफसरों की सूरत से काँपते थे, लेकिन ज़माना बदल रहा है। अब उन्हें भी अपने मान-अपमान का ख्याल होता है। अतः वह जुल्म के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा मर मिटना अच्छा समझते हैं।[161] इन दमनात्मक कार्यवाहियों के समय गाँव की स्थिति का प्रेमचन्द यथार्थ वर्णन करते हैं। लगान नाअदायगी के बाद इलाके पर फौजी कानून लागू कर दिया गया। सारे इलाके को पुलिस ने घेर लिया। पाँच आदमियों से ज्यादा कही इकट्ठे नहीं हो सकते थे। शाम को आठ बजे के बाद घर से कोई निकल न सकता था। पुलिस को बताए बिना कोई घर में मेहमान भी न ठहरा सकता था। इस प्रशासनिक आतंक का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा, "कितने ही घर जला दिए गए थे और उनके रहने वाले हबूड़ों की भाँति वृक्षों के नीचे बाल-बच्चों को लिए पड़े हुए थे। ज़रा सा मौका पाते ही इधर-उधर से दस बीस आदमी आकर जमा हो जाते, पर सवारों को देखा और गायब।"[162]

किसानों के आन्दोलन का भारतीय अधिकारियों ने या तो मजबूरी में दमन किया अथवा अपनी नौकरी ही छोड़ दी। 'कर्मभूमि' में अमर की गिरफ्तारी के बाद जब सरकारी दमन बहुत ही भयानक हो गया था, तब सलीम ने दमन के विरोध में सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और किसानों का नेतृत्व सँभाला।[163] वहीं किसानों द्वारा लगान न देने की घोषणा के बाद हाकिम जिला गज़नवी ने आत्मानन्द और अमर को गिरफ्तार करने का आदेश देते हुए कहा, "मैं इनके नेक इरादों की कद्र करता हूँ, लेकिन हम और वह दो केम्पों में हैं—स्वराज हम भी चाहते हैं मगर इन्कलाब की सूरत में नहीं।"[164]

प्रेमचन्द की रचनाओं 'कर्मभूमि' और 'कायाकल्प' में किसानों और राष्ट्रीय नेताओं के बीच तालमेल का अभाव है। अमरकान्त किसानों को संगठित कर आन्दोलन चलाने का प्रयास करता है जबकि किसान अपनी चेतना के अनुसार आन्दोलन चलाते हैं।[165] किसानों के प्रति सहानुभूति दिखाने वाले उच्च मध्यवर्गीय मानसिकता को प्रेमचन्द ने बहुत अच्छे से समझा है। जब इस वर्ग के अपने हितों पर कुठाराघात होता है, तो वह अपने असली रूप में आ जाता है। 'अंधा पूँजीवाद' दैत्य की तरह पूरी दुनिया पर छा रहा है। इन पूँजीपतियों के लिए जनता अर्थात् कृषक और मजदूर वर्ग शोषण का माध्यम है। "यह आशा करना कि पूँजीपति किसानों की हीन दशा से लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है। इस खूँखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हमें स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा।"[166]

निष्कर्ष

"एक देश जहाँ किसान घास छीलने के लिए मजबूर नहीं किए जाते।[167] यह भाव किसानों को अपनी तकदीर पर आँसू बहाने के लिए विवश करता है। लेकिन असहयोग आन्दोलन के बाद किसानों में जो जागृति आई उसे प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में विशेष महत्व दिया। लेकिन उन्होंने किसानों के 'सक्रिय संगठनों' और 'उचित नेतृत्व' के अभाव के प्रति अपनी चिन्ता को उजागर किया है। जहाँ तक नेतृत्व का प्रश्न है प्रेमचन्द ने ऐसे नेतृत्व की वकालत की है जो किसानों के बीच से आए न कि अंग्रेज़ी शिक्षित और पेन्ट-कोट वाला नेतृत्व।[168] वह क्रान्ति के नहीं, बल्कि सुधार के समर्थक थे। उनके लिए सुधार क्रान्ति से बचाव का रास्ता है।[169] जबकि प्रेमचन्द रूसी क्रान्ति से प्रभावित सशस्त्र आन्दोलन के समर्थक थे।

किसान आन्दोलन के संबंध में प्रेमचन्द मध्यवर्गीय शहरी जनता की भूमिका के प्रति निरन्तर असंतोष व्यक्त करते रहे कि वे किसान आन्दोलनों से पूरे मन से नहीं जुड़ते। "हमारे नेताओं में यही बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जाकर शहरों में रहते हैं जिससे देहातों की सच्ची दशा उन्हें नहीं मालूम होती। न उन्हें वह शक्ति ही हाथ आती है, न जनता पर उनका वह प्रभाव ही पड़ता है।"[170] इसी संदर्भ में एन.जी. रंगा ने कांग्रेस की आलोचना करते हुए लिखा, "कांग्रेस ने भारतीय किसान की कठिनाइयों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना उद्योगपतियों की आवश्यकता की ओर।"[171]

प्रेमचन्द्र, 1933 में वर्धा में हिन्दी परिषद् की बैठक के दौरान पहली और आखिरी बार गांधी से मिले थे। वह गांधी से बहुत प्रभावित हुए। घर लौट कर उन्होंने शिवरानी देवी से कहा कि मैं तो उनका चेला हो गया और मैंने उनके गुणों को अपना लिया।[171.1] किसान आन्दोलन के संबंध में गांधी और प्रेमचन्द की विचारधारा में एक गंभीर मतभेद दिखाई देता है। सबसे बड़ा अन्तर यह था कि ज़मींदार-किसान संघर्ष में गांधी ने स्वराज आन्दोलन के हित में किसानों को झुकने पर जोर दिया जबकि प्रेमचन्द ने ज़मींदारों को झुकने पर जोर दिया। इसके अतरिक्त जहाँ एक ओर "गांधीजी किसानों को लगानबंदी आन्दोलन से दूर रखकर या इस तरह के आन्दोलनों को सीमित रखकर-अंग्रेज़ों से अधिकार लेना चाहते थे। उनकी विचारधारा और कार्यनीति की सबसे बड़ी कमजोरी थी, पूँजीपतियों को ट्रस्टी मानकर वह वर्ग संघर्ष की समस्या हल करना चाहते थे।"[172] 'गांधी ने अवध में किसानों को निर्देश जारी किए कि वे ज़मींदारों-ताल्लुकदारों के खिलाफ अपना आन्दोलन रोक दें। गांधी अवध में आए उन्होंने ताल्लुकदारों को यकीन दिलाया कि मेरा असहयोग आन्दोलन विदेशी सरकार के खिलाफ है, आपके नहीं।'[172.1] किसानों से कहा गया कि

'ज़मींदारों के जुल्म-अत्याचार को थोड़ा बहुत सह लेना चाहिए, क्योंकि ज़मीदार हमारे दुश्मन नहीं हैं।'[172.2] इस दौरान कांग्रेस के कई दिग्गज नेता किसानों को यह बात मनवाना चाहते थे कि उन्हें अपना आन्दोलन छोड़कर स्वराज प्राप्त करने के लिए असहयोग आन्दोलन में शामिल होना चाहिए, क्योंकि स्वराज से ही मुक्ति संभव है। इनमें प्रमुख थे, गांधी, जवाहरलाल नेहरू, मोतीलाल नेहरू, मोहम्मद अली और शौकत अली।[172.3] किसानों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत किया। परिणामस्वरूप दिसम्बर 1920 में किसानों के एक सम्मेलन में बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में यह निर्णय लिया गया कि कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में किसानों के दो प्रतिनिधि जाएँगे कांग्रेस के प्रस्तावों में 'लगानबंदी' का प्रस्ताव रखेंगे। कांग्रेस के विचारों को जानने के बाद वह अपनी भावी रणनीति 5 जनवरी, 1921 को ऊँचाहार, रायबरेली में होने वाली किसान सभा में बनाएँगे। इसी दौरान मुंशीगंज में हुई फायरिंग के कारण कांग्रेस ऊँचाहार में होने वाली सभा को रोकना चाहती थी। ऊँचाहार सभा में जा रहे किसानों को रोकने का काम मदन मोहन मालवीय और नेहरू जैसे कांग्रेसियों ने किया था।[172.4]

वहीं प्रेमचन्द किसानों और मजदूरों को अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन की प्रेरणा देते हैं। "हिन्दी भाषी क्षेत्र में किसान आन्दोलन बढ़ रहा था। निर्धन किसान साम्राज्यवाद और उसके सहयोगियों से संघर्ष कर रहा था। प्रेमचन्द इस संघर्ष को रोकना तो दूर, उसका स्वागत करने वाले लेखक थे।"[173] उन्होंने लिखा "नया ज़माना मज़दूरों और किसानों का है। दुनिया की घटनाओं के रुझान यह साबित कर रहे हैं।[174] इसीलिए प्रेमचन्द ज़मींदारों और ताल्लुकदारों को सुझाव देते हैं, 'उचित है कि वे तात्कालिक हानि की चिन्ता न करके किसानों की भलाई और सुधार की कोशिश करें, स्वेच्छा से उन अधिकारों से हाथ खींच लें जो उन्हें किसानों पर प्राप्त हैं। उनसे बेगार लेना छोड़ दें, उनके साथ आदमियत का बर्ताव करें, इज़ाफा और बेदखली से परहेज करें, ताकि जनता के दिलों में उनकी इज्जत और उनके प्रति श्रद्धा हो।'[174.1] यहाँ प्रेमचन्द उन शिक्षित जमींदारों से नैतिक आग्रह कर रहे थे जो राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल थे।

"प्रेमचन्द ने पत्तों को टटोलने और डालियों को छूने के बजाय उन जड़ों को खोद-खोद कर देखना शुरू किया, जो बहुत गहरे और बहुत दूर तक बड़ी मजबूती के साथ फैली हुई थी। बेशक, उन्होंने उन जड़ों पर उसी ताकत से प्रहार किया, जिस ताकत से मनोहर, गौस खाँ की गर्दन पर वार करता है, पर शोषणकारी व्यवस्था की गर्दन व्यक्ति की गर्दन नहीं होती उसके लिए बार-बार प्रहार करने की आवश्यकता होती है। प्रेमचन्द ने जीवन के अन्तिम क्षणों तक यह कार्य बड़ी निष्ठा और ईमानदारी से सम्पन्न किया।"[175]

प्रेमचन्द रूसी क्रान्ति जैसी क्रान्ति भारतीय किसानों में भी चाहते थे। शिवरानी देवी के पूछने पर कि क्या रूस वाले यहाँ आएँगे? प्रेमचन्द बोले, "वह लोग यहाँ नहीं आएगें, हमीं लोगों में वह शक्ति आएगी। वह हमारे सुख का दिन होगा, जब यहाँ काश्तकारों और मजदूरों का राज होगा।"[176] सैद्धान्तिक मतभेदों के बावजूद प्रेमचन्द महात्मा गांधी के संबंध में कहते हैं, "दुनिया में महात्मा गांधी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मज़दूर और काश्तकार सुखी हों। वह इन लोगों को आगे बढ़ाने के लिए आन्दोलन चला रहे हैं। मैं लिखकर उनको उत्साह दे रहा हूँ।[177]

इसीलिए प्रेमचन्द के विचारों की प्रासंगिकता, प्रेमचन्द के युग की अपेक्षा आज कहीं अधिक है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. 'प्रेमचन्द एवं समकालीन भारतीय उपन्यासकार', डॉ. कलावती प्रकाश, पृ. 288.
2. 'प्रेमचन्द अंक', विश्वमित्र, पृ. 12.
3. रामविलास शर्मा, पृ. 58.
4. वही, पृ. 46.
5. 'रंगभूमि', पृ. 559.
6. 'प्रेमचन्द और भारतीय किसान', डॉ. रामबक्ष , पृ. 94.
7. वही, पृ. 104.
8. रामविलास शर्मा, पृ. 45-46.
9. आर. पी. दत्त, 'भारत वर्तमान और भावी'1977, पृ. 84, 1976.
10. 'आज का भारत' आर. पी. दत्त, पृ. 288, .
11. 'भारत वर्तमान और भावी', आर. पी. दत्त, पृ. 85.
12. 'किसानों की कर्ज़ा कमेटी के प्रस्ताव', प्रेमचन्द का लेख, 12 अक्टूबर 1932, 'जागरण' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-8, पृ. 143.
13. 'आज का भारत', आर. पी. दत्त, पृ. 96.
14. 'भारत वर्तमान और भावी',आर. पी. दत्त, पृ. 100, आज का भारत, पृ. 253.
15. प्रेमचन्द्र अंक', कुँवरपालसिंह का लेख, 'प्रेमचन्द और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन' से उद्धृत, पृ. 46.
16. 'महाजनी सभ्यता', सितम्बर 1936 में 'हंस' में प्रकाशित लेख। रचनावली, भाग-7, पृ. 511-12.
17. मार्क्स 'केपिटल', भाग-3, पृ. 352-53, ए. आर. देसाई से उद्धृत.
18. 'आगरा जमींदार सम्मेलन', प्रेमचन्द, 12 फरवरी 1934, 'जागरण' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-9, पृ. 45-46.

19. 'एग्रेरियन अनरेस्ट इन नार्थ इण्डिया', माजिद सिद्दीकी, पृ. 2.
20. वही, पृ. 6.
21. वही, पृ. 5.
21.1 प्रेमाश्रम, पृ. 181.
22. 'अग्रेरियन अनरेस्ट इन यू. पी.', दिसम्बर 2, 1931, पृ. 14-15.
22.1 'प्रेमाश्रम', पृ. 248-49.
23. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-3, पृ. 368.
24. वही, पृ. 375.
24.1 एच. डी. मालवीय, 'लैण्ड रिफॉर्म इन इण्डिया', ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी, दिल्ली, 1954.
24.2 एच. सी. इरविन, 'द गार्डन ऑफ इण्डिया', पृ. 186-87.
24.3 Report on an Informal Committee Appointed to Examine and Adwise Regarding Paragraph 212 to 259 of the Report on Indian Constitution Reforms; part IV Government Press, Allahabad, 1918.
25. 'प्रेमाश्रम', पृ. 262.
26. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-3, पृ. 77.
26.1 मेहता रिपोर्ट एग्रेरियन डिस्टरबेंस इन प्रतापगढ़, पृ. 16.
27. रामविलास शर्मा, पृ. 46.
28. 'कर्मभूमि', प्रेमचन्द, पृ. 105.
29. रामविलास शर्मा, पृ. 55.
29.1. 'रामचन्द्र पेपर्स', आर. सी. 1, पांडुलिपी विभाग, नेहरू मेमोरियल, नई दिल्ली.
29.2. 'प्रताप', 17 मई 1920 के अंक में प्रकाशित एक तहसीलदार की पत्नी की चिट्ठी। इस तहसीलदार की पत्नी ने किसानों पर होने वाले शोषण को रोकने का आग्रह किया था।
30. 'गवर्नर बम्बई की शिकायत', प्रेमचन्द का लेख 18 सितम्बर, 1933 'जागरण' रचनावली, भाग- 8, पृ. 433-34, "बम्बई के गवर्नर ने शहरी जनता का आवाहन किया कि वह देहातों की तरफ ध्यान दें, क्योंकि देहातों पर ही उनकी हस्ती कायम हैं।"
30.1 'प्रेमाश्रम', पृ. 289.
31. आर. पी. दत्त, 'भारत वर्तमान और भावी' (1982), पृ. 104.
32. वही, पृ. 105.
33. वही, पृ. 253.
34. 'किसानों की कर्जा कमेटी', रचनावली, भाग-8, पृ. 144-45.
35. 'किसानों का कर्ज', प्रेमचन्द, जुलाई 1933 'जागरण' में प्रकाशित लेख, रचनावली, भाग-8, पृ. 367.

36. 'कर्मभूमि', पृ. 246.
37. वही, पृ. 248.
38. वही, पृ. 237.
39. 'अग्रेरियन डिस्ट्रेस इन यू. पी., पृ. 8-9, और देखें सुमित सरकार, पृ. 296.
    39.1 'अभ्युदय', 3 मार्च 1917.
40. 'कर्मभूमि', पृ. 235.
41. आर. पी. दत्त (1982), पृ. 102.
42. रचनावली, भाग-8, पृ. 143.
43. पं. नेहरू ने यह वक्तव्य 23 नवम्बर 1931 में इलाहाबाद जिले के सैदाहाबाद में किसानों को सम्बोधित करते हुए दिया था। 'सेलेक्टेट वर्क्स', भाग-5, पृ. 178.
44. 'यू. पी. काउन्सिल में किसानों पर अत्याचार', प्रेमचन्द 26 जनवरी 1934, 'जागरण', में प्रकाशित लेख, रचनावली, भाग-9, पृ. 59.
45. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-5, पृ. 61.
46. आर. पी दत्त (1982), पृ. 100.
47. सेलेक्टेड वर्क्स, भाग-5, पृ. 78.
48. 'अग्रेरियन डिस्ट्रेस इन यू. पी.', पृ. 10.
49. 'किसानों का कर्ज', रचनावली, भाग-8, पृ. 368.
50. 'अग्रेरियन डिस्ट्रेस इन यू. पी.', पृ. 5-6.
51. डा. वेद प्रकाश का लेख, डॉ. बादाम सिंह रावत, पृ. 192. 'प्रेमचन्द का कथा संसार' से उद्धृत.
52. 'प्रेमाश्रम', पृ. 12.
53. डॉ. बादाम सिह रावत, पृ. 192. "आन्दोलन का प्रशिक्षण देने के लिए 1938 में निद्रुबोल में पहला भारतीय किसान स्कूल खोला गया।" ए. आर. देसाई, पृ. 153.

53.1. 'रामचन्द्र पेपर्स', नोट बुक नं. 2. अवध किसान सभा की प्रतिज्ञाएँ:

1. हम किसान सच बोलब—झूठ न बोलब और अपने दुख के बात सच-सच कहब।
2. कितनो दुख होय मारपीट कबहुं न करब। न तो केहु के गारी देब और न केहु पर हाथ छोड़ब।
3. गाँव-गाँव किसानसभा बनाउब। सभा में जाब। केहू के रोके सभा में जाइब बंद न करब।
4. आपस में झगड़ा न करब, सुमति रखब। हर गाँव या दुई-दुई चार-चार गाँव मिलके पंचायत बनाउब और जब कबौं कुछ झगरा तकरार होई वो ही में तय कर लेब।
5. अपने गाँव में अगर कौनो किसान खाये पिये के दुख या और कौने तरह के दुख में होई ओकर मदद हम करब। सब किसानन के दुख-सुख आपन समझब।

6. हथियावन, घोरावन, मोटरापन, मुड़ावन, नचावन, लटियावन, वगैरह गैर कानूनी टिकस न देब। बेगार बिना पूरी मजूरी के न करब। उपरी, पतई, भूसा, और रस बाजार भाव पर बेचब। रुपया लेब तबै देब।
7. खेतके लगान ठीक वक्त पर भुगतान करब, लगान की रसीद जरूर लेब। और अगर रसीद न मिली तो डाक से लगान भेजब। आपन गाँव भर मिलके ठकुरे इहां जायके लगान देब।
8. खेत चाहे निकरी जाय लेकिन नज़राना न देब।
9. बेदखली के कानून मंसूख करावे बदे हम सभा जरूर करब। और जब तक मंसूख न होई हम दम न लेब।
10. बेदखली खेत के, जौने किसान का खेत रहा व हके छोड़ि के दूसर कौने किसान खेतन लेई। और अगर कौनो दूसर किसान लेह ओके सभा से हटा दिए जाई। ओकर छुवा पानी न पीयब। ओकर सलाम बन्दगी बन्द कर देब। ओसे कौनो तरह के लगस्तगा न रखब।
11. ताल्लुकदार से बेदखल खेत जोतेते बरे माँगब। अगर न दीहैं तो भूखन मरब लेकिन जबरजसती कबौ न करब, हमरि सुधि न लीहैं तो उनसे भी लगस्तगा न रखब।
12. अगर हमार ठाकुर परती में हमार गोरु न चरे दीहैं, हम न चराइब, हमार गोरु मर जइहैं लेकिन कानून के खिलाफ न करब।
13. रुई बोउब, घर-घर में चरखा रखब। सूत कातब और अपने तहसील में जुलह भाई से कपड़ा बुनवाय लेब।
14. अपने लड़किन के पढ़ाउब। कपड़ा बिनैके सिखाउब, ईश्वर में विश्वास रखब। भिन्सहरे और सांझ ईश्वर से आपन दुख मिटाबै बदे हाथ जोड़ब। साहस, धीरज और नीडर होइ के आपन दुख दूर होये बदे कोशिश करब। स्पीचेज़ एंड राइटिंग, फाइल न. 2 ए. नोट बुक न. 2, रामचन्द्र पेपर्स, जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एंड लाइब्रेरी, दिल्ली.

53. 'चम्पारन में महात्मा गांधी', डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना 1965 पृ. 244. यह पत्र गणेशशंकर विद्यार्थी का था, जो एक प्रसिद्ध क्रान्तिकारी थे।
54. 'प्रेमचन्द एक इतिहास-एक वर्तमान', चन्द्रबली सिंह, 'भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द', अयोध्या सिंह का लेख, पृ. 38.
55. 'इण्डियन नेशनल लिबरेशन मूवमेंट एण्ड रशिया' (1905-17), पी. बी. सिन्हा, पृ. 77.
56. इस संबंध में पंडित नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा—"पंजाब के किसानों की रंगरूटों के रूप में की गई जबरन भर्ती के समय की गई ज्यादतियों जल्दी भूलने वाली न थी।" ऑटोबायोग्राफी, पृ, 40.
57. पारिख एण्ड शाह, 'सरदार पटेल स्पीचीज', पृ. 6.
58. 'प्रेमाश्रम', पृ. 107.
59. रामविलास शर्मा, पृ. 49.
60. 'प्रेमाश्रम', पृ. 52.

61. 'नया ज़माना-पुराना ज़माना', रचनावली, भाग-7, पृ. 194-95.

62. रामविलास शर्मा, पृ. 45.

63. डॉ. रामबक्ष, पृ. 17.

64. 'They were not addressed to the future of the nation state and thus were doomed to failure when they aimed at revolution. Those revolts sought a new state of peasant society which would combine freedom from alien rule together with some traditional virtues and modern technology and popular government, rather than merely reverting to pre-British social structures- "Economic and Political Weekly", August 1974, volume IX, No 32, 33, 34, special no. 9-1403 (Indian Peasant Uprising — Kathleen Gaugh) — रामबक्ष से उद्धृत, पृ. 17.

65. "And it is clear that in the colonial countries the peasants alone are revolutionary, for they have nothing to lose and every thing to gain." The Wretched of The Earth', p. 47, by Frantz Fanon, England, 1976.

66. 'प्रेमाश्रम', पृ. 53.

67. ए. आर. देसाई, पृ. 149-50.

68. 'प्रेमाश्रम', पृ. 60-61.

69. वही, पृ. 270.

70. 'गोदान', प्रेमचन्द, पृ. 337.

71. 'मंगलसूत्र', 'प्रेमचन्द स्मृति', पृ. 293.

72. सुखबीर चौधरी, 'पेसेन्ट एण्ड वर्कर मूवमेंट इन इण्डिया', 1905-29 पृ. 6.

73. 'प्रेमाश्रम', पृ. 16.

74. 'कायाकल्प', पृ. 106.

75. 'समरयात्र' कहानी, पृ. 77.

76. 'सेवासदन', (1918), प्रेमचन्द, पृ. 8-9.

77. बनारस में 'प्रेमचन्द और स्वाधीनता संग्रम' पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख।

78. ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के एक सदस्य डब्लू. एस. केन ने कांग्रेस के एक अधिवेशन में भाग लिया था। उन्होंने लिखा—मेरे इर्द-गिर्द जो चार हजार 'भद्र पुरुष' बैठे हुए हैं, वे पूरे भारत के वकीलों, डॉक्टरों, इंजीनियरों और लेखकों में से चुने हुए लोग हैं। आर.पी. दत्त पृ. 133.

79. 'पुराना ज़माना नया ज़माना', विविध प्रसंग, भाग-1, पृ. 267.

80. वही, पृ. 197.

81. रंगभूमि, पृ. 559.

82. बिपिन चन्द्रा, 'भारत का स्वतन्त्ता संघर्ष', पृ. 146.

82.1. 'प्रताप', मई 10, 1920. गांधी और कांग्रेस को अपना नेता मानने वाले मध्य वर्ग का एक समूह ऐसा भी था जो संगठन को आवश्यक मानता था। गणेशशंकर विद्यार्थी इसी वर्ग के प्रतिनिधि थे, जिन्होंने 'सब नेता बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, काम कुछ नहीं' शीर्षक से टिप्पणी लिखी थी।

83. सुखबीर चौधरी, पृ. 1.

84. 'सेलेक्टेड वर्क्स, भाग-8, पृ. 392, नेहरू लिखते हैं, 'That the congress is Kisan in its outlook and it must retain its national character and speak the language which is in keeping with it. If a Kisan Sabha is to serve the cause of the Kisans, it must serve in coordination with the congress.'

84.1 यह मेरी कहानी है जवाहर लाल नेहरू, पृ. 89. नेहरू बाबा रामचन्द्र के बुलावे पर प्रतापगढ़ के देहातों में गए और वहाँ उन्होंने किसानों की स्थिति को देखा था।

84.2 रामचन्द्र पेपर्स, फाइल न.1.

84.3 रामचन्द्र पेपर्स, फाइल न.1

85. 'नया ज़माना-पुराना ज़माना', रचनावली, भाग-7, पृ. 194-95.

86. ए.आर. देसाई, पृ. 150-54, 'कांग्रेस के एक भूतपूर्व सभापति रमेशचन्द्र दत्त को दी गई लॉर्ड कर्ज़न की इस चुनौती का कि जमींदारों की धनप्रियता से बटाईदारों को बचाने की सरकार ने औरों से अधिक कोशिश की है, जवाब नहीं दिया जा सकता था।' एन.जी. रंगा, 'पेसेन्ट एण्ड कांग्रेस' 1938. पृ. 11-12.

87. 'नया ज़माना-पुराना ज़माना', रचनावली, भाग-7 पृ. 194-95.

88. एन.जी. रंगा, 'हिस्ट्री ऑफ किसान मूवमेंट' (1939) पृ. 13, श्री रंगा इस संघर्ष (चम्पारन सत्याग्रह) में गाँधी के नेतृत्व के विरुद्ध थे। उन्होंने कहा कि जिस तरह रमेश चन्द्र दत्त के नेतृत्व में अस्थायी बन्दोबस्त के खिलाफ चलाए गए आन्दोलन ने जमींदारों द्वारा किसानों के शोषण की बात नहीं की, वैसे ही चंपारन मे गांधी के नेतृत्व वाला आन्दोलन भी चंपारन के किसानों की गरीबी के मूल कारणों के विरुद्ध संघर्ष का रूप नहीं ले सका। दोनों ज़मींदारी व्यवस्था के अन्याय के विरुद्ध धर्मभीरुओं की तरह चुप रहे।

89. वही.

90. 'निरक्षरता की दुहाई', प्रेमचन्द, 26 जनवरी 1934, 'जागरण' में प्रकाशित लेख, रचनावली, भाग-9, पृ. 58.

91. बिपिन चन्द्रा, पृ. 145.

92. वही, पृ. 146। "इन्द्रनारायण द्विवेदी ने किसानों की ओर से सरकार को एक याचिका दी थी, जिसमें माँग की गई थी कि नई संवैधानिक व्यवस्था में किसानों के हितों का भी ख्याल रखा जाए। उस समय नया संविधान बनाना प्रस्तावित था। जून 1919 तक उ.प्र. किसान सभा ने सूबे की 173 तहसीलों में इसकी 450 शाखाएँ गठित कर ली थीं।" वही, पृ. 145-46.

92.1. 'प्रताप', दिसम्बर 8, 1919.

93. एस. गोपाल, 'नेहरूः एन ऑटोबायोग्राफी', भाग-1, लन्दन, 1975.

94. नया ज़माना-पुराना ज़माना', रचनावली, भाग-7, पृ. 198.

94.1. 'रामचन्द्र पेपर्स', फाइल नं. 1. 'जान गया था कि अब स्वार्थी हल कायम होगा। अब मान की लड़ाई में भिड़ना होगा। जानें जाएँगी। घर-बार, खेती-बाड़ी निकल जाएगी। पेड़ों के नीचे रहना भी मुश्किल होगा। मानी-धानी तुम्हारे बल पर आपस में लड़ेंगे। तुम्हारे असली दुख दूर होने में पंद्रह-बीस बरस लगेंगे, क्योंकि कानूनी लड़ाई वाले हल खड़े हो गए हैं। किसानों को खुश करने के लिए वह ज़मींदारों और सरकारी अफसरों को गालियाँ देंगे और उसके बाद अपनी मोटरगाड़ी में बैठकर चले जाएँगे।'

94.2. वही

95. 'प्रेमाश्रम', पृ. 89, देखें, रामविलास शर्मा, पृ. 54-55.

96. 'निरक्षरता की दुहाई', रचनावली, भाग-9, पृ. 57.

97. 'सेलेक्टैड वर्क्स', भाग-5, पृ. 79-81.

98. रामबक्ष, पृ. 204-05.

99. 'प्रेमाश्रम', पृ. 208.

100. 'रंगभूमि', पृ. 559.

101. 'स्वराज्य से किसका अहित होगा', रचनावली, भाग - 8, पृ. 43.

102. 'निरक्षरता की दुहाई', रचनावली, भाग-9, पृ. 57.

102.1. रामचन्द्र नोट्स.

103. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-8, पृ. 391.

104. हितकारिणी सभा 'A society sponsored by some officials and taluqdars and a few congressmen, whose objective was to persuade the kissan not to agitate and to await minor reforms and improvements effected by the taluqdars', 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-1, पृ. 207.

105. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-8, पृ. 385.

106. रचनावली, भाग-8, पृ. 367.

106.1 रामचन्द्र पेपर्स, फाइल न.- 1.

107. 'प्रेमाश्रम', पृ. 217.

108. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-3, पृ. 376.

109. वही, भाग-8, पृ. 391 "The Haripura Resolution Stated, "The Congress has already fully recognised the rights of Kissans to organise themselves in peasant Unions. Neverthless it must be remembered that the Congress itself is in the main a kissan organisation and as contacts with the masses have increased vast numbers of Kissans have joined it and influenced its policy. While fully recognizing the right of the Kissans to organise Kissan Sabhas, the congress cannot associate itself with any activities which are incompatible

with the basic principles of the congress and will not countenance any of the activities of those congressmen who as members of kissan sabhas help in creating an atmosphere hostile to congress principles and policy.

110. रचनावली, भाग-7, पृ. 232.

111. 'ऊख के किसानों का संघ', 7 अगस्त, 'जागरण' में प्रकाशित रचनावली, भाग-8, पृ. 292.

112. आर. पी. दत्त, (1982), पृ. 108.

113. 'बाबा जी का भोग' कहानी, रचनावली, भाग-13, पृ. 351, 1926.

114. ए. आर. देसाई, पृ. 152.

115. सुमित सरकार, 'आधुनिक भारत', पृ. 384. अप्रैल 1935 में 'South Indian Federation of Peasants and Agricultural Labour' की स्थापना की गई, जिसके महासचिव एन. जी. रंगा और संयुक्त सचिव ई. एम. एस. नम्बूदरीपाद थे।

116. ए. आर. देसाई, पृ. 153.

117. आर. पी. दत्त, पृ. 108. "इस सभा का सभापतित्त्व सहजानन्द ने किया था, जिन्होंने नवम्बर 1929 में 'बिहार प्रादेशिक' किसान सभा की स्थापना की थी। इसके प्रथम सचिव श्री कृष्ण सिन्हा थे। इन्दुलाल याज्ञनिक भी इससे सम्बद्ध थे, जो गुजरात के एक गांधीवादी नेता थे, लेकिन अब उनका मोहभंग हो गया था और वह 'किसान बुलेटिन' के सम्पादक थे।' सुमित सरकार, पृ. 316 और 384. देखें ए. आर. देसाई, पृ. 154.

118. प्रेमनारायन टण्डन, 'प्रेमचन्द और ग्राम समस्या', पृ. 69-70.

119. 1917 का आन्दोलन नील की खेती कराने वाले गोरे ज़मींदारों के विरुद्ध था, जबकि खेड़ा में लगानबन्दी आन्दोलन चलाया गया। दोनों ही आन्दोलनों में गाँधी ने ज़मींदारों का विरोध नहीं किया था। देखें 'हिन्दुस्तान की कहानी', पं. नेहरू, पृ. 63. 6 अप्रैल 1931 में गांधी ने एक साक्षात्कार में 'भारत सरकार के गृह सचिव से कहा था'।

"The Congress is predominently a peasants and workers organisation", सेलेक्टेड वर्क्स, भाग-5, पृ. 66.

120. 'एग्रेरियन अनरेस्ट इन नॉर्थ इण्डिया', माजिद सिद्दीकी, पृ. 195. और प्रताप 23 नवम्बर, 1925.

121. सुखबीर चौधरी, 'पेसेन्ट एण्ड वर्कर मूवमेंट इन इण्डिया', पृ. 40.

"But you will never get swaraj till you carry the cultivaters with you."

121.1 कपिल कुमार, पृ. 226-27.

122. मेहता रिपोर्ट, 'एग्रेरियन अनरेस्ट', पृ. 89, देखें विपिन चन्द्रा, पृ. 146.

123. विपिन चन्द्रा, पृ. 147, "बाबा रामचन्द्र मूलतः महाराष्ट्र के ब्राह्मण थे। तेरह वर्ष की आयु में घुमक्कड़ प्रकृति के बाबा फिजी चले गए। वहाँ मेहनत-मज़दूरी की और 1909 में लौटे। 1920 तक तुलसीदास का रामचरितमानस लेकर गाँव-गाँव घूमें 1920 के मध्य में वह किसान नेता के रूप में उभरे। उनमें संगठन की अद्भुत क्षमता थी।"

124. टाइम्स, लंदन, 26 जनवरी, 1921। "20-21 दिसम्बर 1920 के अवध किसान कांग्रेस के फैजाबाद अधिवेशन में 1,00,000 किसान आए थे। सेलेक्टेड वर्क्स, भाग-1, पृ. 209."

125. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, 'प्रेमचन्द की रचनाओं पर किसान आंदोलन का प्रभाव', पृ. 52. मुरली मनोहर प्रसाद ने गृह मंत्रालय की इस गुप्त राजनीतिक रिपोर्ट को गुप्त ही रखा। यह सही है कि गांधी का इन घटनाओं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। लेकिन वायसराय ने अपने जवाब में यह भी लिखा कि किसानों ने सोवियतें कायम नहीं की थी। वास्तव में एक अंग्रेज़ पत्रकार ने 'किसान सभा' का अंग्रेज़ी अनुवाद करते हुए उसे 'सोवियत' लिख दिया था। अवध में किसान आन्दोलन से डरे हुए ताल्लुकेदारों ने 1920 मे वायसराय को गुप्त नामों से चिट्ठियाँ लिखकर किसान सभाओं को बोल्शेविकों की सोवियतें बताकर सरकार से उनके दमन का विरोध किया था। कपिल कुमार, पेसेन्ट मूवमेन्ट दन अवध 1918-22', पृ. 170 एवम् 129.

126. वही।

126.1 जवाहरलाल नेहरू 'मेरी कहानी', पृ. 97.

127. कुंवरपाल सिंह का लेख, 'भूमि संबंध, किसान आन्दोलन और प्रेमचन्द', शशिभूषण पाण्डेय, 'प्रेमचन्द हमारे समकालीन' .

128. 'एग्रेरियन अनरेस्ट इन इण्डिया', पृ. 147 और पृ. 46-48.

128.1 रामचन्द्र पेपर्स, आर. सी. 11.

129. 'आज का भारत', आर. पी. दत्त, पृ. 291.

130. बिपिन चन्द्रा, पृ. 148.

131. ए. आर. देसाई, पृ. 148.

132. बिपिन चन्द्रा, पृ. 148, 'भारत का मुक्ति संग्राम', पृ. 426.

133. वहीं, पृ. 287.

134. 'भारत का मुक्ति संग्राम', पृ. 428.

135. बिपिन चन्द्रा, पृ. 151. "बाबा रामचन्द्र ने कभी भी किसानों को लगान देने से मना नहीं किया था बल्कि उन्होंने ही किसानों को वर्षा न होने और उत्पादन की कमी को बावजूद लोगों को लगान का भुगतान करने के लिए प्रेरित किया था।" सेलेक्टेड वर्क्स, भाग-1, पृ. 208-209.

136. 'बारदोली के वीरों', नवम्बर 1930, 'हंस' में प्रकाशित लेख, रचनावली, भाग-8, पृ. 63.

137. 'स्वराज में किसका अहित होगा', रचनावली, भाग- 8, पृ. 431. 'प्रेमचन्द, यह मानते हैं कि किसानों ने दबाव के चलते ही ज़मींदारों को काउंसिल में अपना प्रतिनिधि बनाया है।'

138. ए. आर. देसाई, पृ. 45.

139. 'प्रेमाश्रम', पृ. 95, 147.

140. 'सेलेक्टेड वर्क्स, भाग-5, पृ. 62.

141. 'आज का भारत', पृ. 276.

142. वहीं, पृ. 277.

143. 'कर्मभूमि', पृ. 237.

144. 'सेलेक्टेड वर्क्स, भाग-5, पृ. 175-176. 'यू. पी. प्रोविंशियल कांग्रेस कमेटी' ने पचास से साठ प्रतिशत करों में कमी करने की माँग की थी। 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-5, पृ. 64-65.

145. वही, भाग-5, पृ. 104. In May 1931 the U.P. Govt. had announced rent remmission for Allahabad district amounting Rs. 9.5 Lac, which was 17 percent of the total rental demanos of the peasant.

इसी प्रकार 'कर्मभूमि' में भी महन्त ने सरकारी फैसला आने तक लगान में चार आना छूट देकर अपनी जिम्मेदारी से छुट्टी पाई जो समस्या का समाधान न था, क्योंकि शेष लगान वसूली के लिए कारिन्दा रियाया पर ज्यादती करने लगे। पृ. 241-42, 254.

146. एम.के. गांधी, 'टूवडर्स नॉन-वायोलेन्ट सोशलिज्म', पृ. 198. 'कर्मभूमि', पृ. 238-61.

147. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-5, पृ. 104.

148. 'कर्मभूमि', पृ. 258.

149. गांधी की ग्यारह सूत्रीय माँगें, जो वायसराय को दी गई थी। देखें 'हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया', वी. पी. सिंह, पृ. 182.

150. रामविलास शर्मा, पृ. 103.

151. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-5, पृ. 175.

152. 'कर्मभूमि', पृ. 242-43.

153. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-5, पृ. 62.

154. 'कर्मभूमि', पृ. 257.

155. बिपिन चन्द्रा, पृ. 219.

156. 'कर्मभूमि' में अन्तः पाँच सदस्यों की एक कमेटी के गठन का प्रस्ताव पारित होता है इसमें सभी भारतीय सदस्य होंगे। इसके लिए अमरकान्त वायसराय की कृतज्ञता प्रकट करता है। पृ. 338-39.

157. आर. पी. दत्त, पृ. 108.

158. 'कर्मभूमि', पृ. 259.

159.' प्रान्तीय कांग्रेस ने 1930 में गोविन्द वल्लभ पंत की अध्यक्षता में आर्थिक मंदी के दौरान किसानों की समस्याओं जैसे लगान में कमी, बेदखली आदि से संबंधित शिकायतें सुनने और उन्हें सरकार के समक्ष रखने के लिए एक कार्यालय लखनऊ में खोला था। 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-5, पृ. 64.

160. वही, भाग-3, पृ. 375.

161. 'कर्मभूमि', पृ. 273, 259

162. वही, पृ. 271.

163. वही, पृ. 292.

164. वही, पृ. 254.

165. रामविलास शर्मा, पृ. 44. 'सेलेक्टेड वर्क्स', भाग-8, पृ. 384-387.

166. 'अंधा पूँजीवाद', 6 नवम्बर, रचनावली, भाग-8, पृ. 465.

167. 'प्रेमाश्रम', पृ. 47.

168. 1912 के बाँकीपुर कांग्रेस अधिवेशन के संबंध में पं. नेहरू ने लिखा, "बहुत हद तक वह अंग्रेज़ी जानने वाले उच्च श्रेणी के लोगों को उत्सव था, जहाँ सुबह कोट और सुन्दर स्त्री किए हुए पतलून पहने बहुत लोग दिखाई देते थे। वस्तुतः वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनीतिक गरमागरमी नहीं थी।" मेरी कहानी', पं. नेहरू, नई दिल्ली, 1971, ऐसा नेतृत्व प्रेमचन्द के अनुसार किसानों का उद्धार नहीं कर सकता।

169. 1895 की पूना कांग्रेस में एस. एन. बैनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था, "We are advocates of reform and not of revolution, and of reform as a safeguard against revolution."

170. 'कायाकल्प', पृ. 184.

171. ए.आर. देसाई, पृ. 165.

17.1 शिवरानी देवी, 'प्रेमचन्द्र घर में', पृ. 94-95.

172. रामविलास शर्मा, पृ. 165.

172.1 कपिल कुमार, 'पेसेंट परसेश ऑफ गांधी एण्ड हिज प्रोग्रामः अवध, 1920-22', पृ. 144, सोशल साइंटिस्ट, फरवरी 1983.

172.2 एम.एच. सिद्दीकी, पृ. 184. गांधी ने फैजाबाद के किसानों को यह भाषण 10 फरवरी, 1921 में दिया था।

17.3 कपिल कुमार, पृ. 181-82.

17.4 वही, पृ. 174.

173. रामविलास शर्मा, पृ. 165.

174. विविध-प्रसंग, भाग-1, पृ. 177.

174.1 वही

175. रविभूषण, 'प्रेमचन्द के किसान', शशिभूषण पाण्डेय से उद्धृत, पृ. 64.

176. शिवरानी देवी, 'प्रेमचन्द घर में', पृ. 111.

177. वहीं, पृ. 95.

साम्प्रदायिक सामन्जस्य 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में

साम्प्रदायिकता, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिक्रियावादी और रूढ़िवादी समूहों का प्रतिनिधित्व करती है और सामान्यतया साम्प्रदायिक दल एवं व्यक्तियों द्वारा सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक मामलों में प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाया जाता है। प्रेमचन्द ने इस तथ्य को गम्भीरता से समझा और अपनी रचनाओं एवं लेखों के माध्यम से समकालीन समाज में अपनी जड़ों को मज़बूत करने वाले रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी तत्वों पर प्रहार किए। अपने इस प्रयास में उन्हें व्यापक समर्थन भी मिला, लेकिन साथ ही उन्हें साम्प्रदायिक तत्वों के विरोधों का भी सामना करना पड़ा। यद्यपि कहीं-कहीं उनकी लेखनी में साम्प्रदायिकता को लेकर अन्तर्विरोध भी परिलक्षित होता है और हिन्दू धर्म के अहसास को प्रदर्शित करते हैं। जनवरी 1925 में 'माधुरी' में प्रकाशित अपने एक लेख में लिखा 'जब तक हम अर्जुन, प्रताप, शिवाजी आदि वीरों की पूजा और कीर्ति पर गर्व करते हैं तब तक हमारे पुनरुद्धार की कुछ आशा हो सकती है।' इसके बावजूद प्रेमचन्द अकेले ऐसे साहित्यकार थे जिन्होंने राष्ट्रीय एकता की समस्या को सबसे ज्यादा गम्भीरता के साथ हल करने की कोशिश की।

निश्चित रूप से भारत में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देना औपनिवेशिक सरकार की आवश्यकता थी। धर्म एवं जाति के नाम पर लोगों को आपस में बाँटकर शासन करने की नीति साम्राज्यवादियों की बड़ी पुरानी नीति थी। भारत में अपनी सत्ता को बचाने के लिए उन्होंने भारतीय समाज के दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के रूढ़िवादी तत्वों को समर्थन दिया। विशेष रूप से 1857 की क्रान्ति के बाद अंग्रेजी सरकार ने हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध समर्थन दिया क्योंकि वह विद्रोह के लिए मुसलमानों को दोषी मानते थे। 1885 में कांग्रेस की स्थापना के कुछ वर्षों बाद उन्होंने हिन्दुओं को अपनी सत्ता के लिए खतरनाक माना। परिणामस्वरूप अब उन्होंने ने न केवल कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों के राजनीतिक संगठन, 'मुस्लिम लीग 1906', के गठन में सहायता की वरन् उन्हें हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाने लगा। इस प्रकार साम्राज्यवादियों ने अपने हितों की पूर्ति के लिए भारत के परम्परागत सोहार्दपूर्ण समाज में फूट डाली। इस फूट के लिए किसी एक कौम या राजनीतिक दल को दोष देना असंगत होगा, क्योंकि दोनों ही इसके लिए उत्तरदायी थे जिन्होंने साम्राज्यवादियों के वास्तविक उद्देश्यों को पहचानने में भारी त्रुटि की थी। भारत में

जैसे-जैसे राष्ट्रवाद का विकास हुआ, हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष भी उसी हिसाब से बढ़ा। 1857 की एकता इतिहास में दफन हो चुकी थी।

प्रेमचन्द जिस समय अपनी लेखनी की पराकाष्ठा (1922-32) पर पहुँचे, उस समय राष्ट्रवादियों के लिए साम्प्रदायिकता की विभीषिका विशेष चिन्ता का विषय बन चुकी थी।[1] सम्भवतः इसीलिए प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में साम्प्रदायिक समस्या अर्थात् हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के प्रश्नों के प्रत्येक पहलू की समीक्षा करने का प्रयास किया है। निसंदेह प्रेमचन्द ने हमेशा अपना ध्यान सामाजिक यथार्थ पर केन्द्रित रखा है। उन्होंने लगातार इस बात पर बल दिया है कि "कला और साहित्य का मूल उद्देश्य, मानव जीवन और समाज के सार्थक पक्षों को रेखांकित करना है।"[2] तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में असहयोग आन्दोलन के निलम्बन के बाद देश में साम्प्रदायिकता के पुनरुत्थानवाद का चारों ओर प्रसार हो रहा था। ऐसे माहौल में जब कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता भी हिन्दू महासभा में चले गए थे, तब साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष चलाने का साहस कुछ ही व्यक्तियों ने किया, जिनमें से एक प्रेमचन्द भी थे। उन्होंने 1921 में ही यह चेतावनी दे दी थी कि यदि नेताओं ने इस बढ़ती हुई साम्प्रदायिक भावनाओं को रोकने का प्रयास नहीं किया, तो इसके परिणाम काफी भयानक होंगे। भारतीय राजनीतिज्ञों ने इसे गम्भीरता से नहीं लिया। परिणामस्वरूप साम्प्रदायिकता बढ़ती गई, लेकिन साथ ही प्रेमचन्द के साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष में भी तीव्रता आई। प्रेमचन्द की रचना यात्रा 20वीं शताब्दी के आरम्भिक चार दशकों (1901-38) तक फैली हुई है। 20वीं शताब्दी के आरम्भिक चार दशक एक ओर भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन के अनेक निर्णायात्मक और दूरगामी परिवर्तनों का युग था, वहीं दूसरी ओर उपनिवेशवादी सरकार द्वारा अपने निजी लाभों को प्राथमिकता दिए जाने के कारण इन परिवर्तनों में जटिलता आई। उदाहरण के लिए राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीय संस्कृति की जो धारणाएँ इंग्लैण्ड और यूरोप के पूँजीवादी औद्योगिक समाज में प्रचलित थीं, भारत में उन्हें पनपने और जड़ पकड़ने से रोका जा रहा था। पश्चिम में राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण या विकास में धर्म का कोई हाथ न था। वहाँ एक भौगोलिक, राजनीतिक या रियासती एकता से संबंधित नागरिकों को एक राष्ट्रीय इकाई मानने की धारण प्रभावी थी, लेकिन भारत में 1857 के बाद दूर देश के शासकों की भरपूर कोशिश रही कि शासित जनता एक संगठित राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय हितों की सामूहिक चेतना से दूर बनी रहे। परिणामतः शैक्षिक, भाषाई, बौद्धिक एवं सामाजिक स्तरों पर उन्होंने निहायत, चतुराई और खामोशी के साथ ऐसी युक्तियाँ अपनाईं कि विभिन्न धर्मों के लोग अपने धार्मिक कामों के आधार पर ही अपने राष्ट्र या राष्ट्रीय संस्कृति की व्याख्या करने लगे। साथ ही वे

अपने सम्प्रदाय को विशेष सुविधायें दिलाने के लिए अंग्रेज शासकों से मधुर संबंध बनाने लगे।[3] 1858 में सैयद अहमद ख़ाँ ने अपनी पुस्तक 'असबावे बगावते हिन्द' में तथ्यों एवं तर्कों के आधार पर सिद्ध किया कि यह गदर एक राष्ट्र विलम्ब था, ना आजादी की लड़ाई और न किसी तरह की साजिश, किन्तु केवल सरकारी सिपाहियों ने अपने अफसरों की अवज्ञा की और वह भी अज्ञान और अज्ञानवश।[4] सम्भवतः सैयद अहमद ने 1857 के विद्रोह का उत्तरदायित्व मुसलमानों पर से हटाने का प्रयास किया, ताकि उन्हें ब्रिटिश सरकार का पर्याप्त समर्थन मिल सके।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस नीति के जो परिणाम सामने आए उनसें अंग्रेजों के समर्थक और विरोधी दोनों बुरी तरह प्रभावित हुए। विरोधियों की देशभक्ति और स्वाधीनता की भावनाओं का स्त्रोत धर्म और पुनरूत्थानवादी विचारों में दिखाई देता है। मिसाल के तौर पर उलमा (इस्लामी धर्मवेत्ता) और आर्य समाजी। दूसरी ओर उदार विचारों वाला मध्यवर्ग था जिसके नौजवान नई शिक्षा प्रणाली और ब्रिटिश हुकूमत से लाभ उठाकर पश्चिमी संस्कृति के गुण गा रहे थे। वे उपनिवेशवादी व्यवस्था के इतने समीप थे और इतना लाभ उठा चुके थे कि इससे अलग होकर भारत के करोड़ों लोगों के जीवन यथार्थ और संस्कृति पर गौर करना या उनकी सामूहिक समस्याओं से संबद्धता और सहानुभूति दिखाना अंग्रेज शासकों के खिलाफ गैर-वफादारी के बराबर समझते थे, वे अंग्रेज़ों के पाले हुए लोग थे। कलकत्ता, बनारस, इलाहाबाद और अलीगढ़ की उच्च शिक्षा संस्थाओं से शिक्षा प्राप्त नौजवानों में से अधिकांश इसी समुदाय से जुड़े थे।[5] डॉ. आबिद हुसैन का यह कथन ध्यान देने योग्य है 1867 में सैयद अहमद ने हिन्दुओं और मुसलमानों में किसी भी प्रकार की एकता की संभावना से इनकार किया था। साथ ही अंग्रेज़ों से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाने पर बल दिया, जिससे उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हो सके।

"जिस जमाने में सर सैयद मुलाजिमत के सिलसिले में बनारस में रह रहे थे उन्हें अचानक इस सच्चाई का अहसास हुआ कि हिन्दुओं में पुनरुत्थानवाद का जोश उठ रहा है, जो उन्हें भारत की सम्भावित संस्कृति के मार्ग से हटाकर एक नई राह पर डाल रहा है। जिसकी अंतिम मंजिल विशुद्ध हिन्दू संस्कृति है उन्हें विश्वास हो गया कि हिन्दू उनके बताये हुए रास्ते पर चलने के लिए तैयार नहीं हैं। बल्कि अपनी अलग सांस्कृतिक नीति अपनाना चाहते हैं। अतः उन्होंने अपने चिन्तन की परिधि को सीमित कर लिया। 'कौम' शब्द अब वे मुसलमानों की जमाअत के लिए इस्तेमाल करने लगे।"[6]

प्रेमचन्द ने सैयद अहमद के विचारों में परिवर्तन का कारण उनकी हिन्दुओं से नाराजगी बताया है, क्योंकि "1867 में संयुक्त प्रांत में हिन्दुओं की ओर से यह कोशिश हुई कि नागरी इस सूबे की अदालती भाषा बना दी जाए। इसे सैयद अहमद

ने हिन्दुओं की ज्यादती समझा, यद्यपि इसे जनसाधारण की सुविधा की दृष्टि से किया गया था।" इसी लेख में प्रेमचन्द आगे लिखते हैं उन्होंने यह मत विकसित किया कि हिन्दू-मुसलमान का मेल और एका अनहोनी बात है। दोनों जातियों में ऐतिहासिक और धर्मगत अलगाव पहले से ही मौजूद थे। मुगल साम्राज्य की समाप्ति और अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना ने इन विरोधों को मिटाना और पुराने घावों को भरना आरम्भ ही किया था कि यह नए झगड़े उठ खड़े हुए और संयुक्त राष्ट्रीयता का लक्ष्य सुदीर्घकाल के लिए हमारी आँखों से ओझल हो गया।"[7] इस प्रकार ढाई हज़ार साल से भारत में विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं और भाषाओं की टकराहट और मेल-जोल से जो एक साझी भारतीय संस्कृति आकार ले रही थी, वह देखते देखते 'हिन्दू संस्कृति' और 'मुस्लिम संस्कृति' में विभक्त हो गई, और दोनों संस्कृतियों के झंडाबरदार (समर्थक) अपने-अपने समूह के लिए अतीत से शक्ति जुटाने का यत्न कर रहे थे।[8] निःसन्देह "यदि सैयद अहमद ने देश को दो परस्पर विरोधी भागों में विभक्त कर दिया और उसके घातक प्रभाव आपस में मार-काट के रूप में प्रकट होते हैं। दोनों पक्ष एक तीसरी शक्ति के अधिकाररूढ़ रहने को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अनिवार्य और आवश्यक समझते हैं। सैयद अहमद जैसे प्रभावशाली और प्रगतिशील पुरुष ने संयुक्त राष्ट्रीयता का पद ग्रहण किया होता, तो हिन्दुस्तान कहीं से कहीं पहुँचा होता।"[9]

साम्प्रदायिकता प्रभावित क्षेत्र और प्रेमचन्द

प्रेमचन्द के लेखन की जो मुख्य धारा है, वह धर्मनिरपेक्ष मूल्यों और राष्ट्रवादी चेतना को प्रोत्साहित करती है। भारतीय राष्ट्रवाद, हिन्दू नवजागरण और मुस्लिम नवजागरण के संबन्ध में यह एक एतिहासिक सत्य है कि इनके उद्‌भव और विकास की प्रक्रिया में समानता थी। यह सर्वविदित है कि सर्वप्रथम मुसलमानों द्वारा अलगाववाद की जड़ें मुस्लिम अल्पसंख्यक क्षेत्र उत्तरी भारत में आरम्भ हुई जो कालान्तर में मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों पंजाब, बंगाल, सिन्ध और सीमान्त प्रांत में फैली।[10] "उत्तर भारत के गाँवों की समूची आबादी, जात-पात और धर्म की भिन्नता के बावजूद, एक जैसे नैतिक मूल्यों और सामाजिक रीति-रिवाज को मानती है। एक भाषा बोलती है। अपने मिले-जुले रचनात्मक श्रम, मिली-जुली कठिनाइयों और एक बेहतर जीवन को प्राप्त करने की दिशा में किए गए दीर्घ ऐतिहासिक संघर्ष ने जिस सांस्कृतिक सोच का निर्माण किया है, वह एक है।"[11] पंडित जवाहर लाल नेहरू ने 'भारत की खोज' में लिखा है कि इस शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में उन्होंने गाँव-गाँव और गली-गली घूमकर भारतीय जनता के जीवन को समीप से देखा और उन्हें महसूस हुआ कि जाति, धर्म और भाषाई भेद के बावजूद सब एक ही सांस्कृतिक आत्मा से

संबद्ध हैं। इसके अतरिक्त साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के लिए जनता के बीच एकता कायम करनी होगी।

प्रेमचन्द का जन्म गाँव के एक कायस्थ परिवार में हुआ था और कायस्थ समाज एक मिश्रित संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। सम्भवतः इसीलिए बचपन में उनकी शिक्षा-दीक्षा एक मौलवी साहब के मकतब में उर्दू एवं फारसी की शिक्षा के साथ हुई। बाद में वह ऐसे शहरों और देहातों में रहे, जहाँ हिन्दू व मुसलमानों की मिली-जुली आबादी थी। इसीलिए पंडित नेहरू की तरह उन्होंने अपने परिवेश और अनुभव से अपने देश की आवाम के सांस्कृतिक जीवन की खोज की। प्रेमचन्द को यह अहसास हो गया था कि "साम्प्रदायिकता संस्कृति का सुन्दर लिबास पहनकर ही सामने आती है। वह अपने जीवन की अन्तिम साँसों तक एक मिश्रित भारतीय संस्कृति और भारतीय भाषा पर बल देते रहे।"[12] 'आज भारत में मुस्लिम और हिन्दू जनता में कोई वंशगत या सांस्कृतिक भेद नाम को भी नहीं है। अवध या बुन्देलखंड के किसी मुस्लिम या हिन्दू किसान में ऐसा कोई अन्तर न मिलेगा, जो एक को दूसरे से अलग कर दे।'[12.1]

प्रेमचन्द संकीर्णतावादी और साम्प्रदायिक हिन्दू व मुसलमान दोनों से खिन्न रहते थे। "वे संकीर्णतावादी पंडितों और भेदभाव बरतने वाले मौलवियों दोनों को देश के हित में खतरनाक समझते थे।"[13] वास्तव में साम्प्रदायिकता एक प्रकार के भय का परिणाम है, जिसे राजनीतिक प्रतिक्रियाओं का पर्याप्त समर्थन प्राप्त था। स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहासकारों की अपेक्षा प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिकता के विरुद्ध मज़बूती से आवाज़ उठाई। इसके बावजूद वह एक पक्षपातरहित समाधान देने में असमर्थ रहे क्योंकि उनके दृष्टिकोण में अस्पष्टता अधिक है।

साम्प्रदायिकतावादियों ने हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों को हमेशा ही उनकी जनसंख्या के आंकड़ों के आधार पर ही अल्पसंख्यक अथवा बहुसंख्यक के रूप में वर्णित किया। लेकिन प्रेमचन्द जनसंख्या को महत्व दिए जाने का विरोध करते हैं, "क्योंकि अनुभव तो यह बताते हैं कि इस युग में तादाद की कोई वकत नहीं। जर्मनी के छः करोड़ बाशिन्दे सम्पूर्ण पृथ्वी के बाशिन्दों को युद्ध का आव्हान दे सकते हैं। छः करोड़ का इंग्लिस्तान बत्तीस करोड़ के हिन्दुस्तान पर कामयाबी के साथ हुकूमत कर सकता है वास्तव में आपसी संगठन और एकता ही वह चीज है, जो कौम को शक्तिशाली बना देती है।"[14] प्राप्त आँकड़ों के अनुसार "1941 में भारत की आबादी का 90 प्रतिशत हिन्दू और मुसलमान थे। इनमें हिन्दुओं की आबादी का प्रतिशत 70 था, जबकि मुसलमान आबादी का 24 प्रतिशत थे।"[15] इनमें से एक ओर डेसीनियल की जनगणनाओं के अनुसार भारत में हिन्दुओं की जनसंख्या का अनुपात धीरे-धीरे घट रहा है—

"जैसे 1901 में कुल आबादी का 72.9 प्रतिशत हिन्दू थे, जो अगले 40 वर्षों में घटकर 69.5 प्रतिशत ही रह गए थे।"[16] दूसरी ओर इस्लाम, जो विश्व के प्रमुख धर्मों में सबसे बाद में अर्थात् मोहम्मद साहब की मृत्यु के बाद 650 ई. में अस्तित्व में आया, को मानने वालों की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी।"[17] 16वीं शताब्दी में मुसलमानों की जनसंख्या कुल जनसंख्या का 8 प्रतिशत से 10 प्रतिशत तक रही, जो 1901 में 22 प्रतिशत और 1941 में 25 प्रतिशत तक हो गई। मुस्लिम जनसंख्या के बढ़ते हुए अनुपात का कारण धर्म परिवर्तन नहीं बल्कि उनकी विधवा पुनर्विवाह के प्रति अपनाई गई उदारवादी नीति का परिणाम था।[18] प्रेमचन्द का मानना था कि 'मुसलमानों की तरफ से हिन्दुओं पर अक्सर ज्यादतियाँ हुई। इसलिए हिन्दुओं की दिन-प्रतिदिन घटती हुई आबादी उनकी चिंता का कारण बनी।

भारतीय राजनीति और सामाजिक जीवन में जो समुदाय मान्यता प्राप्त थे, उनका विभाजन मूलरूप से धार्मिक था। "यद्यपि कुछ क्षेत्रों में नस्ल, भाषा, जाति, भौगोलिक एकाग्रता और सांस्कृतिक विषमताएँ भी देखी गई हैं।"[19] बंगाल, बम्बई और मद्रास इन तीनों बन्दरगाह वाले इलाकों में, जहाँ से अंग्रेजी संस्कृति और व्यापार का सारे देश में प्रसार हुआ, बुर्जुआरी का पहले उदय हुआ। यद्यपि बंगाल में मुसलमानों की संख्या ज्यादा थी, लेकिन दूसरी ओर वह ज्यादातर किसान थें और इसलिए परिवर्तनों से अप्रभावी रहे।[19.1] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मुस्लिम सम्प्रदाय में राजनीतिक चेतना का विकास हिन्दुओं के बाद हुआ। "मुस्लिम सम्प्रदाय का आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रभावशाली बहुत बड़ा हिस्सा उत्तरी भारत में केन्द्रित था, जो मुख्यतया हिन्दू आबादी वाले इलाकों से अपेक्षाकृत बाद में ब्रिटेन की राजनीतिक प्रभुता और सांस्कृतिक प्रभाव में आया। इसके बावजूद धार्मिक विश्वास में मुसलमान एवं हिन्दू जो वास्तव में एक दूसरे के विपरीत हैं, टकराव कभी नहीं हुआ और दोनों धर्म आपसी वैमनस्य के बावजूद साथ-साथ चलते रहे। यद्यपि इनके मध्य आपसी टकराव के बीज हमेशा मौजूद रहे।"[20]

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की प्रकृति

हमारे अध्ययन का केन्द्र संयुक्त प्रांत है। अतः यह जानना आवश्यक है कि क्या इस प्रांत के हिन्दू और मुसलमानों के भाषाई अथवा सांस्कृतिक मतभेद अन्य सूबों से अधिक हैं? क्या इनके सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों में कोई विशेषता थी? क्या इस प्रांत में अंग्रेजी शासकों की नीतियों ने इन दोनों सम्प्रदायों को आपस में बाँट रखा है? या फिर इनके बीच आजादी की लड़ाई में विशेष प्रकार की प्रतिद्वन्दिता थी, जिससे आजादी की लड़ाई के दौरान इनमें कटुता आई? इसका संक्षिप्त उत्तर यह

होगा कि यह हिन्दू और मुस्लिम राजनीतिक नेताओं की पसन्द और 19वीं एवं 20वीं शताब्दी की ब्रिटिश "सरकार की नीतियों तथा इस अवधि की राजनैतिक प्रतिद्वन्दिता में संयुक्त प्रांत की विशेष भूमिका थी। अर्थात सरकार द्वारा हिन्दुओं के विरुद्ध अल्पसंख्यक मुसलमानों को पृथक निर्वाचन मण्डल देने के कारण संयुक्त प्रांत अलगाववाद और हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों का मुख्य केन्द्र बना और कालान्तर में पाकिस्तान की माँग करने वाला अग्रणी प्रांत रहा।"[21] स्पष्ट है कि सम्राज्यवादियों ने अपनी प्रकृति के अनुरूप धर्म और जाति के नाम पर भारतीय समाज को बाँट दिया।

व्यावहारिक रूप से हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदायों में कोई गंभीर मतभेद नहीं थे। लेकिन दोनों ही समुदायों के कुछ रूढ़िवादी तत्वों ने आर्थिक-सामाजिक एवं राजनीतिक प्रश्नों के आधार पर इनके मध्य मतभेदों को उभारने का प्रयास किया। प्रेमचन्द ने दोनों समुदायों की सभ्यता और संस्कृति के संबंध में लिखा, "वाह्य संस्कृति का संबंध भाषा, पहनावा, शिष्टाचार, शादी-व्यवहार आदि से है, जबकि आन्तरिक संबंध धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों से। इस कसौटी पर मुस्लिम संस्कृति को कसिए तो मालूम होगा कि प्रत्येक प्रांत में हिन्दू और मुसलमान जनता की भाषा एक है, पहनावा एक है, शादी-विवाह की परिपाटी (परम्परा) भी एक है। अवध या बुन्देलखण्ड के किसी हिन्दू या मुस्लिम किसान में ऐसा कोई अन्तर न मिलेगा, जो एक दूसरे को अलग कर सके और आन्तरिक विभिन्नता तो इससे भी कम है। जीवन के विषय में दोनों का दृष्टिकोण एक है, दोनों धार्मिक हैं दोनों ही भाग्यवादी हैं, दोनों ही शांतिप्रिय हैं, दोनों ही संतोषी हैं। देहातों के मुसलमान भी जात-पात के बंधनों से वैसे ही बँधे हैं जैसे हिन्दू।"[22] अतः दोनों समुदायों के आर्थिक राजनीतिक हित एक ही थे और उस स्तर पर उनके बीच कोई सामुदायिक विभाजन नहीं किया जा सकता था। "हिन्दू या मुसलमान के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर या क्षेत्रीय स्तर पर भी उनका कोई अलग-अलग राजनीतिक-आर्थिक जीवन नहीं था। क्षेत्र, भाषा, संस्कृति, वर्ग, जाति-सामाजिक हैसियत, परम्पराएँ, खान-पान और पहनावा इन सभी मामलों में हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई सामुदायिक एकता नहीं थी, बल्कि अनेक दृष्टियों से बहुत से हिन्दू और बहुत से मुसलमान एक दूसरे के नज़दीक थे।"[23]

जीवन के विभिन्न क्षेत्रें में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच समानता की जो विचारधारा है वह समाज के निम्न और मध्य वर्ग पर लागू होती थी। इसी वर्ग से प्रेमचन्द भी संबंधित थे। अतः उन्होंने निम्न एवं मध्यवर्गीय हिन्दुओं और मुसलमानों की भावनाओं को काफी करीब से देखा था और दोनों समुदायों के मध्य की यह आधारभूत एकता उनके लेखन मे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वह मिशनरियों

के प्रचार कार्य के समय के हिन्दुओं और मुसलमानों की बेबसी का वर्णन करते हुए लिखते हैं, "आजकल तो धार्मिक वाद-विवादों का जोर कुछ कम हो गया है, पर उस जमाने में ईसाई पादरी, ईसाई मत के प्रचार के जोश में हिन्दू और मुसलमान मजहबों पर खुलेआम आक्षेप किया करते थे और चूँकि उस समय आलिमों और पंडितों में यह योग्यता नहीं थी कि वह शास्त्र वचनों और धार्मिक परम्पराओं की युक्तिसंगत व्याख्या कर सकें तथा शब्दों के परदे में छिपे हुए अर्थ को स्पष्ट कर सकें, इसके कारण ईसाई प्रचारकों के समाने वह निरूत्तर हो जाते थे और इसके कारण जनसाधारण पर बुरा असर पड़ता था।"[24]

इस प्रकार भारतीय जनता का साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन करना अव्यावहारिक था। लेकिन साम्राज्यवादियों को इसका श्रेय जाता है कि उन्होंने एक राष्ट्र के रूप में विकसित हो रही सामुदायिक एकता को तोड़ने में अहम् भूमिका निभाई और वह काफी हद तक सफल भी रहे। अतः भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदाय आंशिक मतभेदों के साथ सामान्य रूप से रह रहे थे। लेकिन ब्रिटिश शासन की स्थापना और उनके राजनीतिक हितों को पूरा करने वाली नीतियों के परिणामस्वरूप दोनों ही सम्प्रदायों ने अपने-अपने समुदाय के प्रति संकीर्णतावादी दृष्टिकोण अपनाया। जिसने एक ओर अंग्रेज़ी शासन को मजबूती प्रदान की तो दूसरी ओर भारत के दो मुख्य समुदायों के बीच एक गहरी खाई खोदी जिसे भविष्य में भरना सम्भव नहीं हो सका। 1936 में जवाहर लाल नेहरू ने लिखा था "यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि भारत में साम्प्रदायिकता एक परवर्ती धारा है, जिसका जन्म हमारी आँखों के सामने ही हुआ है।"[25]

हिन्दू-मुस्लिम विवाद के कारण

प्रेमचन्द ने अपने एक हिन्दी लेख 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' में लिखा है — "साम्प्रदायिकता हमेशा संस्कृति की दुहाई दिया करती है। इसे अपने असल रूप में निकलते शायद लज्जा आती है। इसीलिए वह उस गधे की तरह है जो शेर की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता है। साम्प्रदायिकता, संस्कृति का आवरण पहनकर आती है। हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहते हैं और मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं। यह भूल गए हैं कि अब न कहीं मुस्लिम संस्कृति है, न हिन्दू संस्कृति, न ही कोई दूसरी संस्कृति का अस्तित्व है। अब दुनिया में केवल एक ही संस्कृति है और वह है आर्थिक संस्कृति। मगर हम आज भी हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का रोना रोते चले जाते हैं। हालाँकि संस्कृति का धर्म से कोई

संबंध नहीं। आर्य संस्कृति है। ईरानी संस्कृति है। अरब संस्कृति है। लेकिन ईसाई संस्कृति या मुस्लिम और हिन्दू संस्कृति नाम की कोई चीज नहीं है।"[26]

साम्प्रदायिकता की समस्या मात्र भारत की ही नहीं वरन् पूरे विश्व की विशेषता है, लेकिन भारत के संदर्भ में इसका प्रयोग देश के दो मुख्य सम्प्रदायों के संकीर्णतावादी व्यक्तियों के साथ औपनिवेशिक शासकों द्वारा अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया गया। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के कारणों में मुख्यतया सरकारी नौकरियाँ, कौंसिलों की मेम्बरी, उर्दू-हिन्दी विवाद, गौवध और धार्मिक अपमान यही मुख्य कारण मालूम होते हैं।"[27] मुसलमानों की माँग थी कि मस्जिद के आगे बाजे न बजाए जाएँ और हिन्दुओं की माँग थी कि गौकुशी, (गौ-हत्या) बन्द की जाए। इन्हीं के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक संगठनों का तीव्रता से गठन हुआ और राजनीतिक गठबन्धन भी साम्प्रदायिक आधार पर होने लगे।"[28] साम्प्रदायिक तनाव के अन्य कारणों में मुसलमानों का हिन्दुओं के अपेक्षा शिक्षा एवं रोजगार के अवसरों में पिछड़ापन, हिन्दी एवं उर्दू का विवाद, भारतीय एवं साम्राज्यवादी इतिहास लेखन और इन सबसे महत्वपूर्ण हिन्दू एवं मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठनों और उनके प्रति सरकार द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियाँ उत्तरदायी थीं। इन्हीं सम्मिलित कारणों का परिणाम था कि लगभग सात शताब्दियों से हिन्दू और मुसलमान आंशिक मतभेदों के बावजूद शांतिपूर्वक जीवनयापन कर रहे थे। अब उनमें कभी न समाप्त होने वाली कटुता का समावेश हुआ।

"साम्प्रदायिकता का कीटाणु ऐसा सख्तजान होता है कि एक बार जहाँ पुष्ट हुआ कि फिर उनका विनाश असम्भव हो जाता है। एक कट्टर पंडित की दृष्टि में ठाकुर जी को प्रातःकाल जल चढ़ाना या गंगास्नान कराना, किसी बीमार को अस्पताल पहुँचा देने से अधिक महत्व की बात है। इसी तरह मौलवियों की निगाह में रोज़ा या नमाज़ आदमियों की खिदमत से कहीं बढ़कर है।"[29] 'दोनों सम्प्रदायों में कशमकश और संदेह तथा घृणा की जड़ें इतिहास में हैं। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित। मुसलमानों की तरफ से हिन्दुओं पर ज्यादतियाँ हुईं, लेकिन मौका मिलने पर हिन्दू भी इनसे पीछे नहीं रहे।'[30] वास्तव में साम्प्रदायिकता "एक आधुनिक विचारधारा और राजनीतिक प्रवृत्ति थी, जो आधुनिक सामाजिक समूहों, वर्गों और ताकतों की सामाजिक आकांक्षाओं को व्यक्त करती थी और उनकी राजनीतिक जरूरतों को पूरा करती थी।"[31]

शिक्षा-रोजगार एवं साम्प्रदायिकता

भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा के आगमन ने एक ओर अरबी और फारसी का महत्व घटाया और दूसरी ओर मुस्लिम बुद्धिजीवियों की आर्थिक स्थिति पर इसका प्रतिकूल प्रभाव

पड़ा। परिणामस्वरूप वह नई अंग्रेज़ी शिक्षा से अलग रहे जबकि "हिन्दुओं ने इन संस्थाओं को अपनाया जिससे उनमें एक नए अंग्रेज़ी शिक्षित बुद्धिजीवी (मध्य वर्ग) वर्ग का उदय हुआ। मुसलमान इसके अभाव में प्रशासनिक पदों, डॉक्टरी आदि पेशों से वंचित रहे।"[32] 19वीं व 20वीं शताब्दी में यह एक सामान्य मान्यता थी कि शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान पिछड़े थे, क्योंकि पश्चिमी शिक्षा और सरकारी नौकरियों में वह मुसलमानों की अपेक्षा तेजी से आगे बढ़े।

लेकिन संयुक्त प्रान्त में 1930 के दशक तक मुसलमान प्रशासनिक, सांस्कृतिक और अन्य सभी क्षेत्रों में हिन्दुओं से काफी आगे थे। मार्च 1934 में प्रेमचन्द ने लिखा कि "दिल्ली के एक रिसाला 'असमत' में एक मुस्लिम महिला लिखती है कि सात करोड़ मुसलमानों में मुश्किल से साढ़े चार लाख शिक्षित हैं और फारसी, उर्दू आदि जानने वाले ढाई लाख मुसलमानों के स्कूल और कॉलेज आप उँगलियों पर गिन सकेंगे लेकिन हिन्दुओं की असंख्य यूनिवर्सिटियाँ हैं। लगभग सभी सरकारी स्कूलों और कॉलेजों में हिन्दू प्रोफेसर हैं। उनकी शिक्षा अच्छी है, इसलिए भी सरकारी ओहदों पर हिन्दू भरे हुए हैं। इसके प्रत्युत्तर में प्रेमचन्द लिखते हैं कि "देवी जी को यह भ्रम कदाचित साम्प्रदायिक पत्रों को पढ़ने से हो गया है। मुसलमान हिन्दुओं से ज्यादा शिक्षित हैं, सरकारी ओहदों पर भी मुसलमान हिन्दुओं से कहीं ज्यादा हैं। पुलिस और माल में एक तरह से उन्हीं का साम्राज्य है। आमदनी के सारे विभागों पर उन्हीं का कब्जा है। हाँ, डाकखाना या क्लर्की जैसे सूखे-सूखे विभागों में हिन्दू ज्यादा हैं, इसलिए कि मुसलमानों ने उधर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि यहाँ सूखा वेतन था और काम आँख फोड़ और गर्दन तोड़। मगर अब इन विभागों में भी यह कमी पूर्ण होती जा रही है।"[33] असमत में प्रकाशित लेख आंशिक रूप से उन क्षेत्रों पर लागू होते हैं जहाँ हिन्दू बहुसंख्यक थे, उदाहरण के लिए बम्बई, मद्रास और कलकत्ता। यहाँ उत्तर के मुस्लिम बाहुल्य इलाकों की अपेक्षा व्यापार-व्यवसाय और शिक्षा का प्रचलन पहले हुआ था। 1882 के हंटर कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि "विश्वविद्यालय की शिक्षा के मामले में मुसलमानों का अनुपात मात्र 3.67 प्रतिशत था।"[34]

संयुक्त प्रान्त के सम्बन्ध में ऐतिहासिक स्रोत प्रेमचन्द के तथ्यों की पुष्टि करते हैं। "1871-72 उत्तर-पश्चिम प्रान्तों और अवध में स्कूल और कॉलेज जाने वालों में हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों की संख्या कहीं अधिक थी।"[35] जनशिक्षा निदेशक की एक रिपोर्ट के अनुसार अवध प्रान्त में स्कूल जाने वाले बच्चों में हिन्दुओं के 3.3 प्रतिशत के मुकाबले मुसलमानों का प्रतिशत 8.1 था। "शिक्षा निदेशक की रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि पूरी आबादी के 1.33 प्रतिशत हिन्दू बच्चों की अपेक्षा मुसलमानों के 2.18 प्रतिशत बच्चे स्कूल जाते हैं।[36] इस प्रकार उत्तर-पश्चिम

प्रान्तों और अवध में नई शिक्षा व्यवस्था का मुसलमान, हिन्दुओं की अपेक्षा ज्यादा लाभ उठा रहे थे। यद्यपि 1881 में मुसलमान सामान्य पुरुष साक्षरता में हिन्दुओं से काफी पीछे थे, लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने इस दूरी को कम किया और 1911 तक वह हिन्दुओं से आगे हो गए और 1931 में अप्रत्याशित रूप से आगे बढ़ गए। संयुक्त प्रान्त के शहरों की स्थिति कुछ भिन्न थी, जहाँ 1901-31 तक हिन्दू साक्षरता अपेक्षाकृत अधिक थी। इस परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि शहरी मुसलमान, शहरी हिन्दुओं की अपेक्षा ज्यादा पिछड़े थे। 1901-31 के दौरान शहरी मुसलमान इस दूरी को कम करने का प्रयास कर रहे थे। राजनीतिक वास्तविकता यह है कि 1931 में 68,838 हिन्दू वकील, राजनीति एवं सरकारी नौकरी में अधिक थे, जबकि इसकी तुलना में केवल 26,375 मुसलमान थे। इस प्रकार संयुक्त प्रान्त में मुसलमान, हिन्दुओं की अपेक्षा पिछड़े नहीं थे, लेकिन जीवन के सभी क्षेत्रों में मुसलमान अपनी अल्पसंख्यक स्थिति से उबरने की आशा नहीं कर सकते थे, चाहे हिन्दू बहुसंख्यक कितनी ही धीमी गति से स्वयं को संगठित करे।[37]

मुस्लिम शिक्षा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सर सैयद अहमद, जिन्होंने मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति की ओर आकर्षित किया था, की काफी प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा, "मुसलमानों में तत्कालीन समाज में निर्धनता और बेरोजगारी तेजी से बढ़ रही थी और इस बाढ़ को रोकने के लिए उनमें पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार होना आवश्यक था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सैयद अहमद ने 'मदरसतुल उलूम' की स्थापना की।[38] जिसमें आधुनिक शिक्षा और इस्लाम की कमोवेश बौद्धिक आधार पर परिभाषित सीख का सामंजस्य किया गया। सरकार के समर्थन और मुस्लिम मध्य वर्ग की आर्थिक सहायता से सर सैयद ने अलीगढ़ में "मोहम्मडन एंग्लो ओरियंटल कॉलेज—"की स्थापना की।[39] यद्यपि उस समय लोग पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से ऐसे भड़क रहे थे कि उन्हें डर था कि कहीं हमारा धर्म भी हमारे साथ न चला जाए। "मुसलमानों में साहित्य और विद्या की रुचि उत्पन्न करने के विचार से उन्होंने 'तहजीबुल अखलाक' नामक मासिक पत्र निकाला। इस संस्था (मदरसतुल उलूम) की स्थापना से मुसलमानों का जितना अभ्युदय हुआ और किसी तरह उतना नहीं हो सकता था। आज मुस्लिम विश्वविद्यालय मुसलमानों का जातीय स्मारक है।[40]

भारतीय मुसलमानों ने अपनी जनसंख्या के आधार पर सरकारी एवं गैर-सरकारी नौकरियों में न केवल अपना वर्चस्व कायम किया वरन् उसे हमेशा बरकरार रखा। संयुक्त प्रान्त में 1911-21 की धार्मिक आधार पर सरकारी नौकरियों की गणना के अनुसार, "उस समय तक मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा या तो आबादी के अनुपात में बहुत अधिक थे या उनका प्रतिनिधित्व अच्छा रहा। 1921 में संयुक्त प्रान्त में

जातिगत आधार पर की गई गणना के अनुसार राजपत्रित अधिकारियों में सबसे अधिक ब्राह्मण 1,019 थे, शेख (707) और सैयद (265) दूसरी श्रेणी में आते थे।[41] इस प्रकार प्रेमचन्द का यह मानना सही था कि अधिकतर सरकारी पदों अथवा लाभदायक पदों पर मुसलमान अधिक थे। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में अधिकतर मुसलमानों को सरकारी अधिकारियों, पुलिस अधिकारियों, अंग्रेजी सरकार के एजेन्टों के रूप में वर्णित किया है। उदाहरण के लिए 'कर्मभूमि' में उन्होंने एक सम्पन्न हिन्दू अमरकान्त को समाज सेवक के रूप में प्रस्तुत किया है जबकि सलीम को वह सरकारी अधिकारी के रूप में पेश करते हैं, जिसे सुधार, संगठन और राष्ट्रीय आन्दोलन से कोई प्रेम नहीं था।[42] इस प्रकार शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों के पिछड़ेपन को कुछ प्रतिक्रियावादी व्यक्तियों द्वारा गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया, जिसके परिणामस्वरूप जनसाधारण में तनाव पैदा हुए। यद्यपि 1859-1921 के सरकारी नौकरियों के आँकड़ों से स्पष्ट है कि "मुसलमान इनमें महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं और उनका प्रशासन में आधिपत्य था जबकि हिन्दुओं की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए, उनको नौकरियों में उनका हिस्सा नहीं दिया गया।[43]

देशव्यापी आर्थिक ठहराव के कारण सरकारी नौकरियों, वकालत और डॉक्टरी जैसे पेशों और उद्योग धन्धों में भी जबरदस्त प्रतियोगिता थी जो कुछ भी आर्थिक अवसर उपलब्ध थे, उनका अधिकतम हिस्सा हासिल करने के लिए मध्य वर्ग के लोग शैक्षणिक योग्यताओं तथा व्यक्तिगत गुणों के साथ-साथ भाई-भतीजावाद, घूस आदि का भी इस्तेमाल करते थे। सम्भवतः इसीलिए 1937 तक साम्प्रदायिक राजनीति मुख्यतः सरकारी नौकरियों, शैक्षणिक रियायतों और राजनीतिक पदों के इर्द-गिर्द मंडराती रहीं।

भाषा और साम्प्रदायिकता

स्वाधीनता पूर्व और वर्तमान में भी भाषा को लेकर हिन्दुओं और मुसलमानों में काफी तनाव रहे हैं। 20वीं सदी के आरम्भ में राजनीतिक स्वार्थ के हस्तक्षेप के कारण इसने एक जटिल रूप धारण कर लिया था। देश के अन्य स्थानों के मुकाबले संयुक्त प्रान्त में हिन्दी-उर्दू टकराव काफी अरसे तक और जोरदार ढंग से दोनों सम्प्रदायों के प्रतिक्रियावादी तत्वों द्वारा चलाया गया। इस प्रान्त में हिन्दी को हिन्दुओं से जोड़ने की बात काफी हद तक हिन्दू महासभा वालों का प्रचार थी और इसी कारण इसे उत्तरी भारत में विशेष महत्व मिला।[44] प्रेमचन्द हिन्दू-उर्दू के विवाद का श्रेय दोनों सम्प्रदायों को देते हैं, "उर्दू और हिन्दी व्याकरण में भेद धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। मौलवी लोग व्याकरण को फारसी की ओर खींचते हैं और पंडितवृंद संस्कृत की ओर। उर्दू-हिन्दी के व्याकरण में जो भेद हैं वह इन दोनों को अलग-अलग रास्तों पर चलने के लिए

मजबूर कर रहा है।[45] 'वास्तव में वह (हिन्दी) लिखी जाती है दो लिपियों में और उसी एतबार (आधार) पर हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फर्क है, हाँ, लिखने में वह फर्क बढ़ जाता है।[46] इस प्रकार मौलवियों और पंडितों की संकीर्णता के कारण आज दोनों भाषायें जनता से दूर होती जा रही हैं। "फारसी और अरबी के शब्दों को अलग करके हिन्दी में विशुद्धता लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। हम उसे ज़बान व कौम दोनों के साथ अन्याय समझते हैं। इसी तरह हिन्दी या संस्कृत या अंग्रेज़ी के जो बिगड़े हुए शब्द उर्दू में मिल गए, उनको चुन चुनकर निकालने और उसकी जगह खालिस फारसी और अरबी के शब्दों के इस्तेमाल को भी उतना ही एतराज़ के लायक समझते हैं।"[47]

हिन्दी-उर्दू विवाद अंग्रेजी शासन के साथ ही आरम्भ हुआ, जब 1837 में फारसी का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया था और प्रत्येक प्रांत की स्थानीय भाषा को सरकारी और अदालती भाषा मान लिया गया था। लेकिन उत्तर भारत में स्थानीय भाषा के रूप में देवनागरी लिपी में लिखी जाने वाली हिन्दी को नहीं वरन् फारसी लिपि में लिखी गई उर्दू को मान्यता दी गई। 1900 तक उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों एवं अवध में उर्दू अदालती भाषा रही, लेकिन 1900 में संयुक्त प्रांत के लेफ्टीनेंट गवर्नर मैकडोनल ने एक आदेश द्वारा इस प्रांत में हिन्दी को उर्दू के बराबर का दर्जा प्रदान किया।[48] इसी के साथ संयुक्त प्रांत में हिन्दी-उर्दू विवाद गहराने लगा। पहले प्राथमिकता उर्दू को दी गई, लेकिन जब प्रांत के हिन्दुओं ने अंग्रेजी शासन पर हिन्दी को अदालती भाषा बनाने के लिए दबाव डाला तो उन्होंने उर्दू को विस्थापित कर दिया। प्रेमचन्द का मानना है कि "जिस सूबे में हिन्दुओं की आबादी 80 प्रतिशत से भी अधिक हो और उसमें अधिकतर लोग देहात के रहने वाले उर्दू से अपरिचित हों वहाँ उर्दू का अदालती भाषा होना खुला अन्याय था।[49] "निःसन्देह हिन्दी को एक गौरवपूर्ण स्थान देने का श्रेय मुसलमानों को है, उन्होंने व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामंत जिन प्रान्तों में गए, हिन्दी भाषा को साथ लेते गए। हिन्दुओं की खासी तादाद अभी तक उर्दू पढ़ती जा रही है, लेकिन उनकी तादाद दिन-दिन घट रही है।"[50]

इस प्रकार भाषा के मुद्दे को लेकर 1900-20 के दौरान हिन्दू और मुसलमानों ने स्वयं को राजनैतिक क्षेत्र में संगठित किया। मोहसिन-उल-मुल्क[51] ने हिन्दी को अदालती और सरकारी भाषा के रूप में उर्दू के समान पद का विरोध करने के लिए 'उर्दू डिफेंस एसोसिएशन' का गठन किया।[52] 1885-1920 की अवधि में संयुक्त प्रान्त में विवाद का मुख्य मुद्दा यह था कि प्राइमरी शिक्षा का माध्यम हिन्दी या उर्दू में से क्या होगा?[53] प्रेमचन्द शैक्षिक कार्यों के लिए दोनों को आवश्यक मानते हैं। वह

लिखते हैं कि 'मैट्रीकुलेशन तक उर्दू और हिन्दी हर एक छात्र के लिए लाज़मी कर दी जाय। इस तरह हिन्दुओं को उर्दू में और मुसलमानों को हिन्दी में काफी महारत हो जाएगी और अज्ञानता के कारण जो बदगुमानी और संदेह है वह दूर हो जाएगा।[54] 1900-40 के प्राप्त आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि 1910 में उर्दू समाचार पत्र (116) हिन्दी समाचार पत्रों (86) पर हावी थे और वह संयुक्त प्रांत के सभ्य जन की भाषा थी। वहीं आगे चलकर 1920 के बाद से हिन्दी समाचार पत्रों (1920 में 175 और 1940 में 367) की वृद्धि उर्दू समाचार पत्रों (1920 में 151 और 1940 में 268) की अपेक्षा तीव्रता से हुई। हिन्दू और मुस्लिम समुदायों में मुख्यतया तीन मुद्दों को लेकर मतभेद था—उर्दू को यथोचित स्थान देना, गौकुशी पर प्रतिबंध और अपने-अपने ध र्म पर होने वाले आक्रमणों को बन्द करना।

भाषा विवाद के संबंध में प्रेमचन्द मि. सलीम ज़ाफर के एक महत्वपूर्ण लेख 'हिन्दुस्तान की कौमी ज़बान', जो कानपुर के 'ज़माना' में प्रकाशित हुआ था, का वर्णन करते हैं कि हिन्दू तो आज भी लाखों की संख्या में उर्दू पढ़ते हैं, लिखते हैं और उसको अपनी मातृभाषा समझते हैं। मुसलमानों ने शुरू में ही हिन्दी को अपनाया था, मगर अब वे हिन्दी का अक्षर देखना भी गुनाह समझते हैं।[55] मेरे मुसलमान दोस्त मुझे माफ फरमाएँ अगर मैं कहूँ कि इस मुआमले में वह हिन्दू लेखकों से ज्यादा खतावार हैं। संयुक्त प्रांत की कामन लैंग्वेज रीडरों को देखिए आप सहज किस्म की उर्दू पाएँगे। हिन्दी की अदबी किताबों में भी अरबी और फारसी के सैकडों शब्द धड़ल्ले से लाए जाते हैं। मगर उर्दू साहित्य में फारसियत की तरफ ज्यादा झुकाव है। इसका मतलब यही है कि मुसलमानों ने हिन्दी से कोई ताल्लुक नहीं रखा है और न रखना चाहते हैं। शायद हिन्दी से थोड़ी सी वाकफियत हासिल कर लेना भी बरसरे-शान समझते हैं।[56] प्रेमचन्द यह समझते थे कि हिन्दी और उर्दू का अलग अलग खानों में बँटा रहना खुद उन दोनों ही भाषाओं के लिए नुक़सानदेह है। इसीलिए वह दोनों भाषाओं में यह सोचकर लिखते थे कि आगे चलकर ये दोनों एक हो सकतीं हैं। लेकिन दोनों भाषाओं के जो कटट्रपंथी लोग थे, उन्होंने उनके इस सपने को चकनाचूर कर दिया।

गौकुशी और मस्जिदों के समक्ष संगीत/बाजा बजाना

हिन्दू-मुस्लिम तनाव के परम्परागत कारणों में गौहत्या और नमाज के समय मस्जिदों के सामने बाजा या शादियाने बजाना प्रमुख थे। गौहत्या के संबंध में प्रेमचन्द लिखते हैं कि "मुसलमानों ने ही यह साबित किया था कि टीपू सुल्तान ने गौवध का निषेध किया था। कारण चाहे राजनीतिक हों या धार्मिक अकबर के राज्यकाल में गौवध का निषद्ध होना भी एक मुसलमान की खोज थी। इसके पूर्व अमीर काबुल ने गौवध की

लिखते हैं कि 'मैट्रीकुलेशन तक उर्दू और हिन्दी हर एक छात्र के लिए लाज़मी कर दी जाय। इस तरह हिन्दुओं को उर्दू में और मुसलमानों को हिन्दी में काफी महारत हो जाएगी और अज्ञानता के कारण जो बदगुमानी और संदेह है वह दूर हो जाएगा।[54] 1900-40 के प्राप्त आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि 1910 में उर्दू समाचार पत्र (116) हिन्दी समाचार पत्रों (86) पर हावी थे और वह संयुक्त प्रांत के सभ्य जन की भाषा थी। वहीं आगे चलकर 1920 के बाद से हिन्दी समाचार पत्रों (1920 में 175 और 1940 में 367) की वृद्धि उर्दू समाचार पत्रों (1920 में 151 और 1940 में 268) की अपेक्षा तीव्रता से हुई। हिन्दू और मुस्लिम समुदायों में मुख्यतया तीन मुद्दों को लेकर मतभेद था—उर्दू को यथोचित स्थान देना, गौकुशी पर प्रतिबंध और अपने-अपने ध र्म पर होने वाले आक्रमणों को बन्द करना।

भाषा विवाद के संबंध में प्रेमचन्द मि. सलीम ज़ाफर के एक महत्वपूर्ण लेख 'हिन्दुस्तान की कौमी ज़बान', जो कानपुर के 'ज़माना' में प्रकाशित हुआ था, का वर्णन करते हैं कि हिन्दू तो आज भी लाखों की संख्या में उर्दू पढ़ते हैं, लिखते हैं और उसको अपनी मातृभाषा समझते हैं। मुसलमानों ने शुरू में ही हिन्दी को अपनाया था, मगर अब वे हिन्दी का अक्षर देखना भी गुनाह समझते हैं।[55] मेरे मुसलमान दोस्त मुझे माफ फरमाएँ अगर मैं कहूँ कि इस मुआमले में वह हिन्दू लेखकों से ज्यादा खतावार हैं। संयुक्त प्रांत की कामन लैंग्वेज रीडरों को देखिए आप सहज किस्म की उर्दू पाएँगे। हिन्दी की अदबी किताबों में भी अरबी और फारसी के सैकडों शब्द धड़ल्ले से लाए जाते हैं। मगर उर्दू साहित्य में फारसियत की तरफ ज्यादा झुकाव है। इसका मतलब यही है कि मुसलमानों ने हिन्दी से कोई ताल्लुक नहीं रखा है और न रखना चाहते हैं। शायद हिन्दी से थोड़ी सी वाकफियत हासिल कर लेना भी बरसरे-शान समझते हैं।[56] प्रेमचन्द यह समझते थे कि हिन्दी और उर्दू का अलग अलग खानों में बँटा रहना खुद उन दोनों ही भाषाओं के लिए नुक़सानदेह है। इसीलिए वह दोनों भाषाओं में यह सोचकर लिखते थे कि आगे चलकर ये दोनों एक हो सकतीं हैं। लेकिन दोनों भाषाओं के जो कटट्रपंथी लोग थे, उन्होंने उनके इस सपने को चकनाचूर कर दिया।

गौकुशी और मस्जिदों के समक्ष संगीत/बाजा बजाना

हिन्दू-मुस्लिम तनाव के परम्परागत कारणों में गौहत्या और नमाज के समय मस्जिदों के सामने बाजा या शादियाने बजाना प्रमुख थे। गौहत्या के संबंध में प्रेमचन्द लिखते हैं कि "मुसलमानों ने ही यह साबित किया था कि टीपू सुल्तान ने गौवध का निषेध किया था। कारण चाहे राजनीतिक हों या धार्मिक अकबर के राज्यकाल में गौवध का निषद्ध होना भी एक मुसलमान की खोज थी। इसके पूर्व अमीर काबुल ने गौवध की

मनाही कर ही दी थी।[57] वहीं 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में (1890) में पूरे भारत में गौवध विरोधी प्रचार किया जाने लगा और मजे की बात यह है कि यह सारा प्रचार मुसलमानों के खिलाफ था। ब्रिटिश छावनियों में बड़े पैमाने पर गायें कटती थीं, पर उसका कोई प्रतिवाद नहीं किया गया।[58] भारत की आजादी के बाद हिन्दू-मुस्लिम तनाव में इस विवाद ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यद्यपि कुछ मुसलमान इस आधार पर गौहत्या पर प्रतिबन्ध का समर्थन करते हैं, क्योंकि यह हिन्दू-मुस्लिम विवाद का कारण था और बहुसंख्यक वर्ग की भावनाओं को इससे ठेस पहुँचती थी। इसलिए इस पर प्रतिबन्ध लगाना अच्छा है। कुछ मुसलमान गौहत्या पर संविधान द्वारा प्रतिबन्ध लगाना गलत मानते हैं, क्योंकि इसे लोगों को अपनी इच्छा से बन्द करना चाहिए।

प्रेमचन्द ने हिन्दू-मुस्लिम विवादों में गौहत्या को लेकर जो साम्प्रदायिक उत्तेजना फैलाई जाती है, उसका वर्णन 'कायाकल्प' में किया है। इसकी रचना 1926 में की गई थी, जब देश में भयंकर साम्प्रदायिक तनाव थे। कायाकल्प के मौलवी दीन मुहम्मद आगरा के मुसलमानों को गाय की कुर्बानी के लिए प्रेरित करते हैं। मुसलमान धार्मिक जोश भरकर गाय की कुर्बानी करने का निश्चय करते हैं और हिन्दुओं को यह जिद है कि कुर्बानी किसी तरह नहीं होने देंगे। परिणामस्वरूप हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर मर मिटने की नौबत आ जाती है। समस्या को और भी जटिल बनाने में दोनों समुदायों के नेताओं की भी भूमिका महत्वपूर्ण थी।[59]

हिन्दू-मुसलमानों में इस बात को लेकर भी तनाव था कि नमाज़ के वक्त उनकी मस्जिदों के सामने शोर न हो, जुलूस न निकाले जाएँ आदि। हिन्दुओं के त्यौहारों और जुलूसों के मौके पर अक्सर मुसलमानों की तरफ से यह तकाजा होता है कि मस्जिद के सामने नमाज के मौके पर बाजा और शादियाने न बजाए जाएँ। "यह बहुत ही स्वाभाविक माँग है। शोरगुल से निश्चय ही उपासना में बाधा पड़ती है और अगर मुसलमान इसे बंद करने पर जोर देते हैं तो हिन्दुओं को चाहिएँ कि वह उसे स्वीकार करें।"[60] इसी के साथ-साथ प्रेमचन्द इस वास्तविकता से भी अवगत कराते हैं कि "अगर हिन्दुओं की बारातों के बदले कोई सरकारी जुलूस बैण्ड बजाता हुआ निकले तो मस्जिद के नमाज़ी खामोशी से नमाज़ पढ़ने में मशरूफ रहेंगे। लेकिन हिन्दू बाजे, हालाँकि इसको बजाने वाले मुसलमान होते हैं, नमाज़ में बाधक हो जाते हैं और दीनदारी अर्थात धार्मिकता का जोश उबल पड़ता है।"[61] मुसलमान जोर-जोर से अज़ान बुलाते हैं, वहीं हिन्दू घंटों और शंखनाद से धार्मिक उत्तेजना फैलाते हैं। ऐसी स्थिति में समाज का वह समुदाय जो धर्मनिरपेक्ष है। इनकी धार्मिकता का शिकार बनते हैं।

धार्मिक एवं राजनीतिक संगठनों की भूमिका

हिन्दू-मुस्लिम तनाव को प्रोत्साहित करने और उन्हें घृणा एवं संघर्ष में परिवर्तित करने का श्रेय दोनों समुदायों के विभिन्न संगठनों को जाता है। उदाहरण के लिए मुस्लिम सर्वदल कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, आर्य कुमार सभा आदि। एक ओर आगा खाँ, मुहम्मद इकबाल और डॉ. शफात अहमद खाँ का यह मानना है कि "हिन्दू और मुसलमानों के राजनीतिक अथवा सामाजिक हितों को भी एक दूसरे से मिला पाना असम्भव है।[62] वहीं दूसरी ओर आर्य कुमार सभा ने यह प्रस्ताव पारित किया कि "जब तक देश में एक भी मुसलमान या ईसाई रहेंगे, तब तक भारत में शान्ति नहीं रह सकती।[63] इस प्रकार जब भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में दोनों समुदायों में साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रचार-प्रसार हो रहा था, तब प्रेमचन्द ने इनके धार्मिक संगठनों की भूमिका और उद्देश्यों को अपनी रचनाओं के माध्यम से उजागर करने का प्रयास किया। हालाँकि स्वयं प्रेमचन्द हिन्दू और मुसलमान के पृथक अस्तित्व को न केवल स्वीकार करते हैं बल्कि इस बात की घोषणा भी करते हैं कि यह अस्तित्व शाश्वत है। प्रेमचनद बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं, 'हिंदू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न होंगे और न होना चाहिए। दोनों की अलग-अलग सूरतें रहनी चाहिये और बनी रहनी चाहिये।'[63.1] सम्प्रदायवादियों का मूलमंत्र है कि हिन्दू एवं मुसलमान दो भिन्न धार्मिक इकाइयाँ हैं। प्रेमचन्द को इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

हिन्दू-मुस्लिम तनाव को उसके चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने में दोनों समुदायों की प्रतिक्रियावादी गतिविधियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। "उत्तरीय हिन्दुस्तान में मलकाना राजपूतों[64] की शुद्धि का मसला अपने नताइज (परिणामों) के एतबार से जितना अहम् हो रहा है, उतना शायद और कोई मसला न होगा। विशेषतः इसीलिए कि जहाँ तक अखबरों से ज़ाहिर होता है, हिन्दू ज़मात इस आन्दोलन को जारी रखने और अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए सहमत हो गई है। शायद हिन्दुस्तान की तारीख में पहली बार आर्य और सनातन धर्म सुधारवादियों और संघ में एकता और मेल-जोल नजर आ रहा है। कोई शक नहीं कि हमारे मुस्लिम बिरादराने-वतन इस एकता को संदेहपूर्ण नजरों से देख रहे हैं और इस सम्मिलन को अपने कौमे वजूद के लिए ख़ौफनाक समझते हैं। अब तक तबलीग (धर्म प्रचार) के मैदान में मुसलमान गर्व करने में अनुपम थे। कोई इनका प्रतिद्वन्द्वी न था, लेकिन यह सूरते-हाल बहुत शीघ्रता से तब्दील होती जा रही है।[65] 1923 में स्वामी श्रद्धानन्द ने पश्चिमी संयुक्त प्रांत में शुद्धि आन्दोलन शुरू किया। "इसका उद्देश्य उन मलकाना राजपूतों-गुर्जरों, और बनियों को पुनः हिन्दू बनाना था जिन्हें मुसलमान बनाया गया था।"[66] वास्तव में दोनों ही

समुदायों में असुरक्षा की भावना ने ही उन्हें धर्म परिवर्तन द्वारा अपने-अपने समुदाय की संख्या बढ़ाने के लिए प्रेरित किया। प्रेमचन्द ने इसी प्रकार के धर्म प्रचार को साम्प्रदायिक वैमनस्य का एक मुख्य कारण माना है। 'मन्त्र' (1926-28)[67] कहानी में तबलीग वालों ने मद्रास में गाँव के गाँव मुसलमान बना लिए। इस प्रांत में मुल्ला बड़े जोर-शोर से तबलीग का काम कर रहे हैं। यह स्थिति देखकर हिन्दू सभा में खलबली मच जाती है। पंडित लीलाधर चौबे स्वयंसेवकों का एक दल लेकर मद्रास जा पहुँचे। ऐसी स्थिति में दोनों दलों में मुठभेड़ होना स्वाभाविक है। अपना रास्ता साफ करने के लिए मुल्लाओं ने दो मुसलमान युवकों को चौबे जी का कत्ल करने का ओदश दिया। यहाँ पंडित लीलाधर जी हत्या को प्रेमचन्द ने सम्भवतः शुद्धि आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या से जोड़ने का प्रयास किया है, जिनकी 1926 में हत्या कर दी गई थी, जब देश में शुद्धि आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था।[67.1]

निःसन्देह एक साम्प्रदायिकता दूसरी साम्प्रदायिकता को न केवल जन्म देती है वरन् उसे विकसित होने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करती हैं। शुद्धि आन्दोलन इसका परिणाम था। "तत्कालीन परिस्थितियों में वह बुरी साइत थी, जब हिन्दुओं को शुद्धि की धुन सवार हुई। मुसलमान बराबर हिन्दुओं को शुद्ध करते चले आते हैं, उनकी तबलीग निरन्तर हो रही है, पर किसी को खबर भी नहीं होती कि कौन कब शुद्ध हो गया। हां, जब दसवें साल जनगणना होती है, तो ज्ञान होता है कि हमारे कितने आदमी काम आए।"[68] "प्रेमचन्द शुद्धि आन्दोलन के विरुद्ध थे, क्योंकि शुद्धि के प्रश्न को लेकर मुसलमान उसी तरह चिढ़ जाते हैं, जिस तरह कुर्बानी को लेकर हिन्दू।"[69] इसके बावजूद शुद्धि आन्दोलन के समर्थकों को यह धुन सवार थी कि "हम सारे हिन्दुस्तान के मुसलमानों को ही नहीं, अन्य सभी धर्मावलम्बियों को भी शुद्ध कर लेंगे।[70] "यदि एक हिन्दू मुसलमान होता है तो लाखों हिन्दुओं के दिलों में पश्चाताप का जोश पैदा होता है। यहाँ तक कि वह उस धर्म परिवर्तन करने वाले को जान से मारने के तरीके सोचने लगता है। धार्मिक तौहीन का सबसे घातक पहलू यही है कि कोई आदमी इससे विमुख हो जाय। यह उस धर्म की ख़ामी का ऐलान है।"[71] प्रेमचन्द लिखते हैं, "हम गिला नहीं करते, लेकिन सच्चाई हमको यह कहने पर मजबूर करती है कि हिन्दुओं में इस आन्दोलन की नींव मुसलमानों ने डाली। वो ही इसके जिम्मेदार हैं। उन्हीं के धर्म जोश ने हिन्दुओं को इकट्ठा होने और संगठन बनाने के लिए प्रेरित किया। इस्लामी हुकूमत का ज़माना धार्मिक मदाधंता का ज़माना था। उस वक्त इस्लाम के प्रचार का उद्देश्य राजनीतिक (सियासी) नहीं, बल्कि महज धार्मिक था और गालिबन मौजूदा जमाने में यह आन्दोलन राजनीतिक वजूद पर आधारित नहीं। मगर हिन्दुओं की शुद्धि शुद्धतः और पूर्णतः सियासी समस्याओं पर आधारित

है। शुद्धि आन्दोलन चलाए जाने के पीछे हिन्दुओं का मुख्य उद्देश्य यह था कि इसके परिणामस्वरूप हिन्दुओं की तादाद बढ़ेगी और इसी अनुपात में मुस्लिम जनसंख्या कम होगी।" इसी लेख में वह आगे लिखते हैं कि "सारे मुल्क को एक धर्मी बनाने का ख्याल जुनून से ज्यादा वकत नहीं रखता। वहीं अमृतसर है, जहाँ तीन साल पूर्व हिन्दुओं और मुसलमानों ने खूनी एकता का ऐसा ऊँचा स्तर पेश किया था, जिसका उदाहरण हिन्दुस्तान की तारीख़ में मुश्किल से मिल सकता है। उसी अमृतसर में आज दोनों समुदायों में संघर्ष है। इसके लिए हम बड़ी हद तक इसी शुद्धि के प्रचार दोषी मानते हैं।"[72] इस प्रकार प्रेमचन्द ने हिन्दू-मुस्लिम तनाव में वृद्धि करने के लिए शुद्धि आन्दोलन की आलोचना की है और यह आलोचना उनके नाटक 'प्रेम की वेदी' (1935) में प्रखर रूप से परिलक्षित होती है।

दूसरी ओर यह भी सही है कि लीग की साम्प्रदायिक माँगों के लिए काफी हद तक हिन्दू सम्प्रदायवाद की गतिविधियाँ उत्तरदायी थीं, जो इस दौरान (1923-1930) काफी तेजी से बढ़ी थी। तबलीग और तंजीम बहुत सीमा तक आर्य समाजियों के शुद्धि और संगठन के जवाब थे। इस प्रकार एक साम्प्रदायिकता दूसरी साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया का परिणाम है। "मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विकास सत्ता के संघर्ष के रूप में हुआ, न कि हिन्दू साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रियास्वरूप, दूसरी ओर हिन्दू साम्प्रदायिकता, मुस्लिम साम्प्रदायिकता का परिणाम थी।[73] वास्तव में, "हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिक नेता, दोनों ही ब्रिटिश सरकार के कदमों से चिपके रहना चाहते हैं, दोनों अपने-अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए सरकार का मुँह ताकते हैं, दोनों नौकरियों और मेम्बरियों की वेदी पर राष्ट्रीयता की बलि देना चाहते हैं। मगर फर्क यही है कि जहाँ लीग अपने उद्देश्यों में सफल होती चली जा रही है, हिन्दू सभा के लिए अन्धकार ही अन्धकार है, क्योंकि लीग की नीति राजनैतिक सिद्धान्तों के अनुकूल है, जबकि हिन्दू सभा की नीति प्रतिकूल है। अर्थात लीग अल्पसंख्यक समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिए उसे सरकार का पूरा समर्थन प्राप्त है।"[74]

लेखन और साम्प्रदायिक वैमनस्य

साम्प्रदायिक चेतना के प्रचार-प्रसार और साम्प्रदायिक विचारधाराओं का आधार हमारे इतिहास, विशेष रूप से प्राचीन काल और मध्यकालीन इतिहास की व्याख्या, हिन्दू अथवा मुस्लिम राष्ट्रवादियों के भाषणों, लेखन आदि में भी मिलता है। साम्प्रदायिक व्याख्याओं के लिए तत्कालीन कविताएँ, नाटक, ऐतिहासिक उपन्यास और कहानियाँ, समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, भाषण आदि भी उत्तरदायी थे। 1933 में साहित्य-मंडल देहली से चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक 'इस्लाम का विषवृक्ष'

प्रकाशित हुई। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, इस पुस्तक का उद्देश्य इस्लाम धर्म पर कीचड़ उछालना और इसके माध्यम से साम्प्रदायिक तनाव पैदा करना था। इसके संबंध में प्रेमचन्द ने 'जागरण' में लिखा कि 'थोड़े से धन' और थोड़े से यश के लाभ से लोग ऐसी रचनाएँ कर डालते हैं, जिनमें साम्प्रदायिक तनाव को प्रोत्साहन मिलता है।" इस पुस्तक के पृष्ठ 45 में कुरान में लिखी हुई बातों के विषय में कहा गया है कि कुरान के अनुसार—

1. खुदा आदमी को बहकाता है।
2. खुदा सबसे बड़ा कपटी है।
3. खुदा ने प्रत्येक शहर में पापियों के सरदार छोड़ रखें हैं, ताकि वे लोगों को बहलाते और धोखा देते रहें।

इसी लेख में वह आगे लिखते हैं कि "ऐसी बेबुनियाद और धोखे में डालने वाली पुस्तकों का मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं में इस्लाम धर्म और मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रति घृणा और वैमनस्य पैदा करना है। पुस्तक का शीर्षक ही इसके उद्देश्यों को स्पष्ट करता है। महासभा के भाई परमानन्द भी इनका अनुसरण करते हैं। उनको मुसलमानों में देशद्रोह और कट्टरता के सिवा कुछ नज़र ही नहीं आता। आपके ख्याल में सभी मुसलमानों में मिलीभगत है केवल हिन्दुओं की आँख में धूल झोंकने के लिए अलग-अलग दल बनाए गए हैं।" इसके आगे प्रेमचन्द लिखते हैं कि "इसका जवाब इसके सिवा और क्या है कि जैसे आप दूसरों को देखते हैं, वैसे ही दूसरे भी आपको देखते हैं और ऐसे मुसलमान कम नहीं हैं, जो कांग्रेस को भी हिन्दू सभा का एक शिगूफा समझते हैं।"[75] चतुरसेन शास्त्री की तर्ज पर ही हिन्दू महासभा के अध्यक्ष वी. डी. सावरकर ने 1934 में अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' में मुसलमानों को हिन्दुओं का पुराना शत्रु बताया है।[76] सैद्धान्तिक रूप से प्रेमचन्द के लेखन की जो मुख्यधारा है, वह धर्मनिरपेक्ष मूल्यों और राष्ट्रवादी चेतना को प्रोत्साहित करती है।

"1923 में हिन्दू जाति की रक्षा और उन्नति, हिन्दू महासभा का घोषित उद्देश्य था।"[77] इसके प्रत्युत्तर में मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने यह प्रचार किया कि "मध्यकाल के सभी मुसलमान शासक वर्ग में थे या कम-से-कम मुस्लिम शासन से लाभान्वित हो रहे थे। 19वीं शताब्दी में राजनीतिक सत्ता छिन जाने के बाद हिन्दू आगे बढ़ने लगे, जिसका उनकी संस्कृति, धर्म और आर्थिक हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।"[78] इस प्रकार ऐसे ही बयानों ने दोनों समुदायों में एक-दूसरे के प्रति भय की भावना को आधार दिया। निःसन्देह यह भय आधारहीन है, क्योंकि मुसलमानों का भारत पर कई

सदियों से राज रहा है। "अगर मुसलमान उस ज़माने में हिन्दुओं को न कुचल सके, तो अब इसकी कोई संभावना नहीं रही। मुस्लिम काल में इसकी काफी मिसालें मिलती हैं कि मुसलमानों के साथ हिन्दुओं ने सहयोग किया है।"[79]

प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हमारे राष्ट्रवादी नेताओं ने अपने भाषणों में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जिससे साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला। जैसे 1920-22 में असहयोग आन्दोलन के दौरान गांधी ने यह घोषणा की थी कि 'वह सनातनी हिन्दू हैं।'[80] प्रेमचन्द के अनुसार, "एक सनातनी हिन्दू आर्य समाज में प्रवेश करते ही एक नए जोश का अनुभव करने लगता है।"[81] "अगर हिन्दुओं में एक भी किचलू, मुहम्मद अली या शौकत अली होता तो हिन्दू संगठन और शुद्धि की इतनी गर्म बाजारी न होती मगर कांग्रेस ने भी समग्र रूप से इन आन्दोलनों से अलग-अलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमें शामिल होने में कुछ भी उठा नहीं रखा। एक भी जिम्मेदार कांग्रेसी नेता ने ऐलान करके इन आन्दोलनों के खिलाफ आवाज बुलन्द करने का साहस नहीं किया। पं. मोतीलाल नेहरू, पं. जवाहरलाल नेहरू, लाला भगवान दास, लाला श्री प्रकाश ने, जिनसे ज्यादा नैतिक साहस से काम लेने की आशा की जा सकती थी, एक रोज अपने विरोध और अपनी आशंका को व्यक्त करके, दूसरे रोज़ उसका खण्डन कर दिया और डंके की चोट पर यह कहा कि शुद्धि और संगठन के बारे में हमने जो ख्याल जाहिर किया था वह गलत फहमियों पर आधारित था।"[82] इसी प्रकार गांधी, जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे, का आदर्श राज्य से आशय 'रामराज्य' था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस रामराज्य में मुसलमानों के लिए किसी प्रकार का आकर्षण नहीं हो सकता। अतः यदि मुसलमान कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था मानते थे तो इसमें गलत क्या था?

वास्तव में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के जो भी कारण सामने आते हैं, "उनमें से कोई भी कारण इतना बलवान नहीं है, जिसके लिए हम आपस में लड़ मरें। मतविरोध को भड़काना जातीय हीरो बनने का सबसे सहज नुस्खा है, किन्तु यह धर्म की रक्षा नहीं हैं जैसा मौलाना मुहम्मद अली ने कहा है कि इस मामले में समाचार पत्रों के संपादकों पर सबसे बड़ी जिम्मेदारी है। वह राष्ट्रीय सेना के नायक हैं, कौम को पार लगाना या डुबा देना दोनों ही उनके हाथ में है। उन्हें कलम से एक एक शब्द निकालते हुए यह सोचना चाहिए कि इससे परस्पर विरोध तो न बढ़ेगा।"[83] समाचार पत्रों को ऐसे विचारों, 'हिन्दू कौम खतरे में है', 'हिन्दुओं को खिलाफत आन्दोलन से सावधान रहना चाहिए' या 'हिन्दू हम पर हावी होते जा रहे हैं', 'स्वराज्य से दूर रहना हमारा कर्तव्य है आदि को महत्व नहीं देना चाहिए।[84] प्रेमचन्द ने चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक 'इस्लाम का विषवृक्ष' पर लेख में लिखा है "उन्होंने इर्विन, एलफिंस्टन आदि

योरोपीय लेखकों की रचनाओं के उद्धरण देकर इस मत का समर्थन करने की चेष्टा की है कि मुहम्मद साहब मनुष्य जाति का भयानक शत्रु था और कुरान में मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं है। यह पुस्तक इस्लाम का इतिहास है। किसी जाति या धर्म का इतिहास लिखना बुरा नहीं, यदि निष्पक्ष होकर, पूरे अध्ययन और खोज से सत्यासत्य का पूरा विचार करते हुए लिखा जाय।" इसी लेख में वह इसके लेखक से प्रार्थना करते हुए लिखते हैं कि "चतुरसेन जी हमारे मित्र हैं । हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि ऐसी जटिल और द्रोहभरी रचनाएँ लिखकर अपनी प्रतिभा को और हिन्दी भाषा को कलंकित न करें और राष्ट्र में जो द्रोह और द्वेष पहले से ही फैला हुआ है, उस बारूद में आग न लगाएँ।"[85]

इस प्रकार इतिहास लेखन, जिसमें प्राचीनकाल को हिन्दू युग और मध्यकाल को मुस्लिम शासन कहा गया, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, भाषण आदि भी साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रसार करने में अहम् भूमिका निभा रहे थे, जिन पर प्रेमचन्द ने समय-समय पर तीव्र प्रहार किए। इस प्रकार यदि हम एक धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण से सम्पूर्ण इतिहास को देखें तो हमें दोनों ही परम्पराएँ और आदर्श मिलते हैं। जहाँ एक ओर राणा प्रताप, औरंगज़ेब और शिवाजी हैं तो दूसरी ओर अशोक और अकबर की महानता और उदारवादी दृष्टिकोण भी परिलक्षित होता है।

साम्राज्यवाद और साम्प्रदायिकता

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को विकसित करने और उसे तीव्रता देने में ब्रिटिश सरकार और उसकी नीतियाँ काफी हद तक उत्तरदायी थीं। यह साम्राज्यवादियों की विवशता थी कि देश के दो प्रमुख सम्प्रदायों के मतभेदों को बढ़ाया जाय, जिससे उनका अस्तित्व कायम रहे। 1857 के विद्रोह के बाद सरकार मुसलमानों के प्रति सशंकित हुई, क्योंकि वह इस विद्रोह के लिए मुसलमानों की उत्तरदायी मानते थे। लेकिन 1885 में कांग्रेस की स्थापना ने उनके विचारों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया और अब वह हिन्दुओं में जाग्रत् हुए राष्ट्रवाद से भयभीत हुए। इन परिस्थितियों में "गवर्नमेन्ट के पास इसके सिवा और क्या साधन था कि वह अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए किसी एक प्रमुख दल(सम्प्रदाय) की शरण लें। हिन्दू इतने लचीले नहीं हैं। ऐसी दशा में मुसलमानों के सिवा और किस पर गर्वनमेन्ट की निगाह पड़ती।"[86] परिणामस्वरूप एक ओर सैयद अहमद ने कहा कि "सरकार के हाथ में अधिकार थे, पद थे और उन्नति के अपरिमित साधन थे। हिन्दुओं की दोस्ती में परस्पर रोने के सिवा और क्या था।"[87] ऐसे बयान केवल मुसलमानों की ओर से ही नहीं दिए गए थे। 1927-28 के 'साइमन आयोग' के बहिष्कार के संबंध में भाई परमानन्द ने अजमेर

में हिन्दू महासभा के अध्यक्षीय भाषण में कहा कि "यह बहिष्कार हिन्दुओं के लिए दुर्भाग्यपूर्ण था। उनके अनुसार ऐसे प्रश्नों, साइमन आयोग जैसे मुद्दों पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण चाहे कुछ भी हो हिन्दुओं के लिए यह आवश्यक है कि वह कुछ साम्प्रदायिक लाभ प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार से सहयोग करें। सत्ता का उपहार अंग्रेज़ों के हाथों में है। नए भारत की राजनीतिक संस्थाओं में हिन्दुओं को भारत का प्रमुख समुदाय मानते हुए उत्तरदायी पद प्रदान करने के आधार पर वह ब्रिटेन का सहयोग करने में इच्छुक हैं।"[88] इसी परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द लिखते हैं, "भाई परमानन्द जी की यह नीति थी कि हिन्दुओं को अंग्रेजों से मेल करके मुसलमानों को परास्त करना चाहिए, बच्चों की सी बात मालूम होती है जब तक हममें यह हिन्दूपन और मुस्लिमपन रहेगा, तीसरी शक्ति को अपना प्रभुत्व जमाए रखने के लिए किसी बात की जरूरत नहीं, सिवाय इसके कि कभी हमें खुश कर दें, कभी उसे भाई जी का यह ख्याल कि स्वराज्य के लिए मुसलमानों के सहयोग की जरूरत नहीं, और हिन्दू केवल अपने बल से उसे प्राप्त कर सकते हैं, गौरवपूर्ण होने पर भी यथार्थ की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। बेशक हिन्दुओं ने मुसलमानों की बादशाही मिटा दी थी? तो क्या मुसलमानों ने हिन्दुओं का राज नहीं मिटा दिया था? पुरानी अदावतों को पालते रहना स्वस्थ मनोवृत्ति नहीं है, और उसका परिणाम वही होगा, जो फूट का होता है।"[89] 29 मई, 1933 पंजाब की 'पंजाब हिन्दू युवा लीग' ने यह बयान दिया, "हम यह महसूस करते हैं कि अब एकता का समय आ गया है, जो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच नहीं वरन् अंग्रेज़ों और भारतीयों के बीच था।"[90] इस प्रकार कुछ अप्रत्याशित रियायतें प्राप्त करने की आशा में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सहयोग करने का यह दृष्टिकोण अराष्ट्रवादी और प्रतिक्रियावादी था। विशेष रूप से तब जब सरकार स्वंय ऐसे मतभेदों को उभरना चाहती थी। यह भारत की विडम्बना थी कि यहाँ जैसे-जैसे राष्ट्रीयता का विकास हुआ, उसी अनुपात में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का भी विकास हुआ।

अल्पसंख्यकों को अपने पक्ष में करने के लिए ब्रिटिश सरकार, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व, पृथक निर्वाचन मण्डल और साम्प्रदायिक आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन करने के लिए विवश थी। प्रेमचन्द ने सरकार की इस विवशता के कारणों के बारे में लिखा कि "राजसत्ता अल्पसंख्यक समुदाय को प्रोत्साहन देकर बहुसंख्यक समुदाय को दबाए रख सकती है, अगर वही प्रोत्साहन वह बहुमत को भी देने लगे तो बहुमत इतना शक्तिशाली हो जाएगा कि वह अल्पमत के लिए ही नहीं, राजसत्ता के लिए भी भारी हो जाएगा। बहुमत को सहारा देकर कोई भी सरकार समान परिस्थितियों में अपनी जड़ खोदना स्वीकार न करेगी। राजसत्ता का अस्तित्व ही बहुमत को दबाए रखने में है। मुसलमान अगर शक्तिशाली होकर सिर उठाना भी चाहें तो सरकार

हिन्दुओं की सहायता से उन्हें बहुत जल्द काबू में ला सकती है। वहीं हिन्दू बहुमत अगर शक्तिशाली हो जाए, तो मुसलमानों की सहायता से भी नहीं दबाया जा सकता।"[91] वास्तव में राज्य के हाथ में जितनी प्रभूत शक्ति थी, उसका इस्तेमाल या तो राष्ट्र की एकता को बढ़ाने के लिए किया जा सकता था या फिर तमाम तरह की विघटनकारी शक्तियों को शह देने में। "औपनिवेशिक शासन, ने क्योंकि वह औपनिवेशिक था, दूसरा रास्ता चुना। बहुसंख्यकों के वर्चस्व तथा दमन से अल्पसंख्यकों की रक्षा करने की जरूरत का सिद्धान्त बढ़-चढ़ कर प्रतिपादित किया जाने लगा।"[92]

"भारत जैसे देश में जहाँ दो ही प्रमुख जातियाँ हैं, वहाँ अगर एक के साथ ज़रा भी पक्षपात किया जाता है तो दूसरी जाति को उसकी कसर पूरी करनी पड़ती है। जो लोग अपने लिए पृथक निर्वाचन न चाहते थे, उन्हें भी पृथक निर्वाचन का अधिकार दे दिया गया। इस वक्त तो सरकार जैसे साम्प्रदायिकता को खोज-खोज कर पुरस्कृत करने पर तुली हुई थी। मुसलमानों की जनसंख्या का भारतीय औसत 1/5 से कुछ अधिक ही है, पर कांग्रेस ने उसे तीस फीसदी जगह देना स्वीकार कर लिया, अब सरकार ने देखा कि कांग्रेस मुसलमानों को तीस फीसदी अधिकार देकर उनका सहयोग प्राप्त कर लेना चाहती है, तो उसने तीस को बढ़कार तैंतीस कर दिया।"[93] जब 1932 के साम्प्रदायिक निर्णय में सरकार द्वारा सभी साम्प्रदायिक माँगों की स्वीकार किया गया तब प्रेमचन्द ने 'सरकारी नौकरियाँ और सम्प्रदायिकता' शीर्षक से एक लेख लिखा कि "साम्प्रदायिकता के नाम पर मुसलमानों के लिए पच्चीस प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिए गए हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिकता का पोषण करके सरकार हमारी राष्ट्रीयता को हवा से उड़ा देना चाहती है। सरकारी नौकरियों में बँटवारे की सरकार की नीति की आलोचना करते हुए वह आगे लिखते हैं कि इसका अर्थ यह नहीं कि हम मुसलमानों की उन्नति के विरोधी हैं, खेद है इस साम्प्रदायिक मनोवृत्ति पर जिससे राष्ट्रीयता का गला घुट रहा है। नौकरियों में इस प्रकार के विभाजन से क्या होगा? साम्प्रदायिक विद्वेष की मनोवृत्ति पनपेगी, धर्मान्धता बढ़ेगी, हृदय ईर्ष्यालू होंगे, योग्यता का मूल्य गिर जाएगा, मूल्य रहेगा साम्प्रदायिकता का। नौकरियां सम्प्रदाय के नाम पर नहीं, योग्यता के नाम पर ही दी जाएँ। फिर चाहे उसमें मुसलमानों के हाथ पच्चीस प्रतिशत के बजाय पचास प्रतिशत ही क्यों न लग जाए, किसी समझदार को इससे दुख न होगा। भारत सरकार का यह प्रयोग केवल राष्ट्रीय हित को खतरे में डालने के लिए ही हुआ है। हिन्दू और मुसलमानों का एक होना वह पसंद नहीं करती और इसी कामना से उसने राष्ट्रीय जीवन में इस साम्प्रदायिकता के विष का इंजेक्शन दिया है।"[94]

इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य अंग्रेज़ी सरकार की कूटनीति का परिणाम था। वाह्य रूप से यह एक धार्मिक समस्या है, लेकिन वास्तव में यह तत्कालीन

राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम है। सरकार ने एक समुदाय को दूसरे के अपेक्षाकृत रियायतें देकर अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। साथ ही सरकार यह सोचती थी कि इससे बहुमत वाले लोग सरकार के बदले इस अल्पमत पर अपना गुस्सा उतारेगा। कालान्तर में यह वैधानिक व्यवस्था व्यापक होती गई और 1935 के 'भारत सरकार अधिनियम' में मुसलमानों को एक तिहाई सीटों पर प्रतिनिधित्व दिया गया। जबकि उनकी आबादी कुल आबादी का एक चौथाई से भी कम थी।"[95] सरकार ने अपने अस्तित्व के लिए कटुता को कायम रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। "यह एक विडम्बना है कि अभी तक हिन्दू-मुस्लिम समस्या का मैत्रीपूर्ण समाधान नहीं हो सका, दूसरी ओर सरकार साम्प्रदायिकता के प्रश्न को राजनीतिक प्रगति रोकने का एक बहाना बना रही है।"[96]

हिन्दू-मुस्लिम तनाव के वास्तविक कारण

गौकुशी, मस्जिदों के आगे बाजे बजाना, हिन्दी-उर्दू विवाद, कुर्बानी आदि ऐसे कारण हैं, जिनके माध्यम से इस तनाव को कायम रखने का एक बहाना मिला। वास्तव में राजनीतिक एवं धार्मिक संगठन ही इस वैमनस्य के प्राथमिक कारण थे, जिन्होंने साम्राज्यवादी सरकार को इन्हें कायम रखने का सुनहरा अवसर दिया था। इन्होंने अपनी संकीर्ण और स्वार्थी मानसिकता पर राष्ट्रीयता का कवच पहनाया। यह संगठन उच्च-मध्यम वर्ग, पूँजीपतियों, भू-स्वामियों और रियासतों पर आश्रित लोगों का ही प्रतिनिधित्व करते थे। "इन संस्थाओं को जनता के सुख-दुख से कोई मतलब नहीं उनके पास ऐसा कोई सामाजिक या राजनीतिक कार्यक्रम नहीं, जिसे राष्ट्र के सामने रख सकें। उनका काम केवल एक दूसरे का विरोध करके सरकार के सामने फरियाद करना और इस तरह विदेशी शासन को स्थायी बनाना है। उनका कार्यक्षेत्र अपने समुदाय के लिए ऐसे अवसर प्राप्त करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक और व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें। साधारण जनता के सुख-दुख से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। और साम्प्रदायिकता उनकी आर्थिक समस्याओं की तरफ से आँखें बन्द किए हुए ऐसे कार्यक्रम पर चल रही है, जिससे उनकी पराधीनता चिरस्थायी बनी रहे।[97] पं. नेहरू भी प्रेमचन्द का समर्थन करते हैं कि "इन संगठनों के पास मजदूरों, किसानों और निम्न मध्यम वर्ग के लिए कोई कार्यक्रम नहीं थे।"[98]

'सेवासदन' (1918) में प्रेमचन्द ने स्पष्ट किया है कि दोनों सम्प्रदायों के धनी वर्ग अपने आर्थिक हितों और सामाजिक पदों के लिए सामाजिक समस्या को भी साम्प्रदायिक रंग दे देते हैं—बनारस की म्युनिसिपैलिटी में पदम सिंह शर्मा यह प्रस्ताव रखने वाले हैं कि वेश्याओं को चौक से हटाकर नगर से बाहर रखा जाय। नैतिक

दृष्टि से यह आवश्यक है। म्युनिसिपैलिटी के सदस्य बड़े-बड़े सेठ, वकील, बैरिस्टर, ज़मींदार आदि उच्च वर्ग के व्यक्ति हैं। "अधिकांश सदस्य व्यक्तिगत स्वार्थों और आर्थिक हितों के कारण इस प्रस्ताव के विरुद्ध है। यही सदस्य इस प्रस्ताव को साम्प्रदायिक मुद्दा बनाना चाहते हैं। मुसलमान मैम्बरों को समझाया जाता है कि उनके राजनीतिक हितों को चोट पहुँचाने के लिए ही यह प्रस्ताव रखा जा रहा है। इस प्रस्ताव के पीछे हिन्दुओं की राजनीतिक चाल काम कर रही है।"[99] इसका तात्पर्य यह है कि अधिकतर वेश्यायें मुसलमान हैं, उन्हें शहर से बाहर निकालकर हिन्दू बोर्ड में मुसलमानों की संख्या घटाना चाहते हैं।

दूसरी ओर सेठ चिम्मनलाल मुसलमान सदस्यों पर संदेह करते हुए कहते हैं, "हमारे मुस्लिम भाइयों ने हमारी गर्दन बुरी तरह पकड़ी है। दालमंडी और चौक के अधिकांश मकान हिन्दुओं के हैं, यदि बोर्ड ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तो हिन्दुओं का मटियामेट हो जाएगा। छिपे-छिपे चोट करना कोई मुसलमानों से सीख लें।"[100] इन्हीं साम्प्रदायिक तनावों में एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को हानि पहुँचाने का अवसर खोने नहीं देना चाहता और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वाले नेताओं ने इसका अनुसरण करते हुए दूसरे सम्प्रदाय का शोषण करने की सलाह दी। 'सेवासदन' में तेग अली कहते हैं, "आजकल पॉलिटिकल मफाद का जोर है। हक और इन्साफ का नाम ना लीजिए। अगर आप मुदरिस हैं तो हिन्दू लड़कों को फेल कीजिये। तहसीलदार हैं, तो हिन्दुओं पर टैक्स लगाइए, मजिस्ट्रेट हैं, तो हिन्दुओं को सजाएँ दीजिएँ, सब इंस्पेक्टर हैं, तो हिन्दुओं पर झूठा मुकदमा दायर कीजिए, तहकीकात करने जाइए तो हिन्दुओं के बयान गलत लिखिए।"[101]

इस प्रकार वास्तव में जो मतभेद हैं, "वह केवल शिक्षित समुदाय के अधिकार और स्वार्थ का है। ऐसी कोई सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक दुरावस्था नहीं है जिससे राष्ट्र के सभी अंग पीढ़ित न हों। दरिद्रता, बीमारी, अशिक्षा, बेकारी हिन्दू और मुसलमान का विचार नहीं करती। किस पद पर मुसलमान पहुँच गया, किस पर सिख, वह तो बिल्कुल गौण बाते हैं। लेकिन इन्हीं गौण बातों को प्रधान समझा जा रहा है और थोड़े से व्यक्तियों के हित पर राष्ट्र का बलिदान किया जा रहा है।"[102] निःसन्देह यदि हिन्दू मुसलमानों को असंतुष्ट रखकर शासन नहीं चला सकते तो यह भी मानना पड़ेगा कि मुसलमान भी हिन्दुओं को अप्रसन्न रखकर शासन नहीं चला सकते। प्रेमचन्द भाई परमानन्द के वक्तत्व का समर्थन करते हैं कि "सरकार ने भारत में साम्प्रदायिकता का बीज बो दिया है और किसी दिन इस वृक्ष का फल दोनों ही के लिए घातक सिद्ध होगा।[103]

हिन्दू-मुस्लिम दंगे

असहयोग आन्दोलन के निलम्बन के बाद कांग्रेस-खिलाफत गठबंधन टूटा, महासभा ने शुद्धि आन्दोलन चलाया और मुसलमान कुर्बानी करने लगे। ऐसे समय में प्रेमचन्द ने 'हिंसा परमो धर्मः'[104] कहानी में दोनों समुदायों के झगड़ों को उचित नाम दिया। इस समय बड़े शहरों में विशेष रूप से साम्प्रदायिक दंगों और पारस्परिक ईर्ष्या का साम्राज्य था। इस कहानी में सीधा सादा ग्रामवासी जामिद एक नगर में पहुँचकर वहाँ के निवासियों की धर्मपरायणता से बहुत प्रभावित होता है। इस नगर में कई भव्य मन्दिर और मस्जिद हैं। लेकिन शीघ्र ही उसका परिचय उनकी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से होता है। अन्ततः वह यह महसूस करता है कि शहर के हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए हिंसा ही परम (सर्वोत्तम) धर्म है। एक मन्दिर में जामिद का सम्मान कर उसकी शुद्धि की जाती है। दूसरी ओर मुसलमान जबरदस्ती हिन्दू स्त्रियों का निकाह मुसलमान से करा देते हैं। जामिद स्वयं एक काज़ी को ऐसा करते देखता है। इस प्रकार मौलवी और पुजारी एक ओर दंगों को प्रोत्साहन देते हैं, वहीं धर्म को कलंकित भी करते हैं।

1923-27 में हिन्दू-मुस्लिम दोनों प्रकार के दंगों और साम्प्रदायवाद में जैसी वृद्धि हुई, वैसी कभी नहीं हुई थी। यह इस काल की सबसे गंभीर, स्थायी और नकारात्मक प्रवृत्ति थी। इस समय संयुक्त प्रांत सर्वाधिक दंगा प्रभावित प्रांत था।[105] इन परिस्थितियों में एकता का वह भवन धाराशाही हो गया, जिसकी नींव असहयोग आन्दोलन ने रखी थी और साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़ आ गई। "यद्यपि दंगों का कारण धार्मिक था, लेकिन वास्तव में स्वार्थी नेताओं ने जनता की भावना को उभारा था।"[106] "मुहर्रम हो या ईद, होली हो या दशहरा, दंगे हो ही जाते हैं। इन त्योहारों के आने से आनन्द की जगह चिन्ता और भय का सामना होता है और अगर त्योहार खैरियत से बीत जाय तो हम खुशी की साँस लेते हैं। नौबत यहाँ तक पहुँच गई है कि त्योहारों में दंगों का न होना अचरज की बात है। कहीं इसलिए लड़ाई हो जाती है कि हिन्दू लड़के की पिचकारी से किसी मुसलमान के कपड़ों पर छींट पड़ गई और उसके दीन में दाग लग गया। कहीं इसलिए कि ताजिया एक खास रास्ते से जाएगा, या फलाँ ताजिये से आगे जाएगा। ऐसी-ऐसी बातों पर लाठियाँ-छुरियाँ चल जाती हैं। और पुश्तों से जो भाईचारा चला आ रहा है उसका गला घोंट दिया जाता है। ऐसे अवसरों पर पढ़े-लिखे लोग नेतागिरी करने निकल आते हैं। चाहे जिन्दगी में एक बार भी नमाज़ न पढ़ी हो या मन्दिर में न गए हों, न अपने स्वजातियों से हमदर्दी की हो, मगर ऐसे मौके पर शहादत का यश लूटने के लिए कूद पड़ते हैं।"[107]

प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' (अप्रैल 1924-सितम्बर 1925) उपन्यास में आगरा के साम्प्रदायिक दंगों का वर्णन किया है, जहाँ आम जनता की साम्प्रदायिक भावनाओं को प्रोत्साहित किया जाता है। मौलवी दीन मुहम्मद आगरा के मुसलमानों को गाय की कुर्बानी के लिए प्रेरित कर उनमें धार्मिक जोश पैदा करते हैं। वहीं हिन्दू इस बात के लिए कटिबद्ध हैं कि कुर्बानी नहीं होने देंगे। इस समस्या को धार्मिक नेताओं ख्वाजा महमूद और मुंशी यशोदानन्दन जटिल बनाते हुए जनता को हिंसा के मार्ग पर ले जाते हैं। परिणामस्वरूप सम्प्रदायिक दंगे होते हैं। प्रेमचन्द इस सत्य को भलीभांति जानते थे कि 'कुर्बानी' में गाय के लिए झगड़ा नहीं होता है, यह दोनों के अन्दर एक तरह की कुरेदन रहती है, उसी में पड़कर झगड़ा होता है।"[108] और यह 'कुरेदन' है 'पारस्परिक अविश्वास भावना' की। हिन्दू सोचते हैं कि मुसलमान उन पर राज करने का स्वप्न देख रहे हैं और मुसलमान सोचते हैं कि हिन्दू पुरानी दुश्मनी का बदला लेंगे और अधिकर मिलने पर उन्हें पूरी तरह तबाह कर देंगे।[109] प्रेमचन्द यह मानते हैं कि "ऐतिहासिक रूप से दोनों सम्प्रदायों को अविश्वास और घृणा ने आपस में बाँट रखा है।"[110] 1924 में उन्होंने एक लेख लिखा, "यह दरार (हिन्दू मुस्लिम मतभेद) मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दुओं पर घोर अत्याचारों के कारण आई। साम्प्रदायिक दंगों के लिए मुसलमान अधिक दोषी है। वह कुर्बानी को लेकर धार्मिक भावनाओं को उभारते हैं। वह अपनी पुरानी प्रभुता को अभी भी याद कर हिन्दुओं को दबाने का प्रयास करते हैं।"[111] उन्होंने शुद्धि गतिविधियों की अवहेलना नहीं की और मुसलमानों के तबलीग को ज्यादा ज्यादती करने का दोषी ठहराया।

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने लिखा है, "आगरे के हिन्दुओं और मुसलमानों में आए दिन जूतियाँ चलती रहती हैं। ज़रा ज़रा सी बात पर दोनों दलों के सिरफिरे जमा हो जाते हैं और दो-चार के अंग भंग हो जाते। कहीं बनिए ने डंडी मार दी और मुसलमान ने उसकी दुकान पर धावा बोल दिया, कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घड़ा छू दिया और मुहल्ले में फौजदारी हो गई। निज के रगड़े झगड़े साम्प्रदायिक संग्राम क्षेत्र में खींच लाए जाते थे। दोनों ही दल मजहब के नशे में चूर थे।"[112] "हिन्दू 'महावीर दल' का गठन करते हैं और मुसलमान 'अलीगोल' का। दोनों दलों के नेता ख्वाजा महमूद और मुंशी यशोदानन्द नित्य जिलाधीश की सेवा में उपस्थित होकर अपनी राजभक्ति का राग अलापते हैं।"[113] हिन्दू-मुसलमानों का यह तनाव आगे चल कर भयंकर दंगे का रूप ले लेता है। होली के दिन एक मुसलमान के कपड़ों पर रंग पड़ जाने से मुसलमान, हिन्दुओं के खून के प्यासे हो जाते हैं। वह मुंशी यशोदानन्द की हत्या कर, उनके घर में आग लगा देते हैं।[114] "वास्तव में हिन्दू मोहल्लों में मुसलमान जिस नृशंसता का परिचय देते हैं, मुसलमान मोहल्लों में हिन्दू उनसे

अधिक अमानुषिक व्यवहार करते हैं। इस प्रकार 'कायाकल्प' में तत्कालीन साम्प्रदायिक दंगों का यथार्थ चित्र उभर कर आया है।"[115]

इसी प्रकार 'मन्दिर और मस्जिद'[116] कहानी में पूजा और उपासना के स्थल मंदिर और मस्जिद युद्ध भूमि में परिणित हो जाते। इसमें मुसलमानों का एक दल कृष्ण जन्माष्टमी के दिन ठाकुरद्वार पर एकत्र हुए हिन्दुओं पर आक्रमण करता है। एक वर्ष बाद पुनः जन्माष्टमी आने पर हिन्दू इस हार का प्रतिकार लेने का निर्णय करते हैं। अतः एक जुलूस बाजों की तीव्र ध्वनि के साथ मस्जिद के सामने से निकाला जाता है, जिस पर मुसलमान आपत्ति करते हैं। परिणामस्वरूप इस वर्ष मस्जिद रणक्षेत्र में परिवर्तित हो जाती है। निःसंदेह दोनों में साम्प्रदायिक सहनशीलता का अभाव दिखाई देता है। मंदिरों के आगे बाजे बजाने के अतिरिक्त गौहत्या के मुद्दे पर भी तत्काल दंगे भड़क जाते हैं। गौकुशी के सम्बन्ध में प्रेमचन्द लिखते हैं कि "हमको अधिकार है कि जिस जानवर को चाहे पवित्र समझें, लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को मानने वाले भी उसे वैसा ही पवित्र समझें, ख़ामख़ाह में दूसरों से सर टकराना है। गाय सारी दुनियाँ में खाई जाती है, इसके लिए क्या आप सारी दुनियाँ को गर्दन से मार देने के काबिल समझेंगे।"[117] "जब हम देखते हैं कि बैलों के लिए चारा मयस्सर नहीं तो गायों के लिए चारा इकट्ठा करने की दिक्कत किसी किसान से पूछिए। वह गायों को भूख से एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर मरने के बदले उन्हें कसाई के हवाले कर देना ज्यादा अच्छा समझता है।"[118] वास्तव में गाय कितनी ही पवित्र हो, लेकिन वह मनुष्य की तुलना नहीं कर सकती। 29 मई 1924 के 'यंग इंडिया' में गांधी ने एक बात कही, जिसकी आज भी प्रासंगिकता है, कि "गाय की जान बचाने के लिए मनुष्य की जान लेना बर्बर अपराध है।"[119] इन साम्प्रदायिक दंगों के प्रभावस्वरूप "आज हिन्दू चिराग जलने के बाद मुसलमानों के मोहल्ले से सकुशल निकल जाय तो देवताओं को धन्यवाद देते हैं और शायद मुसलमान भी हिन्दुओं के साये से डरते हैं। जब राष्ट्रवाद दबता है तो भेदभाव उठता है और बारी-बारी से दोनों अवस्थाएँ अपना भोग भोगती हैं। विशेष रूप से औपनिवेशिक भारत में राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता साथ-साथ विकसित हुई। 1925-27 तक भेदभाव का प्रधान्य रहा भारत में शायद ही कोई नगर या कस्बा बचा होगा, जहाँ हिन्दू मुस्लिम दंगे न हुए हों।"[120]

प्रेमचन्द द्वारा साम्प्रदायिक सामंजस्य का प्रयास

तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से हिन्दू और मुसलमानों की एकता आवश्यक थी। प्रेमचन्द भारत की स्वाधीनता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में हिन्दू-मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों के पारस्परिक सहयोग पर विशेष बल दिया

है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में प्रेमचन्द ने हर उस आंदोलन का समर्थन किया जो हिन्दू और मुसलमानों की एकता पर बल देते थे। जब कि दूसरी ओर राष्ट्रीय आंदोलन में बाधक सभी प्रतिक्रियावादी आंदोलनों का विरोध किया। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में साम्प्रदायिक नेताओं का नकाब हटाने के साथ ही यह भी बताया है कि "इस वैमनस्य में मुल्लाओं और पुरोहितों की भूमिका कहीं भी गौण नहीं रही। अशिक्षित जनता इनके पीछे चलती है, शिक्षित जनता पर भी उसका मंत्र आसानी से चल जाता है।"[121] उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया, क्योंकि वह जानते थे कि साम्प्रदायिकता सरकार का सबसे बड़ा अस्त्र है और वह आखिर दम तक इसे हाथ से नहीं छोड़ेंगे।[122] अतः साम्राज्यवादी सरकार के विरुद्ध इनकी एकता अनिवार्य है।

1921 में जब भारत ने किसी भयानक तनाव को देखा भी नहीं था तब प्रेमचन्द ने अनुभव किया कि "हिन्दू मुस्लिम एकता का मसला निहायत नाज़ुक है और अगर पूरी एहतियात और धीरज और जब्त और रवादारी से काम न लिया गया तो यह स्वराज्य के आन्दोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट सिद्ध होगा।"[123] प्रेमचन्द का यह अनुमान अक्षरतः सही साबित हुआ।

1920-22 का काल असहयोग और खिलाफत आन्दोलन का काल था। 1857 के बाद पहली बार हिन्दू-मुसलमान पूरी एकता और मैत्री के साथ अंग्रेज शासकों का मुकाबला कर रहे थे। लेकिन इस आन्दोलन के निलम्बन के बाद अंग्रेज शासकों के उकसाने पर हिन्दू संगठन, शुद्धि आन्दोलन और तबलीग ने सिर उठाया। अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रेमचन्द देश को आगाह करते हैं कि "जब तक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठाने वाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय नहीं होगा। भारत गरीब है, यहाँ ऐसे आदमियों की कभी कमी न रहेगी जो पेट के लिए अपने भाइयों का गला काटने को तैयार रहें।"[124] अंग्रेजी शासन के पहले ऐसी हालत नहीं थी, "किसी पुरानी बस्ती को देखिए, हिन्दुओं और मुसलमानों की दीवारें मिली हुई हैं। गाँव-गाँव में मकतब और मदरसे होते थे, अक्सर मौलवी साहब लड़कों को पढ़ाया करते थे। सैयद सालार मसूद गाज़ी की मज़ार पर और शोक मातम के मौके पर हिन्दू-मुसलमान शरीक होते थे और होली के उत्सव में भी। मुसलमान हिन्दुओं के शादी ब्याह में भी इस भाईचारे का निबाह किया जाता था।"[125] प्रेमचन्द की यह विशेषता थी कि उन्होंने जिन समस्याओं को अपनी रचनाओं और लेखों के माध्यम से उठाया उनका समाधान देने का भी प्रयास किया। उनके अनुसार अगर इसका कोई उपाय है तो यह है कि साम्प्रदायिकता और उसकी पोषक शक्तियों अर्थात् सरकार और विभिन्न सम्प्रदायों के धार्मिक संगठनों का संयुक्त हिन्दू-मुस्लिम

राष्ट्रीयता से सामना किया जाय। सरकार के पास मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए जितने साधन हैं, वह थोड़े दिन में समाप्त हो जाएँगे।

1920-22 के आन्दोलन के दौरान हिन्दू-मुस्लिम एकता से प्रेमचन्द काफी प्रसन्न थे।[126] लेकिन 1924 तक साम्प्रदायिक संगठनों ने इस एकता का स्वरूप बिल्कुल बदल दिया था। एक ओर स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू-मुस्लिम इतिहास की कहानी' में हिन्दू और मुसलमानों के आपस के झगड़े की मुख्तसर तारीख इतिहास लिखी है। इसकी समीक्षा करते हुए प्रेमचन्द ने 1924 में लिखा है कि "साम्प्रदायिक और जातिगत झगड़े हमेशा होते ही रहते हैं। हिन्दुओं की बौद्धों और जैनियों से खूब लड़ाइयाँ हुईं। मुसलमानों की बौद्धों से बौद्धों की बौद्धों से, हिन्दुओं की हिन्दुओं से। मगर कोशिश यह होनी चाहिए कि हम उन झगड़ों को भूल जाएँ, न कि गड़े मुर्दे उखाड़-उखाड़ कर विरोधी (दल) की आग को भड़काते रहें।"[127] इसी प्रकार 1933 में चतुरसेन शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'इस्लाम का विषवृक्ष' में मुसलमान शासकों द्वारा हिन्दुओं पर हुए अत्याचारों का विवरण देकर कट्टरवादी हिन्दुओं के दिलों में मुसलमानों के प्रति घृणा पैदा करने का काम किया।[128] अमृतराय के अनुसार, "मुंशी प्रेमचन्द को जब इस पुस्तक के प्रकाशन की सूचना मिली तो उन्हें किसी करवट चैन नहीं पड़ रहा था।"[129] 17 जुलाई 1933 में उन्होंने जैनेन्द्र कुमार को एक पत्र में लिखा।

"इन चतुरसेन को क्या हो गया है कि 'इस्लाम का विषवृक्ष' लिख डाला। इसकी एक समीक्षा तुम लिखो और किताब मेरे पास भेजो इस कम्युनल प्रोपेगण्डा का जोरों से मुकाबला करना होगा और यह श्रषभ भले आदमी भी इन चालों से धन कमाना चाहते हैं।"[130]

इस संदर्भ में उन्होंने बनारसीदास चतुर्वेदी को दूसरा पत्र लिखाः

"साम्प्रदायिकता फैलाने की एक बेहद शरारत भरी और नीच कोशिश है और उसका पर्दाफाश करना ही होगा। किताब पढ़ने के बाद मैं खुद उसके बारे में लिखने की सोच रहा था और जबकि आपने इस मामले को उठा लिया है मैं दिलोजान से आप के साथ हूँ। इसकी परवाह मत कीजिए कि हम लोग अल्पमत में हैं। हमारा लक्ष्य पवित्र है।"[131] इस पुस्तक में पृष्ठ संख्या 130 पर लिखा गया है कि "मुगल बादशाह साँप पालते थे और जिस सरदार से उन्हें शंका होती थी, उसे साँप से डसवा देते थे, या जहरीले कपड़े पहना कर उसकी जीवन लीला समाप्त कर देते थे। इस संबंध में प्रेमचन्द लिखते हैं कि मान लो यह ठीक भी है तो इससे क्या? उस मध्यकाल की धार्मिक कट्टरता और एकाधिपत्य में क्या नहीं होता था? हिन्दुओं के राजा भी तो विषकन्यायें रखते थे और उनके द्वारा अपने शत्रुओं को यमराज के घर

भेज देते थे। आज उन बातों पर आक्षेप करने का क्या अर्थ है।"[132] प्रेमचन्द ने अपने पत्र 'हंस' और 'जागरण' में उसके प्रकाशन को लेकर सशक्त प्रतिरोध किया। परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक मानसिकता रखने वाला एक बड़ा वर्ग उनका विरोधी हो गया और उन्हें धमकियाँ भी दी गईं, लेकिन प्रेमचन्द ने अपनी पत्नी शिवरानी देवी से कहा कि "अगर हम साहित्यकार इन धमकियों से डर जाएंगे तो फिर दुनिया को अपने विचार दे चुके।"[133]

"प्रेमचन्द साम्प्रदायिक एकता के इतने समर्थक थे कि उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर एकता के लिए इतिहास मे फेर-बदल करने की भी सिफारिश की। एक ओर उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को अपने-अपने धर्म को बढ़ावा देने की सलाह दी, वहीं दूसरी ओर यह भी कहा कि वह (हिन्दू और मुसलमान) दूसरे समुदाय की उपस्थिति को न भूलें और न ही उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाएँ।"[134] 1923-24 में जब साम्प्रदायिकता एक गंभीर चिन्ता का विषय बना तब इसके विरोध में उन्होंने 'मनुष्यता का आकाल' नामक लेख में 'तबलीग' और 'शुद्धि' दोनों का विरोध किया है। तबलीग के बारे में वह लिखते हैं कि "इसमें दो राय नहीं हो सकती, क्योंकि हर मज़हब को इसका अधिकार है बशर्ते कि उद्देश्य सच्चे अर्थों में धर्म के संस्कारों और सिद्धान्तों का प्रचार हो। तात्पर्य यह है कि धर्म प्रचार के पीछे कोई राजनीतिक उद्देश्य न हो।" "सब कुछ अपने लिए और दूसरों के लिए कुछ नहीं।" जिस दिन आपस की यह होड़ और दूसरों से आगे बढ़ जाने का ख्याल धर्म से दूर हो जाएगा उस दिन धर्म परिवर्तन पर किसी के कान न खड़े होंगे। हिन्दुओं में इस वक्त सहिष्णु नेताओं का अकाल है। हमारा नेता वह होना चाहिए जो गम्भीरता से हमारी समस्याओं पर विचार करे। मगर होता यह है कि उसकी जगह शोर मचाने वालों के हिस्से में आ जाती है जो अपनी जोरदार आवाज़ से जनता की छुपी हुई भावनाओं को उभार कर उन पर अपना अधिकार जमा लिया करते हैं। वह कौम जो दरगुजर (क्षमा) करना नहीं सीखता, लड़ना सीखता है, उसका फायदा इसी में है। कोई आदमी ऐसी उल्टी बुद्धि का नहीं हो सकता कि उसे इस नाजुक मौके पर दोनों समुदायों की आपसी खींचतान के नतीजे न दिखाई दें और अगर हैं तो हमें उसकी नियत में संदेह है। इस संदेह की पुष्टि इस कारण से और भी होती है कि इस आंदोलन के प्रवर्तक और कार्यकर्ता अधिकतर वह लोग हैं जो राजनीतिक मामलों में हिस्सा लेने से कावा काटते रहते हैं या उसमें हिस्सा लेते भी हैं तो आबरू बचाए हुए। वरना हिन्दू संगठन के बनारस में आयोजित जलसे में ज़मींदारों और राजाओं की इतनी बड़ी संख्या न दिखाई देती। जिधर देखिए राजे-महाराजे और सेठ महाजन ही आते थे। उनके पीछे चलने वालों में अधिकतर वह लोग थे जिनका पुश्तैनी पेशा गुलामी है, जिन्हें शुरू से यह शिकायत

है कि मुसलमान सरकारी नौकरियाँ हड़प कर जाते हैं और हमारा हाल पूछने वाला कोई नहीं है, जिनके लिए एक मुसलमान सब इंसपैक्टर या कुर्क अमीन की नियुक्ति चीन के इन्कलाब (क्रान्ति) या तुर्की से ज्यादा बड़ी घटना है। 'आज कौन हिन्दू है जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जी जान से काम कर रहा हो, जो इसे हिन्दुस्तान की सबसे अहम समस्या समझता हो, जो स्वराज्य के लिए एकता को बुनियादी शर्त मानता हो। उनका यह दर्द, यह टीस, यह तड़प हिन्दुओं में कहीं दिखाई नहीं देती।"[135]

"हम शुद्धि के समर्थकों से पूछते हैं कि हिन्दुओं को शक्तिशाली बनाने का यही उपाय है? उनको क्यों नहीं अपनाते जिनके अपनाने से हिन्दू कौम को असली कुव्वत (ताकत) हासिल होगी। करोड़ों अछूत ईसाइयों के दामन में पनाह लेते चले जाते हैं, उन्हें क्यों नहीं गले लगाते? फिर भी क्या खबर है कि जिन मुसलमानों को पाक करने के लिए आप सारी कौम को तबाही की तरफ लिए जा रहे हैं, वह हमेशा हिन्दू दामन से बँधे रहेंगे? कम-से-कम विगत अनुभव तो इसकी गवाही नहीं देता और समाज में जितनी तरह की शुद्धियाँ कीं, हर मौके पर धोखा खाया।"[136] प्रेमचन्द यह स्वीकार करते हैं कि "धर्म परिवर्तन के मामले में ज्यादती मुसलमानों ने की मगर हम यह कहना चाहते हैं कि हिन्दुओं को इससे कहीं ज्यादा राजनीतिक सहिष्णुता से काम लेने की जरूरत है।"[137] क्योंकि वह बहुसंख्यक हैं। "उन्हें पहले हाथ बढ़ाना होगा। वह संख्या में, धन में, शिक्षा में मुसलमानों से बढ़े हुए हैं, मुसलमान अल्पसंख्यक हैं, अतः उन्हें यह शक हो जाता है कि हिन्दू संगठित होकर उनको हानि पहुँचा सकते हैं। हिन्दुओं के लिए ऐसी शंका करने का कोई कारण नहीं है।"[138] "अगर अब भी कुछ मुसलमान हमारा साथ दे रहे हैं, तो वह महात्मा गांधी के विश्वास पर। सात करोड़ मुसलमान अपने को तैइस करोड़ हिन्दुओं के हाथों में सौंप देते हैं, क्या यह छोटी बात है?"[139]

जहाँ तक धार्मिक अपमान का प्रश्न है, प्रेमचन्द लिखते हैं "इसमें कौन सी शान घट जाती है, अगर हम बाजे बजाते हुए किसी बड़ी मस्जिद के सामने से गुजरते तो एक क्षण के लिए बाजे बन्द कर दें, अगर मुसलमान बाजे बजाते हुए मन्दिर के समाने से आते हैं तो जाने दो। आपकी सहृदयता उन्हें स्वयं लज्जित करके आपके धर्म का आदर करने को बाध्य करेगी।"[140] वैसे भी यह स्वाभाविक माँग है कि उपासना में बाधा पड़ती है और अगर मुसलमान इसे बंद करने पर जोर देते हैं तो हिन्दुओं को चाहिए कि वह उसे स्वीकार करें। "यह तो हिन्दुओं का उनके आग्रह के बिना भी, भगवान के प्रति सम्मान की दृष्टि से ही कर्तव्य है प्रति उत्तर में हिन्दू कहेंगे कि हमारे मंदिरों के सामने से मुसलमानों के जुलूस भी बाजे बजाते न निकलें। व्यवहारिक दृष्टि से यह माँग सम्भव नहीं है, क्योंकि शहरों में मंदिरों की संख्या बहुत है और फिर हिन्दुओं के संध्या हवन तो एकांत में होती है, लेकिन देवताओं की पूजा अक्सर घंटों

के साथ होती है जब उपासना एक ही परमात्मा की है तो हिन्दू क्यों इसकी राह देखें कि जब मुसलमान हमारे धर्म का आदर करेंगे तो हम भी उनके धर्म का आदर करेंगे। अगर धर्म का आदर करना अच्छा है तो हर हालत में अच्छा है। इसके लिए किसी शर्त को जरूरत नहीं।"[141] "अतः कोई मजहब कोई मुआशरत (सभ्यता) कोई इबादत (पूजा) किसी दूसरे पर फजीलत (श्रेष्ठता) नहीं रखती। जब तक इसे समझा नहीं जाएगा, उस वक्त तक मुल्क में सुकून न होगा।"[142]

इसी निर्भीकता के साथ प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में मुस्लिम सम्प्रदायिकता की आलोचना की है। उनकी कहानी 'मंदिर-मस्जिद' उर्दू में प्रकाशित हुई तो मुस्लिम अख़बारों ने शोर मचाया कि प्रेमचन्द ने मुसलमान मौलवियों का मजाक उड़ाया है। प्रेमचन्द्र इसका जिक्र करते हुए दयानारायण निगम को लिखते हैं। "इस रचना (कहानी) में शिकायत का क्या मौका है। बिना किसी रू-रियायत के एक तरफ हिन्दू पंडितों और पुजारियों की धर्म रक्षा का नज़ारा है, दूसरी तरफ मौलवियों की मज़हब परवरी का। दोनों धर्म के पर्दे में अपनी-अपनी विषय लोलुपता के शिकार हैं। अगर कुछ लोगों को बुरा लगता है तो मेरा क्या बस है?"[143] 1927 में तत्कालीन सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने 'बड़े बाबू' नाम से एक कहानी लिखी। इसमें बड़े बाबू नौकरी चाहने वाले युवकों को सलाह देते हैं, 'स्वामी श्रद्धानन्द' की सेवा में जाकर शुद्धि पर आयादगी जाहिर कीजिए फिर देखिए आपकी कितनी खातिर तवाजह होती है। आप इसके बाद इस्लाम के विरोध में एक दो लेख या लेख माला किसी हिन्दू पत्रिका में लिख देंगे तो अपनी जिन्दगी और आर्थिक समस्या का हल हो जाएगा। इससे भी एक आसान नुस्खा है। तबलीगी मिशन में शरीक हो जाइए। किसी हिन्दू औरत विशेष रूप से विधवा पर आसक्त होइए। आप उसके अंधकार जीवन में मशाल साबित होंगे। वह शौक से इस्लाम कबूल कर लेगी। आप शहीदों में दाखिल हो गए। आप भूलकर भी अपनी पेशानी की मिन्नत करो सजदा न करें कोई मजाक मुजायका नहीं आप भूलकर भी ज़कात से अपने को मलव्विस न करें, कोई मुजायका नहीं। लेकिन आपको अपने मज़हब के नाम पर फरयाद करने के लिए हमेशा पेश रहना और दूसरों को आमादा करना होगा। अगर आपके जिले में 2 डिप्टी कलेक्टर हिन्दू हैं और मुसलमान सिर्फ एक तो आपका फर्ज बनता है कि हिज एक्सीलेंसी गवर्नर की खिदमत में एक दफंद या (शिष्टमण्डल) भेजने के लिए रोएसा-ए-कौम (जाति के प्रतिष्ठित व्यक्ति) को आमादा करें इम्तिहान के नतीजों में अगर आपको मुसलमान छात्रों की तादाद मुनासिब से कम नजर आए तो आपको फौरन चांसलर के पास एक गुमनाम खत लिखकर भेजना होगा कि इस मामले में जरूर सख्ती से काम लिया गया है।"[144]

प्रेमचन्द ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया है चाहे संकीर्णतावादियों द्वारा उनकी कितनी ही तीव्र आलोचना की गई हो। इसका श्रेष्ठ उदाहरण ज्योति प्रसाद निर्मल द्वारा उन्हें ब्राह्मण विरोधी कहना है, जिसके प्रत्युत्तर में उन्होंने 1934 में हंस में एक लेख लिखा, "निर्मल की शिकायत है कि हमने अपनी तीन चौथाई कहानियों में ब्राह्मणों को काले रंगों में चित्रित करके अपनी संकीर्णता का परिचय दिया है जो हमारी रचनाओं पर अमिट कलंक है। हम कहते हैं कि अगर हममें इतनी शक्ति होती तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू जाति को पुरोहितों, पुजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़ सबसे लज्जाजनक कलंक यही टके पंथी दल है हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता की पहली शर्त है समाज में साम्य भाव का दृढ़ होना।"[145] 'निमंत्रण' कहानी में प्रेमचन्द्र ने ऐसे लोभी पुरोहितों पर व्यंग्य किया है।[146]

प्रेमचन्द ने एक समन्वित भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों की रचना की है, जो अपने शत्रुओं का एकजुट होकर सामना करते हैं और देश की प्रगति के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को तत्पर रहते हैं। 'प्रेमाश्रम' में ज्वालासिंह के कारिन्दों पर हमला करने के आरोप में गिरफ्तार बलराज और लखनपुर के दूसरे किसानों को कादिर मियाँ की कुर्बानियों से ही रिहाई मिलती है।[147] 'राजभक्त'[148] कहानी में अंग्रेज अवध के एक नवाब पर आक्रमण करते हैं, तो राजा बख्तावर सिंह अपने प्राणों को संकट में डालकर उन्हें बचाता है। 'न्याय',[149] 'परीक्षा',[150] 'वज्रपात'[151] और 'शतरंज के खिलाड़ी',[152] 'ईदगाह',[153] हिंसा परमो धर्मः,[154] 'महातीर्थ',[155] 'मन्दिर-मस्जिद',[156] 'फातिहा'[157] ऐसी कहानियाँ हैं जिनके माध्यम से दोनों समुदायों के संदेहों को दूर करने का प्रयास किया गया है। प्रेमचन्द ने विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में हिन्दू-मुस्लिम मैत्री और सामूहिक जीवन का चित्रण किया है। 'प्रेमाश्रम' का कादिर जहाँ भजन गाता है, वहीं 'मन्दिर-मस्जिद' में मियाँ चौधरी दुर्गा की पूजा करता है, गंगा में स्नान करता है और कट्टर मुसलमान होने के बावजूद हिन्दू रीति-रिवाजों का सम्मान करता है। 'मुक्तिधन' के रहमान को गाय से काफी लगाव है। इस प्रकार प्रेमचन्द यह स्पष्ट करते हैं कि यह तनाव शिक्षित समुदायों में है न कि साधारण जनता में।

1934 में प्रकाशित प्रेमचन्द के नाटक 'कर्बला'[158] के कुछ हिन्दू पात्रों को लेकर रामचन्द्र टण्डन ने प्रेमचन्द की आलोचना कर यह शंका प्रकट की कि हिन्दू पात्रों के समावेश से न हिन्दुओं को प्रसन्नता होगी, न मुसलमानों को तुष्टि। इसलिए यदि हिन्दू पात्र न लाए जाते तो कोई हानि न होती। इसके जवाब में प्रेमचन्द ने लिखा

है कि "यह ड्रामा ऐतिहासिक है और इतिहास से पता चलता है कि कर्बला के संग्राम में कुछ हिन्दू योद्धाओं ने भी हज़रत इमाम हुसैन का पक्ष लेकर प्राणोत्सर्ग किए थे। अतः उन पात्रों का बहिष्कार करना युक्ति संगत न होता। रही बात कि उनके समावेश से हिन्दू और मुसलमान, दो में से एक को भी प्रसन्नता न होगी, इसके लिए लेखक क्यों कुसूरवार ठहराया जाए? आज हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में वैमनस्य है, इसलिए संभव है कि ऐसे मिश्रित दृश्य रुचिकर न हों।"[159] यहाँ प्रेमचन्द ने अत्याचारी शाक्तियों के विरुद्ध हिन्दू-मुस्लिम के समन्वित प्रतिरोध का वर्णन तत्कालीन स्वाधीनता आन्दोलन के सन्दर्भ में किया है। जिसमें समन्वित प्रयासों से ही सफलता मिल सकती है। "हिन्दू यह कभी नहीं भूल सका कि मुसलमानों ने उस पर फतह पाई है, न मुसलमान ही यह भूल सके कि वह विजेता है और हिन्दू विजित। विजेता, विजित को हमेशा जलील और तुच्छ समझता है मगर होना यह चाहिए था कि विजेता भी पराजित हो गया (अंग्रेजों की मुगलों पर जीत) तो इसे पराजितों से हमदर्दी हो और वह मतभेद के बजाय इत्तिहाद और इत्तिफाक (एकता और मैत्री) मुँह दिखाने के लिए न हों और दोनों संगठित होकर शक्तिसम्पन्न शासक से आजादी के लिए मुकाबला करें।"[160]

पाकिस्तान के साहित्यकार सैयद सिब्त हसन के अनुसार, "प्रेमचन्द हिन्दू-मुस्लिम मतभेद को देश की आजादी के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा मानते हैं। वह अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति से बाखूबी परिचित हैं। वह जानते हैं कि धार्मिक मतभेदों से पराधीनता की बेड़ियाँ मजबूत होगीं और स्वाधीनता आन्दोलन को नुकसान पहुँचेगा। धार्मिक विद्वेष की तो उनको हवा तक न लगी थी। उस ज़माने में भी जब वह कुछ अर्से के लिए आर्य समाज से जुड़ गए थे उन्होंने आर्य समाज की उन गतिविधियों का विरोध किया जिनसे मुसलमानों की भावनाओं को आघात पहुँचने की आशंका थी। मुसलमानों की भावनाओं का वह इतना सम्मान करते थे कि हिन्दू जमींदारों, महंतों और पंडितों की तो वे बेहिचक आलोचना करते हैं, लेकिन मुसलमान जमींदारों, मौलवियों और पीरों को नज़रअन्दाज कर देते हैं। हालाँकि यह हजरत सरकार परस्ती और आवाम दुश्मनी में किसी से पीछे न थे।"[161]

प्रेमचन्द लिखते हैं कि "मैं इस्लामी सभ्यता का श्रद्धालु हूँ और हिन्दू तहज़ीब पर इस्लामी तहज़ीब का जो असर हुआ उसे भी कद्र की निगाहों से देखता हूँ। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान में दोनों तहजीबें साथ-साथ रहकर ही तरक्की कर सकती हैं और रोज-बरोज इससे हम आहंगी (अर्थात लक्ष्य और मत में एकरूपता) पैदा हो सकती है।"[162] उन्होंने साम्प्रदायिक मताधिकार जैसी सरकारी रियायतों के प्रति आम जनता को सचेत करते हुए कहा कि "हमें यह दिखाना है कि तुम चाहे हमें कितने

ही टुकड़ो मे बाँटों, हम परवाह नहीं करते। हम एक राष्ट्र हैं इस भेद नीति से हमारी राष्ट्रीयता को कुचलना संभव नहीं है।"[163] वह पृथक के परिप्रेक्ष्य में निर्वाचित हिन्दुओं की श्रेष्ठ राष्ट्रीयता का वर्णन करते हुए लिखते हैं, "अगर यह समझा जाता है कि हिन्दू अपने स्वार्थ से पृथक् निर्वाचन हटाना चाहते हैं तो उन पर अन्याय है। हिन्दू जानते हैं कि मुसलमानों से मिलने से उनकी सरासर हानि है। फिर भी वह मिलना चाहते हैं किसलिए? केवल इसलिए कि वह भारत को संयुक्त राष्ट्र बनाना चाहते हैं और उस एकता के लिए अपने को मिटा देने पर भी तैयार हैं।"[164] साथ ही वह हिन्दुओं को आगाह करते हैं कि ऐतिहासिक विद्वेषों के मुर्दे उखाड़ने वालों की कमी नहीं है, कमी है तो एकता के लिए अपने की समर्पित कर देने वालों की, एकता के लिए मिट जाने वालों की।[165]

प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक एकता का आह्वाहन करने का लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। वह एकता कि लिए, हिन्दुओं की पहल के पक्षपाती थे, क्योंकि वह बहुसंख्यक सम्प्रदाय था। उन्होंने दोनों समुदायों को एकता के लिए प्रेरित करते हुए लिखा कि "अच्छी साम्प्रदायिकता वह है, जो अपने क्षेत्र में बड़ा उपयोगी काम कर सकती है, उसकी क्यों अवहेलना की जाय। हम तो साम्प्रदायिकता को समाज का कोढ़ मानते हैं, जो हर एक संस्था में दलबन्दी कराती है और अपना छोटा सा दायरा बना कर सभी को उससे बाहर निकाल देती है।"[166] अतः साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को हमें 'इच्छा के बल से' दबाना पड़ेगा।[167] तभी एकता की सम्भावनाएँ बढ़ेंगी।

निष्कर्ष

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं के माध्यम से देश के दोनों प्रमुख समुदायों में सौहार्द की भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया। साम्प्रदायिकता के विरुद्ध उन्होंने अद्वितीय नैतिक साहस का प्रदर्शन बिना किसी भय के किया। साथ ही साम्प्रदायिक एकता के मूल्यों को कारगर अभिव्यक्ति देने का रचनात्मक प्रयास किया। प्रेमचन्द का एकता का समर्थक होना उनके पारिवारिक और सामाजिक परिवेश का परिणाम था। "उन्होंने उर्दू-फारसी के मदरसों में शिक्षा पाई। कुछ दिन मिशन स्कूल में भी पढ़े सब मिलकर उन्हें गैर-मजहबी बनाने में सहायक हुए। उन पर जब आर्य समाज का प्रभाव पड़ा, तब भी उसकी मुस्लिम विरोध की भावनाओं की उग्रता को वे अपना नहीं सके। वे उसके सामाजिक सुधार वाले पक्ष का समर्थन करते थे।"[168]

प्रेमचन्द ने दोनों समुदायों के संकीर्णतावादी दृष्टिकोण को स्वराज्य प्राप्ति के लिए उतना ही विनाशकारी माना जितना गांधी ने। गांधी ने कहा था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता ही स्वराज्य की पहली सीढ़ी है। वह इस समस्या का एक सतही समाधान देते

हैं कि अगर हमारे नेता आपस के द्वेष को भुला देंगें तो साम्प्रदायिकता जैसी समस्याओं का समाधान संभव है। प्रेमचन्द के अनुसार, "सच्ची आजादी वही है जो दूसरों की आजादी का भी कद्र करें। अगर एक जमात को अपनी मस्जिद में अज़ान देने का हक है, दूसरी जमात को अपने गिरजे में घंटी बजाने का, तो तीसरी जमात को अपने मंदिर में नाकूस (शंख) बजाने का हक क्यों न हो। हर एक जमात के लिए आजादी का एक ही मापदंड होना चाहिए।"[169] अर्थात् मतभेदों का लाभ साम्राज्यवादियों को ही मिलेगा, न कि हिन्दू अथवा मुसलमानों को और इसी वास्तविकता को प्रेमचन्द ने चित्रित करने का प्रयास किया। लेकिन तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति में ऐसा सौहार्द स्थापित करने में सबसे बड़ी बाधा रूढ़िवादी तत्व है, जो बड़ी आसानी से जनसाधारण की धार्मिक भावनाओं को भड़काते हैं। "अगर कोई हिन्दू, हिन्दूओं को समझाता है तो वह जयचंद या विभीषण कहा जाता है, कोई मुसलमान, मुसलमानों को समझाता है तो काफिर और गद्दार कहा जाता है।"[170] इस प्रकार इन झगड़ों द्वारा हम तीसरी शक्ति को यह बताना चाहते हैं कि हम गुलाम ही बने रहना चाहते हैं। जहाँ तक धर्म का सवाल है तो "निश्चित रूप से कोई भी मजहब आपस में बैर रखना नहीं सिखाता है। यह महज स्वार्थ और खुदगर्जी का सवाल है और जितनी जल्दी हम यह हकीकत समझ लेंगें, उतनी ही जल्दी हम इन नकली रहनुमाओं (रूढ़िवादियों) से परहेज करेंगे। उस वक्त अपनी कौम को निजी स्वार्थों पर कुर्बान करने वालों के लिए जिंदा रहना दुश्वार हो जाएगा।"[171]

व्यावहारिक रूप में देखा जाय तो दोनों समुदायों में कोई बुनियादी अंतर नहीं हैं, हाँ कहीं पर हिन्दू बहुसंख्यक हैं तो कहीं मुसलमान। लेकिन सामान्यतया वह जिस प्रान्त में रहते हैं वहीं की सभ्यता और संस्कृति को आत्मसात् करते हैं। "एक उत्तर भारतीय हिन्दू के लिए मदरासी भाषा उतनी ही अपरिचित होगी, जितनी एक उत्तर भारतीय मुसलमान के लिए। इसी प्रकार वेषभूषा या पहनावे के आधार पर भी इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। "जहाँ तक आन्तरिक भिन्नता का प्रश्न है वहाँ तो यह अन्तर बहुत ही कम है, दोनों ही धार्मिक, भाग्यवादी और शान्तिप्रिय हैं।"[172] इस प्रकार आज विश्व में मात्र एक ही संस्कृति है और वह है आर्थिक। इसी आर्थिक संस्कृति ने दोनों समुदायों को प्रेरित किया। प्रेमचन्द ने इसी वर्ग और अर्थ (धन) के प्रतिरोधों को तोड़कर एक समान समाज की स्थापना का प्रयास किया। भारतीय हिन्दुओं और मुसलमानों की बुनियादी माँगों में समानता थी अर्थात् दोनों ही अपने आर्थिक कष्टों का समाधान चाहते थे, न कि राजनीति में फँसकर मात्र उच्च वर्गों के स्वार्थों को पूरा करने का साधन बनना चाहते थे। दोनों ही साम्प्रदायिक संस्थाएँ मध्यवर्ग के धनिकों, ज़मींदारों, ओहदेदारों और पदलोलुपों की है। उनका कार्य क्षेत्र

अपने समुदाय के लिए ऐसे अवसर प्राप्त करना है जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक और व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें।[173] इस प्रकार जहाँ उच्च वर्ग पदों और उपाधियों के लिए और मध्य वर्ग एक प्रतिष्ठित सामाजिक स्थिति प्राप्त करने के लिए वैमनस्य को बढ़ावा दे रहा था। वहीं सामान्य जनता में आरती, नमाज़, कुर्बानी, हिन्दू-उर्दू विवाद आदि समस्याएँ नहीं हैं। उन्हें तो मात्र ऐसे साधनों की आवश्यकता है जो उनकी आर्थिक समस्याओं का समाधान कर सकें।

निःसंदेह प्रेमचन्द द्वारा हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रयासों में वास्तविकता थी। इस तथ्य की उन्हें जानकारी नहीं थी कि मूलतः किन तत्वों ने उन्हें बाँट रखा है। वह तो इस बात को भी मानने से इनकार करते थे कि यह दोनों सम्प्रदाय अलग-अलग है। लेकिन 1923-27 के दंगों ने उन्हें यह मानने पर विवश किया कि "हिन्दू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न रहेंगे और न होने चाहिए। दोनों की अलग अलग सूरतें बनी रहनी चाहिए और बनी रहेंगी। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि उनके नेताओं में परस्पर सहिष्णुता की भावना हो।"[174] इस समय तक वह यह मान गए थे कि दोनों सम्प्रदायों का एक पृथक अस्तित्व है और हिन्दू एवं मुसलमान दो भिन्न धार्मिक इकाइयाँ हैं। गांधी का यह विश्वास था कि "अगर भारतीय मुसलमान अलग होने को दृढ़ संकल्प है तो कोई भी शक्ति उन्हें अलग होने से रोक नहीं सकती।"[175] "उन्होंने कहा मुझे ऐसा अहिंसक तरीका मालूम नहीं जिसके जरिये नौ करोड़ मुसलमानों को भारत के शेष लोगों की इच्छा मानने को बाध्य किया जा सके, चाहे अन्य लोग बहुत बड़ी तादाद में ही क्यों न हो। मुसलमानों को आत्मनिर्णय का वही स्थान मिलना चाहिए, जो शेष भारत का।"[176]

हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों पर प्रेमचन्द ने समान रूप से प्रहार किए हैं। फिर भी उन्हें यह शंका थी कि उन्होंने अपनी रचनाओं में मुसलमानों पर अधिक प्रहार किए। इस संबंध में उन्होंने लिखा, "बहुत मुमकिन है कि हिन्दू होने के कारण मैंने मुसलमान भाइयों के साथ कुछ बेइन्साफी की हो, लेकिन मेरा ख्याल है कि मैं तंग नजर हिन्दू नहीं हूँ और जो कुछ मैंने लिखा है वह सत्यता के इज़हार के ख्याल ही से लिखा है।"[177] उनकी रचनाओं का सार यही है कि भारत एक राष्ट्र के रूप में ही अपने अस्वित्व को कायम रख सकता है। इस संदर्भ में सैय्यद एहतेशाम हुसैन का कहना सही है कि "जब अंग्रेजी साम्राज्य की अगुआई में हिन्दू और मुसलमान, मध्य एवं उच्च वर्ग के लोग अलग-अलग अपने राजनीतिक संगठन बनाकर आवाम को भी टुकड़ों में बाँटने की कोशिश कर रहे थे। उस समय संगठित राष्ट्र हिन्दू-मुस्लिम एकता और धर्मनिरपेक्ष जनवाद की आवाज बुलन्द करना प्रगति की ओर एक बड़ा कदम था। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में भारत की इसी आत्मा को वर्णित

किया, जो विभिन्न समुदायों में बँटी होने के बावजूद एक है, प्रेमचन्द धर्म के विरुद्ध नहीं थे, लेकिन साम्प्रदायिक तत्वों के दुश्मन जरूर थे। वह उन धार्मिक परम्पराओं और संस्थाओं का मजाक उड़ाते थे, जिनमें आपसी मतभेद का प्रभुत्व था।"[178] साम्प्रदायिकता के संबंध में प्रेमचन्द में कुछ वैचारिक अंतर्विरोध थे। वह साम्प्रदायिकता का कारण धर्म को नहीं वरन् आम जनता के बीच राजनीतिकरण के अभाव को मानते थे। 'हमारा दृढ़संकल्प है कि ज्यों-ज्यों हमारा राजनीतिक विकास होगा, साम्प्रदायिकता मिटती जाएगी और आर्थिक समस्याएँ उसका स्थान लेती जाएँगीं। कल की लड़ाई आर्थिक होगी।'[178.1]

हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थन होने के बावजूद यह तथ्य उल्लेखनीय है कि स्वयं प्रेमचन्द भी अपने 'हिन्दू' होने से पूरी तरह उबर नहीं पाए थे—उनके अन्दर कहीं हिन्दुत्व की छाप थी—जो सामान्य अवसरों पर तो उदारता के आवरण में छिपी रहती थी, पर बौखलाहट की स्थिति में प्रकट हो जाती थी। इसके कुछ उदाहरण उनके ही लेखों में मिलते हैं—

29 मई 1933 में 'अलवर नरेश' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने लिखा "फिर भी हम अलवेन्द्र के साथ सरकारी व्यवहार को हिन्दू नरेशों पर कुठाराधात समझते हैं। यह भी संभव है कि अलवेन्द्र को यह अनुभव हो जाएगा कि हिन्दुओं के हितों की हत्या कर उन्होंने अपने राज्य को मुस्लिम राज्य बनाने का जो पाप किया था, उसका प्रायश्चित सामने आ गया।[179]

7 जनवरी 1934 में उन्होंने लिखा "हम कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए हैं और अभी तक उस संस्कार को न मिटा सकने के कारण, किसी कायस्थ को चोरी करते या रिश्वत लेते देखकर लज्जित होते हैं।"[180] वह हिन्दुओं को सादगी और उदारता का प्रतीक मानते हैं जबकि मुसलमानों में यह भावना नहीं है। उनके अनुसार मुसलमान होने के लिए मांसाहारी होना पर्याप्त है। बच्चों की एक कहानी 'कुत्ते की कहानी' में उनका एक पात्र डफाली है जिसका कुत्ता जकिया इसलिए भाग्यशाली है क्योंकि उसका मालिक मांसाहारी है और उसे रोज़ना मांस मयस्सर हो जाता है। 'मगर भाई जकिया पक्का मुसलमान था रोज़ मांस खाता था।' यहाँ उनके हिन्दू संस्कार परिलक्षित होते हैं। वहीं प्रेमचन्द पंडितजी के कुत्ते के लिए लिखते हैं कि 'चूहों को खिला-खिलाकर जान से मार डालता था, पर खाता न था।'[180.1] इसके बावजूद प्रेमचन्द के लेखन में धर्मनिरपेक्ष मूल्यों और राष्ट्रवादी चेतना को जागृत् करने की प्रेरणा मिलती है।

तत्कालीन साम्प्रदायिक वातावरण विशेष रूप से असहयोग आन्दोलन के बाद जब मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं ने कुर्बानी के अपने अधिकार को इस्तेमाल करना

शुरू किया, तब हिन्दुओं ने शुद्धि आन्दोलन और हिन्दू संगठन बनाने पर बल दिया। "प्रेमचन्द ने दोनों प्रकृतियों से संघर्ष किया, क्योंकि इनसे राष्ट्रीय एकता खण्डित होती थी और वह जीवन भर इससे संघर्ष करते रहे। उस युग में साम्प्रदायिकता की भावना इतनी प्रबल थी कि निराला (राम की शक्ति पूजा) और रामचन्द्र शुक्ल जैसे समर्थ चिन्तक साहित्यकार भी इससे नहीं बच पाए थे। अकेले प्रेमचन्द ने साहसपूर्वक इस घृणित मनोवृत्ति से संघर्ष का झण्डा उठाया।[181]

निःसंदेह साम्प्रदायिकता के बारे में उनकी समझ और उसका विरोध अतुलनीय था। साम्प्रदायिकता एक बहुत ही नाजुक समस्या थी जिस पर प्रेमचन्द के अतिरिक्त अधिकतर स्वातंत्रेन्तर साहित्यकारों ने विशेष महत्व नहीं दिया। यहाँ तक कि राष्ट्र कवि मैथलीशरण गुप्त की विश्वविख्यात पुस्तक 'भारत-भारती' में कई जगह इस्लाम की आलोचना की गई है। यह एक कटु सत्य है कि हमारा जो राष्ट्रीय चेतना का साहित्य है उसका प्रमुख विषय अंग्रेजी हकूमत का विरोध करना नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुस्लिम विरोधी है। उसकी राष्ट्रीयता समन्वित राष्ट्रीयता नहीं बल्कि मूलतः हिन्दू पुनरुत्थानवादी है। ऐसे में प्रेमचन्द अपनी महानता से भी महान हो जाते हैं। वास्तव में प्रेमचन्द अकेले ऐसे हिन्दी के रचनाकार हैं जिनके पास समाज को बदलने और विकसित करने की एक विराट समग्र दृष्टि थी। साम्प्रदायिक वैमनस्य पर वह अग्रगामी विचार रखते थे। भारत की आजादी के लिए वह हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रबल समर्थन करते थे, क्योंकि उनका मानना था कि एकता के बिना स्वतंत्रता संभव नहीं है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गीतान्जली पान्डे, 'बिटवीन टू वर्ल्ड-एन इन्टेलैक्चुअल बायोग्राफी ऑफ प्रेमचन्द', पृ. 184.
2. राजकुमार शर्मा, 'आनन्द प्रकाश का लेख, शीर्षक', "सामाजिक समस्याएँ और प्रेमचन्द की विचार दृष्टि", पृष्ठ 74.
3. कमर रईस, 'प्रेमचन्द की विचार यात्रा', पृ. 34.
4. रचनावली, भाग-18, पृ: 393.
5. कमर रईस, पृ. 34-35.
6. "1868 की यह घटना भारत के सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण मोड़ थी। बताया जाता है कि सर सैयद अहमद के विचारों में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन 'बनारस गजट' और उसके सरपरस्त बाबू शिवप्रसाद के विचारों की प्रतिक्रिया थी।" रईस पृ. 35.
7. 'रचनावली', खण्ड-18, पृ. 395. 'जहाँ अस्सी प्रतिशत आबादी हिन्दुओं की हो वहाँ उर्दू को अदालती भाषा बनाना अन्यायपूर्ण था, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों की जनता इससे अभिनज्ञ थी।'

8. रईस, पृ. 35.
9. रचनावली, भाग-18, पृ. 397.
10. रघुराज गुप्ता, 'हिन्दू-मुस्लिम रिलेशन', पृ. 21.
11. रईस, पृ. 35-36.
12. वही, पृ. 36.
12.1 'जमाना', दिसम्बर 1933 में प्रकाशित प्रेमचन्द का लेख.
13. दयाराम निगम, 'मुंशी प्रेमचन्द : शख़्सियत और कारनामे', पृ. 36.
14. रचनावली, भाग-7, पृ. 263.
15. रघुराज, पृ. 14-15.
16. वही, पृ. 16.
17. वही पृ. 17.
18. वही पृ. 19-20.
19. रघुराज, पृ. 121.
19.1 डब्लू. सी. स्मिथ, 'माडर्न इस्लाम इन इण्डिया', पृ. 221.
20. के. डेविस, 'पॉपुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', पृ. 226.
21. वहीं पृ. 22.
22. रचनावली, भाग-8, 'साम्प्रदायिक समस्या का राष्ट्रीय समन्वय', प्रेमचन्द का लेख.
23. बिपिन चन्द्रा, 'भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष', पृ. 321.
24. रचनावली, भाग-18, पृ. 393-94.
25. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. जे. एल. नेहरू', भाग-6, पृ. 166.
26. रचनावली, भाग-9, पृ. 241 15 फरवरी 1934 में 'जागरण' में प्रकाशित लेख.
27. रचनावली, भाग-7, पृ. 288. सितम्बर 1924 में हिन्दी साप्ताहिक 'प्रताप' (कानपुर) में प्रकाशित लेख, 'हिन्दू मुस्लिम प्रश्न'.
28. सुमित सरकार, 'आधुनिक भारत', पृ. 271.
29. रचनावली, भाग-8, पृ. 429, 11 सितम्बर 1933 में 'जागरण' में प्रकाशित 'कुरान में धार्मिक एक्य का तत्व'.
30. रचनावली, भाग-7, पृ. 281 फरवरी 1924 में उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना' में प्रकाशित लेख 'कहतुरिजाल' हिन्दी रूप 'मनुष्यता का अकाल'.
31. बिपिन चन्द्रा, 'भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष' पृ. 322.
32. ए. आर. देसाई, 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि', पृ. 317.
33. रचनावली, भाग-9, पृ. 77-78, 26 मार्च 1924 के 'जागरण' में प्रकाशित लेख 'साम्प्रदायिकता का जहर महिलाओं में'.

34. आर. पी. दत्त, पृ. 247.
35. रघुराज गुप्ता, पृ. 26.
36. 'करसपॉन्डेंस ऑन द सबजेक्ट एण्ड मोहमडन कम्युनिटी' पृ. 212, रघुराज गुप्ता से उद्धृत पृ. 271,
37. वही पृ. 27.
38. रचनावली, भाग-18, पृ. 395.
39. ए. आर. देसाई, पृ. 318. कालान्तर में यही कॉलेज अलीगढ़ विश्वविद्यालय बना।
40. रचनावली, भाग-18, पृ. 395.
41. 'सेंसेस ऑफ इण्डिया-युनाईटिड प्रोवेंसिस ऑफ आगरा एण्ड अवध', भाग-16, पाइंट-2 इ. एच. एच. इडे, पृ. 413.
42. 'कर्मभूमि', पृ. 95.
43. रघुराज गुप्ता, पृ. 29.
44. 'हिन्दू महासभा', 1915 में मालवीय और कुछ पंजाबी नेताओं ने हरिद्वार के कुंभ मेले में इसकी स्थापना की थी।
45. रचनावली, भाग-9, पृ. 78, अप्रैल 1934 के 'हंस' में प्रकाशित लेख 'हिन्दी-उर्दू और हिन्दुस्तानी'.
46. रचनावली, भाग-7, पृ. 483. फरवरी 1937 के 'हंस' में प्रकाशित भाषण, जो प्रेमचन्द ने 11 अप्रैल 1936 को आर्य समाज के 'आर्य भाषा सम्मेलन' में दिया था। इस दौरान उन पर आर्य समाज का व्यापक प्रभाव पड़ा था लेकिन इसके बावजूद उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर आर्य समाज के विचारों को आत्मसात् नहीं किया, बल्कि उसका विरोध किया था।
47. वही, पृ. 486.
48. मालवीय, 'कोर्ट, करेक्टर एण्ड प्राइमरी एजुकेशन इन द एन-डब्लू प्राविन्स ऑफ अवध',और देखें ज्योतिन्दु दास गुप्ता की 'लैंगुएज, पॉलिटिक्स एण्ड ग्रुप प्रासेस इन इण्डिया' 1966.
49. रचनावली, भाग-18, पृ. 394-95.
50. रचनावली भाग-7, पृ. 486-87.
51. मोहसिन-उल-मुल्क 'अलीगढ़ आन्दोलन' में सैयद अहमद के उत्तराधिकारी थे।
52. जियाउल-हसन फारूकी, 'द देवबन्द स्कूल एण्ड डिमांड फॉर पाकिस्तान' पृ. 47.
53. रघुराज, पृ. 35.
54. रचनावली, भाग-7 पृ. 489.
55. रचनावली, भाग-9, पृ. 219.
56. रचनावली, भाग-7, पृ. 487-488.
57. रचनावली, भाग-7, पृ. 289.
58. बिपिन चन्द्रा, 'भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष', पृ. 335.

59. डॉ. रक्षापुरी, "प्रेमचन्द साहित्य में व्यक्ति और समाज", पृ. 300.
60. रचनावली, भाग-7, पृ. 282.
61. रचनावली, भाग-7, पृष्ठ 472-73.
62. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. जे. एल. नेहरू', भाग-6, पृ. 163, 1932 में 'हाउस ऑफ कॉमन्स' के सम्मेलन में आगा खाँ, मो. इकबाल और डॉ. शफात अहमद खाँ अपनी एक रिपोर्ट में यह कहा था।
63. वहीं, पृ. 162.
    63.1 'प्रेमचन्द के विचार', भाग-1 पृ. 355.
64. सुमित सरकार, 'आधुनिक भारत', पृ. 272.
65. रचनावली, भाग-7, पृ. 260। "मल्काना राजपूतों" के बारे में हिन्दुओं का मानना है कि वह मूलतः हिन्दू है। इन्हें मुसलमान समझना गलत है। वह हिन्दू नाम रखते हैं, हिन्दू देवताओं की पूजा करते हैं, शादियों में पुरोहितों को बुलाते हैं। सिर्फ मुर्दे दफन करते हैं इसीलिए उन्हें फिर दायरे में लेकर हम मुसलमानों पर ज्यादती नहीं कर रहे हैं।" रचनावली, भाग-7, पृ. 266.
66. सुमित सरकार, 'आधुनिक भारत', पृ. 273.
67. 'मन्त्र', कहानी, रचनावली, भाग-13, पृ. 261.
    67.1 सुमित सरकार, 'आधुनिक भारत', पृ. 127.
68. रचनावली, भाग-7, पृ. 287.
69. डॉ. रक्षापुरी, पृ. 302.
70. रचनावली, भाग-7, पृ. 288.
71. रचनावली, भाग-7, पृ. 262.
72. रचनावली, भाग-7, पृ. 261-63.
73. प्रभा दीक्षित, 'कम्यूनलिज्म-ए स्ट गल फॉर पावर', पृ. 9
74. रचनावली, भाग-8, पृ. 481.
75. रचनावली, भाग-8, पृ. 379-80.
76. रचनावली, भाग-9, पृ. 16. 1 जनवरी 1934 के 'जागरण' में "भाई परमानन्द की संदेह दृष्टि" शीर्षक से प्रकाशित।
77. वी. डी. सावरकर, 'हिन्दुत्व', पृ. 34-36.
78. बिपिन चन्द्रा, पृ. 338.
79. बिपिन चन्द्रा, 'कम्यूनलिज्म इन माडर्न इण्डिया', पृ. 234.
80. आर. पी. दत्त, 'भारत वर्तमान और भावी', पृ. 257 'गाँधीजी के शब्द यह थे कि "मैं सनातनी हिन्दू हूँ, क्योंकि (1) मैं वेद, उपनिषद, पुराण और समस्त हिन्दू शास्त्रों में विश्वास करता हूँ और इसलिए पुनर्जन्म तथा अवतारों में भी मेरा विश्वास है। (2) मैं वर्णाश्रम धर्म

में विश्वास करता हूँ—उस रूप में, जो मेरी राय में सर्वथा वेद सम्मत रूप है, न कि उसके मौजूदा प्रचलित भौंड़े रूप में (3) मैं प्रचलित अर्थ से कहीं अधिक व्यापक अर्थ में गौ-रक्षा में विश्वास करता हूँ। (4) मूर्तिपूजा में मुझे अविश्वास नहीं है।"

81. रचनावली, भाग-7 पृ. 288.
82. रचनावली, भाग-7 पृ. 281-282.
83. रचनावली, भाग-7 पृ. 290 पृ. 75.
84. वही, पृ. 285.
85. रचनावली, भाग-8 पृ. 379-80.
86. रचनावली, भाग-8 पृ. 123-124.
87. रचनावली, भाग-18 पृ. 396.
88. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. जे. एल. नेहरू', भाग-4, पृ. 165-66.
89. रचनावली, भाग-8, पृ. 461-62.
90. रचनावली, भाग-8, पृ. 481.
91. रचनावली, भाग-8 पृ. 481-82.
92. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. जे. एल. नेहरू', भाग-4, पृ. 164.
93. रचनावली, भाग-8, पृ. 426-27.
94. रचनावली, भाग-9, पृ. 130, जुलाई 1934 के 'हंस' में 'सरकारी नौकरियाँ और साम्प्रदायिकता' शीर्षक से प्रकाशित लेख।
95. आर. पी. दत्त, पृ. 249, मुसलमानों को कुल 250 सीटों में से 82 पर प्रतिनिधित्व दिया गया।
96. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. जे. एल. नेहरू', भाग- 10, पृ. 359-61.
97. रचनावली, भाग-9, पृ. 26-27.
98. 'सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पं. जे. एल. नेहरू', भाग- 4, पृ. 170.
99. 'सेवासदन', पृ. 118.
100. वही, पृ. 123.
101. वही, पृ. 120.
102. रचनावली, भाग-8, पृ. 426-28.
103. वही, पृ. 103.
104. 'हिंसा परमोधर्म', कहानी रचनावली, भाग-13, पृ. 335.
105. वही, पृ. 149.
106. डॉ. रक्षापुरी, पृ. 299-300.
107. रचनावली, भाग-9, पृ. 103.

108. शिवरानी देवी, 'प्रेमचन्द घर में', पृ. 96.
109. 'कायाकल्प', अप्रैल 1924-सितम्बर 1925 पृ. 27.
110. गितान्जली पाण्डेय, पृ. 190.
111. 'विविध प्रसंग', भाग- 2, पृ. 351-571.
112. 'कायाकल्प', पृ. 187.
113. रक्षापुरी, पृ. 301.
114. 'कायाकल्प', पृ. 189.
115. रक्षापुरी, पृ. 301.
116. 'मन्दिर-मस्जिद' कहानी, रचनावली, भाग-13, पृ. 171.
117. रचनावली, भाग-7, पृ. 283.
118. वही, पृ. 283.
119. 'यंग इंडिया', 29 मई, 1924 में प्रकाशित सुमित सरकार, पृ. 274.
120. रचनावली, भाग- ·8, पृ. 462.
121. डा. रक्षापुरी, पृ. 303.
122. 'विविध प्रसंग', भाग- 2, पृ. 118.
123. वही, पृ. 33.
124. 'लेख आजादी की लड़ाई' अप्रैल 1930 के 'हंस' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-7, पृ 240-41.
125. 'भाई परमानन्द का भाषण', 30 अक्टूबर 1933 में 'जागरण' में प्रकाशित, रचनावली, भाग-8 पृ. 461-62 बहराइच में सैयद सालार मसूद गाज़ी की मजार है।
126. गीतान्जली पाण्डेय, पृ. 189.
127. फरवरी 1924 में 'माधुरी' में प्रकाशित, 'विविध प्रसंग', भाग- 3 में संकलित.
128. गीतान्जली पांडेय, पृ. 187.
129. कमर रईस, पृ. 40.
130. रचनावली, भाग- 19, पृ. 381-82.
131. वही, पृ. 382.
132. 24 जुलाई 1933 में 'माधुरी' में प्रकाशित रचनावली, भाग- 8, पृ. 380.
133. रईस, पृ. 41.
134. गीतान्जली पान्डेय, पृ. 187.
135. 'मनुष्यता का आकाल', शीर्षक से प्रकाशित, रचनावली, भाग-7, पृ. 283.
136. मई 1923 में 'ज़माना' में प्रकाशित उर्दू लेख, रचनावली, भाग-7, पृ. 265.

137. 'मनुष्यता का आकाल' रचनावली, भाग-7, पृ. 282.
138. 7 नवम्बर 1932 में 'जागरण' में प्रकाशित लेख 'आशा के केन्द्र', रचनावली, भाग-8, पृ. 172..
139. रचनावली, भाग-7, पृ. 265.
140. 'हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न', शीर्षक से सितम्बर 1924 में 'प्रताप' में प्रकाशित लेख रचनावली, भाग-7, पृ. 291.
141. 'मनुष्यता का आकाल', रचनावली, भाग-7, पृ. 282.
142. 'कौमी इतिहाद क्यों कर हो सकता है? रचनावली, भाग-7, पृ. 473.
143. रईस, पृ. 39.
144. कहानी 'बड़े बाबू', रचनावली, भाग-13, पृ. 354-57.
145. 8 जनवरी 1934, 'जागरण' में प्रकाशित, 'विविध प्रसंग', भाग-2, पृ. 225.
146. 'निमन्त्रण', कहानी, पृ. 23.
147. 'प्रेमाश्रम', पृ. 41.
148. 'प्रेमाश्रम' पृ. 227.
149. 'न्याय', कहानी, 1926, रचनावली, भाग-14, पृ. 206.
150. 'परीक्षा' कहानी, 1926, रचनावली, भाग-13, पृ. 348.
151. 'वज्रपात' कहानी, 1924, रचनावली, भाग-13, पृ. 26.
152. 'शतरंज के खिलाड़ी', 1924, रचनावली, भाग-13, पृ. 105.
153. 'ईदगाह', 1933, रचनावली, भाग-15, पृ. 203.
154. 'हिंसा परमो धर्म', दिसम्बर 1926, रचनावली, भाग-13, पृ. 335.
155. 'महातीर्थ', सितम्बर 1977, रचनावली, भाग-12, पृ. 48.
156. 'मन्दिर-मस्जिद', अप्रैल, 1925, रचनावली, भाग-13 पृ. 171-79.
157. 'फातिहा', कहानी, मार्च 1926, रचनावली, भाग-14, पृ. 214.
158. 'कर्बला' नाटक, रचनाकाल 1924, पाँच अंकों के इस नाटक में हजरत इमाम हुसैन को श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। इसमें उस घटना का वर्णन है जब इमाम हुसैन और उनके 72 साथियों का मज़ीद की सेना ने घेराव कर लिया तो उस समय साहस राव के मार्गदर्शन में एक काफिला उधर से गुजर रहा था। उन्हें जब मालूम हुआ कि हजरत इमाम सत्य और न्याय के लिए एक भ्रष्ट चरित्र शासक से लड़ रहे हैं तो पवित्र युद्ध में उन्होंने हजरत इमाम का साथ दिया और कर्बला के मैदान में उनके साथ शहीद हो गए।
159. रचनावली, भाग-7, पृ. 304.
160. रचनावली, भाग-7, पृ. 260. उर्दू लेख मई 1923 में 'ज़माना' में प्रकाशित।
161. रईस, पृ. 43.
162. रचनावली, भाग-7, पृ. 476-77.

163. रचनावली, भाग-8, पृ. 125.
164. 'विविध प्रसंग', भाग-2, पृ. 211-12.
165. 'मनुष्यता का आकाल', रचनावली, भाग-7, पृ. 286.
166. 22 जनवरी 1934 में 'अच्छी-बुरी साम्प्रदायिकता लेख, रचनावली, भाग-9, पृ. 27.
167. 'आशा के केन्द्र' शीर्षक से 7 नवम्बर 1932 में 'जागरण' में प्रकाशित लेख। रचनावली, भाग-8, पृ. 171-72.
168. रचनावली, पृ. 15-16.
169. रचनावली, भाग-7, पृ. 472-75.
170. रचनावली, भाग-7, पृ. 287-88.
171. वही, जनवरी 1936 में प्रकाशित उर्दू लेख, पृ. 471.
172. रचनावली, भाग-9, पृ. 491-92.
173. वही, भाग-9, पृ. 261 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' नामक लेख। जो 15 जनवरी 1934 में 'जागरण' में प्रक़ाशित हुआ था।
174. 'प्रेमचन्द के विचार', भाग-1, पृ. 355.
175. ए. आर. देसाई, पृ. 338.
176. के. एम. अशरफ 'पाकिस्तान', पृ. 75.
177. रचनावली, भाग-7, पृ. 476.
178. रईस, पृ. 40.
178.1 'प्रेमचन्द के विचार', भाग-1
179. रचनावली, भाग-8, पृ. 330। "जिन अलवर नरेश की यहाँ प्रेमचन्द आलोचना कर रहे हैं, उन्हीं अलवेन्द्र ने प्रेमचन्द को अपना निजी सचिव बनाने का प्रस्ताव किया था।" रामबक्ष, पृ. 118.
180. रचनावली, भाग-9, पृ. 126.
180.1 'कुत्ते की कहानी', जुलाई, 14, 1936.
181. डॉ. रामबक्ष, पृ. 76-77.

प्रेमचन्द की रचनाएँ: समकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन

प्रेमचन्द का युग सामाजिक और धार्मिक अंधविश्वास का युग था। अशिक्षा, अछूत समस्या, चारित्रिक व्यभिचार, पारिवारिक कलह एवं संयुक्त परिवारों का टूटना, पंडे-पुरोहितों द्वारा शोषण, अछूतों के मंदिर प्रवेश पर प्रतिबन्ध आदि बहुत सी सामाजिक कुरीतियों से समाज जकड़ा था। प्रेमचन्द ने इन सभी सामाजिक कुरीतियों पर अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रहार किया। समानता और आपसी भाई-चारे की भावना से प्रेमचन्द की रचनाएँ बहुत प्रभावित हैं। प्रेमचन्द ने सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर अस्पष्ट रूप से काफी कुछ लिखा है। तत्कालीन सामाजिक जीवन में व्याप्त संकीर्णता और असमानता का वर्णन करने के साथ-साथ उन्होंने उत्तर भारत की लोक संस्कृति की उपेक्षा नहीं की है। सामाजिक जीवन में वह समानता के समर्थक थे और दूसरी ओर उन्हें भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक प्रतिमानों से लगाव था। इस प्रकार वह मानवता के पक्षधर थे न कि भौतिकवाद के। उनकी रचनाओं में शहरों की अपेक्षा ग्रामीण परिवेश के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का प्रभाव अधिक रहा है। उन्होंने सामाजिक यथार्थता को विशेष महत्व दिया क्योंकि "समाज के बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है।"[1] सामाजिक रूढ़ियाँ और परम्पराएँ मनुष्य की आधुनिक चिंतनधारा से टकराती हैं और समाज के विकास की दिशा को अवरुद्ध करती हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में समाज की अच्छाइयों और बुराइयों को मूलतः पहचान कर उनका व्यापक चित्रण किया है।[2]

एक लम्बे समय तक समाज में मनुष्य की भूमिका पर विवाद रहा है। लेकिन यह सर्वविदित है कि व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं और एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज में अनेक व्यक्ति जीवन और मृत्यु की प्रक्रिया से गुजरते हैं, लेकिन समाज उससे प्रभावित नहीं होता। इस प्रकार मूल समस्या स्वयं मनुष्य को समाज के अनुकूल बनाने की है, इसीलिए प्रेमचन्द ने वर्तमान समाज और उसकी समस्याओं को ही महत्व दिया है। "प्रत्येक समाज का एक जीवन आदर्श होता है, जिसे एक पीढ़ी दूसरी में हस्तान्तरित करती है। यही सामाजिक विरासत समाज की संस्कृति है। 'संस्कृति को किसी समाज की जीवन पद्धति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[3]

जिस प्रकार व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, वैसे ही "समाज और उसकी संस्कृति को एक-दूसरे से अलग रखने की कल्पना नहों की जा सकती। संस्कृति में समाज के समस्त रीति-रिवाज, परम्पराएँ, आचरण, कला, साहित्य, दर्शन आदि शामिल है।"[4] इन प्रतिमानों को प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उनकी रचनाओं में आम जनता का जीवन झलकता है। समाज की पीड़ित विधवायें, सौतेली माताओं से परेशान बालक, महन्तों और पुरोहितों से ठगे जाने वाले किसान सभी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। प्रेमचन्द के अनुसार, "सामाजिक आदर्श साहित्य से उत्पन्न होते हैं। इसलिए वह साहित्यकार का दर्ज़ा बहुत ऊँचा मानते हैं।"[5]

साहित्य किसी समाज की समस्त संवेदनाओं का कोष कहा जा सकता है, क्योंकि साहित्य में ही युग विशेष की सामाजिक मान्यताएँ और सांस्कृतिक प्रतिमान होते है। प्रेमचन्द के समय से ही साहित्य को सामाजिक जीवन से सम्बद्ध करने की परम्परा का आरम्भ हुआ। "जीवन से असबद्ध साहित्य का महत्व नहीं होता, क्योंकि साहित्य का आधार मानव जीवन है।"[6] प्रेमचन्द भी इसे मानते हैं कि "साहित्य का आधार जीवन है।"[7] "साहित्य एक ऐसा तत्व है जो समाज को प्रतिबिम्बित तो करे, पर चाटुता से अधिक उसे चोट दे और इस तरह समाज को आगे बढ़ाने का काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है।"[8] प्रेमचन्द मानते हैं कि "साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।"[9] इसीलिए उन्होंने समाज को विशेष महत्व दिया है।

निस्संदेह एक साहित्यकार देशकाल की परिस्थितियों की अवहेलना नहीं कर सकता। वह एक सीमा तक अपने युग में बँधा होता है, क्योंकि जिस युग में वह रहता है उसकी परम्पराओं और जटिलताओं से उसका आकर्षित होना स्वभाविक है। प्रेमचन्द जैसे साहित्यकार की रचनाओं में इसका प्रतिबिम्बित होना सहज है। प्रेमचन्द ने इस तथ्य का अक्षरतः पालन किया है कि "साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है।"[10] 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में रूढ़िग्रस्त समाज के सुधार के लिए बहुत से सुधारवादी आन्दोलन चले। बंगाल में 'ब्रह्म समाज', महाराष्ट्र में 'प्रार्थना समाज', पंजाब और उत्तर भारत में 'आर्य समाज' व्यापक स्तर पर समाज को सामाजिक कुरीतियों से मुक्त कराने का प्रयास कर रहे थे, वहीं प्रेमचन्द ने 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अपनी रचनाओं के माध्यम से आम जनता को जाग्रत् करने का प्रयास किया। उन्होंने इस सकारात्मक पक्ष को भी उभारा है कि "समाज की व्यापक समानता एवं एकता के लिए पारस्परिक सहनशीलता, सहानुभूति, मानवीय उदारता और सामान्य प्रगतिशील विचारदृष्टि का होना अनिवार्य है।"[11]

"प्रेमचन्द साहित्य के माध्यम से जागृति और स्फूर्ति लाना चाहते थे, जो जीवन की यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाले।"[12] वह एक युग निर्माता साहित्यकार थे। उन्होंने अपने समय के सामाजिक जीवन को एक नई दिशा दी। "जिस समय विधवा विवाह को भी क्रान्तिकारी सुधार माना जाता था, उस समय नारी-मात्र की पराधीनता पर उन्होंने 'सेवासदन' लिखा और वेश्यावृत्ति के सामन्ती आधार को उभारकर समाज के समक्ष रखा। उन दिनों जब मंदिर प्रवेश को अछूत समस्या हल करने का सबसे बड़ा साधन माना जाता था, उन्होंने 'कर्मभूमि' में अछूत किसानों और खेत मजदूरों की भूमि समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया।"[13] "प्रेमचन्द युग में थोड़े से शिक्षित व्यक्ति ही समाज सुधार के पक्ष में थे, शेष समाज रूढ़िग्रस्त था।"[14]

प्रेमचन्द मानव समाज को समानता के आधार पर पुर्नगठित करना चाहते हैं। एक शोषणहीन समाज की परिकल्पना प्रेमचन्द की 'स्वराज्य' की कल्पना में निहित है। "प्रेमचन्द जब स्वराज्य की बातें कहते हैं, तब उसका एक तरफ तो भारतीयों द्वारा राज्य करने का अर्थ होता है, दूसरी तरफ प्रत्येक भारतीय के समान अधिकारों से युक्त 'सुराज' से भी होता है। .... प्रेमचन्द ने वर्गहीन समाज की परिकल्पना प्रस्तुत नहीं की थी, बल्कि उन्होंने शोषणहीन समाज का आदर्श सामने रखा था।"[15] प्रेमचन्द के लिए सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का आर्थिक और राजनीतिक जीवन से गहरा संबंध है।[16] और इसी संबंध को उन्होंने सफलतापूर्वक अपनी रचनाओं में वर्णित किया है।

पारिवारिक जीवन

प्रेमचन्द युगीन सामाजिक जीवन की अधिकांश समस्याएँ परिवार से संबंधित हैं। निस्संदेह सामाजिक जीवन का मूल आधार परिवार है, जहाँ व्यक्तित्व और सामाजिक संबंधों का विकास होता है। संयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक व्यवस्था का मुख्य आधार रहे हैं। "भारत में परिवार का अर्थ ही संयुक्त परिवार है। यहाँ तो औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ों ने परिवार के आगे संयुक्त लगा दिया। .... यह अवश्य है कि औद्योगिकीरण, व्यक्तिवाद और नगरीकरण ने संयुक्त परिवार को विघटित कर दिया है।"[17] प्रेमचन्द युग में आर्थिक शक्तियों, पूँजीवादी और पाश्चात्य सभ्यता के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार टूट रहे थे। प्रेमचन्द संयुक्त परिवार के विघटन से बहुत परेशान थे। उनकी अनेक कहानियों का संबंध पुराने ढंग के संयुक्त परिवारों और उनके टूटने से है। उन्हें संयुक्त परिवार से मोह था।[18] 'दफ्तरी' और 'पुत्र प्रेम', जो पारिवारिक जीवन की कहानियाँ है, में पारिवारिक परम्परा में पूँजीवादी मूल्यों ने जो तनाव पैदा किया है, उसे वर्णित किया गया है। इसके अतिरिक्त

'अलग्योझा' में घर के बँटवारे से होने वाले नुकसान का वर्णन है। प्रेमचन्द संयुक्त परिवार को आर्थिक कठिनाइयों के कारण टूटते हुए देखते हैं। समझौते से कुछ दिनों तक यह कायम रह सकते हैं, हमेशा के लिए नहीं।

'दो भाई' और 'बैर का अंत' कहानियों में भाइयों के झगड़ों से संयुक्त परिवार टूटा, तो 'गृहदान' में लड़के को विमाता की वजह से घर छोड़ना पड़ा। 'घर जमाई' का हरिधन विमाताओं से इतना डरता है कि ससुराल में रहने का निश्चय करता है। इन परिवारों के टूटने का मुख्य कारण आर्थिक परिस्थितियाँ हैं — ज़मीन की कमी, लगान का बढ़ना, कर्ज़ का बोझ, स्त्रियों को काम न मिलना, बेकारी, एक का कमाना और दस को खिलाना। "प्रेमचन्द ने परिवार और उसकी समस्याओं पर गहराई से विचार किया था। उनके निजी पारिवारिक जीवन ने उन्हें परिवारिक जीवन की अनेक समस्याओं से परिचित करवा दिया था। उनके सभी उपन्यासों और अधिकतर कहानियों में पारिवारिक जीवन को महत्व दिया है।"[19]

"भारतीय समाज और सामाजिक जीवन पर सामंतवाद का प्रभुत्व कायम है और सामंतवाद का विरोधी मोर्चा खोलना आसान नहीं था जबकि राजनीतिक क्षेत्र में साम्राज्यवादी विरोधी मोर्चा आसानी से खुल गया। राजनीतिक और सामाजिक जीवन के इस अलगाव से सामाजिक ढाँचे में भी परिवर्तन हुए। परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार टूटा।"[20] इसके टूटने का उत्तरदायित्व नए और पुराने भारत का संघर्ष, धन की महत्ता और विचारों में आए क्रान्तिकारी परिवर्तन का परिणाम है। "अब एक नए तरह का परिवार ही बन सकता था, जिसमें सभी मेहनत करने वाले हों और सभी का दर्जा बराबरी का हो।"[21] प्रेमचन्द ने अपनी पारिवारिक कहानियों में हिन्दू समाज की रूढ़ियों का विरोध भी किया है। 'सुखी परिवार' को समाज के आदर्श के रूप में वर्णित किया है। 'कर्मभूमि' में लाला समरकांत का पारिवारिक जीवन टूटता है। उनका परिवार जीवन मूल्यों के संघर्ष का केन्द्र है। 'गोदान' में होरी का घर भी दबावों के कारण टूटता है। "संयुक्त परिवार के विघटन का कारण यह है कि संयुक्त परिवार आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल सिद्ध हो रहा है।"[22]

प्रेमचन्द के रचनाकाल के दौरान संयुक्त परिवार तीव्रता से विघटित हो रहे थे और उनकी रचनाओं में इसकी अभिव्यक्ति हुई है। उनके साहित्य में नए परिवार बन जाने का चित्रण तो है, लेकिन उनको सामाजिक और नैतिक विरोध का सामना करना पड़ रहा है। समाज उसे वांछित रूप में नहीं वरन् नियति के रूप में मानने के लिए मजबूर है। प्रेमचन्द परिवार को समाज की एक आवश्यक इकाई मानते थे और इसके विघटन को समाज के लिए हानिकारक मानते थे। "वास्तव में हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति न होकर संयुक्त परिवार है।"[23] प्रेमचन्द के किसानों के लिए ये विशेष रूप

से हानिकारक है, क्योंकि संयुक्त प्रयासो की संभावना कम होती है और खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाता है। 'गोदान' में होरी अपने संयुक्त परिवार, जो विघटित हो चुका है, के बारे में सोचता है, "सोभा और हीरा अलग हो ही गए, नहीं इस घर की और ही बात होती। अलग्योझा हो गया और घर की प्रतिष्ठा जाती रही। कारण था कि सोभा और हीरा की पत्नियाँ खेतों में काम करती थीं और धनिया घर सँभालती है।"[24] विघटन के बाद तीनों की आर्थिक स्थिति प्रभावित होती है।

इस परंपरा को गोबर ने आगे बढ़ाया। यद्यपि उसने पिता की सम्पत्ति का बँटवारा नहीं किया, जैसा कि सामान्यतः होता है, लेकिन वह उसके साथ रह नहीं सका। यह भी आर्थिक कारणों से मानवीय संबंधों में आने वाली दरार है। "गोबर नहीं चाहता कि वह पिता के आर्थिक दायित्व अपने ऊपर ले और होरी अपने आर्थिक बोझों के साथ अकेला रह जाता है।"[25] इन्हीं आर्थिक दबावों का वर्णन करते हुए मालती कहती है, "बँटवारे का मरज भी बढ़ता जाता था। आपस में इतना वैमनस्य था कि शायद ही कोई दो भाई एक साथ रहते हो।"[26] "एक परिवार को एक सूत्र में बाँधे रखने का काम सामूहिक सम्पत्ति करती है।"[27] इरावती कर्वे ने भी सामान्य अर्थव्यवस्था को संयुक्त परिवार की मुख्य विशेषता माना है।[28]

"संयुक्त परिवार में एक मुखिया होता है, जो पारिवारिक व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होता है। वह खुद श्रम करता है और दूसरे सदस्यों में श्रम का बँटवारा करता था। उसकी पत्नी घर की मालकिन होती है।... अक्सर सबसे बड़ा भाई या पिता ही घर का मुखिया होता है। कभी-कभी यह दायित्व बड़े भाई की बहू या माँ भी सँभाल लेती है।"[29] 'स्वामिनी' में विधवा हो जाने के बाद रामप्यारी घर की मालकिन बन जाती है।[30] वास्तव में "भाई या पिता की अनुपस्थिति में मुखिया का पद परिवार की सबसे वृद्ध महिला को नहीं दिया जाता है और स्वामित्व हमेशा पुरुष के पास रहा। यद्यपि वह वृद्ध महिला परिवार की अपेक्षाकृत अधिक सम्मानित महिला होती है।"[31] "परिवार में मुखिया के भाई, उसकी बहुएँ, उसके बूढ़े माता-पिता अपने बच्चों और उसके भाइयों के बाल बच्चे यही सदस्य होते हैं। प्रेमचन्द की रचनाओं में बड़े से बड़े परिवार में इतने ही सदस्य मिलते हैं।"[32] "संयुक्त परिवार में दो या दो से अधिक पीढ़ियाँ होती हैं।"[33]

'स्वामिनी' और 'सुजान भगत' में प्रेमचन्द ने मुखिया की भूमिका को विशेष महत्व दिया है। 'स्वामिनी' में मुखिया बनते ही रामप्यारी में कर्मठता और अनुशासनबद्धता आती है। वहीं 'सुजान भगत' में मुखिया के पद से पदच्युत होने के बाद सुजान, बेटे की अनुमति के बिना भिखारी को अनाज भी नहीं दे सकता। बाद में वही सुजान मुखिया की हैसियत से उसी भिखारी को एक मन अनाज देता है। यहाँ प्रेमचन्द ने

यह बताने का प्रयास किया है कि "जो कमाता है, उसी का घर में राज होता है, यही दुनिया का दस्तूर है।"[34] परिवार में सारे कायदे-कानून मुखिया की इच्छानुसार बनते हैं अर्थात् परिवार में उसका स्वेच्छाचारी शासन होता है। पन्निकर संयुक्त परिवार के विघटन के लिए पारिवारिक सदस्यों पर आवश्यकता से अधिक नियंत्रण लगाना और इसके परिणामस्वरूप उनके संबंधों का क्षेत्र सीमित होना मानते हैं।[35] परिवार के सदस्य मुखिया द्वारा सौंपे गए कार्य ही करते हैं।

प्रेमचन्द संयुक्त परिवार के आदर्श के समर्थक थे, इसीलिए उन्होने पूँजीवाद की अपेक्षा सामन्ती संबंधों की प्रशंसा की। 'महाजनी सभ्यता' में उन्होंने बताया है कि "यद्यपि सामन्त शोषण करते थे, लेकिन वह आम व्यक्ति के दुख-सुख के भागीदार भी होते थे।"[36] "प्रेमचन्द परिवार के पाश्चात्य आदर्श के विरोधी थे, इसीलिए वह पश्चिमी सभ्यता के भी विरोधी थे।"[37] वह जानते थे कि पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवक युवतियाँ इससे विमुख हो रहे थे। "भारतीय परिवार में घर का स्वामी सबका सेवक होता है, वह सबसे ज्यादा काम करता, दूसरों को खिलाकर खाता है, दूसरों को पहनाकर पहनता है, किन्तु पश्चिम में वह सबसे अच्छा खाना, अच्छा पहनना अपना अधिकार समझता है। यहाँ परिवार सर्वोपरि है, वहाँ व्यक्ति सर्वोपरि है।"[38]

निःसंदेह आर्थिक दृष्टि से यह व्यवस्था श्रेष्ठ है। गाँव में जहाँ चार भाई एक साथ रहते हैं, वहाँ वे उनसे अधिक समृद्ध होते हैं, जो अलग-अलग रहते हैं।[39] बँटवारे से सम्बन्धित प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियाँ किसानों से संबंधित हैं। 1929 के बाद यह विघटन उनकी रचनाओं के मध्य वर्ग के पात्रों में भी दिखाई देता है।

प्राचीन परिवार-प्रथा का समर्थक होने के बावजूद प्रेमचन्द ने इसके दोषों का विशद् वर्णन किया है। एक ओर वह इस तथ्य को उजागर करते हैं कि "संयुक्त परिवारों में विधवा स्त्री को जीविका के लिए मजबूर नहीं किया जाता। अगर एक घर में चार विधवा स्त्रियाँ हों और कमाने वाला सिर्फ एक, तो वह उन चारों की परवरिश करता है और ऐसा न हो तो समाज उसे निन्दित करेगा, वहीं दूसरी ओर हमारे घरों में आए दिन बमचख मची रहती है। कभी सास, बहू से मुँह फुलाये बैठी है, कभी बहू, सास से रूठी है। ननद और भावज के झगड़े हमारे यहाँ गीतों, नृत्यों और कहानियों में आमतौर पर मशहूर हैं। अगर घर में बेचारी एक बहू है और मर्दाने में दस आदमी, तो वह उन दसों की दासी समझी जाती है। ... हमारे यहाँ बहुत कम ऐसे कमाने वाले होंगे जिनके घर पर आये दिन दस-पाँच मेहमान अड़े न रहते हों बेचारा गृहस्वामी इतने मेहमानों की खिद़मत के बोझ से दब जाता है, मगर अपनी बेबसी का इज़हार नहीं करता। ... आलसियों की मदद करके संयुक्त परिवार आलसियों का समर्थन करता है। ... इसके समाप्त होने से कई समस्याओं का समाधान हो जाएगा। जैसे

बाल-विवाह बंद हो जाएँगे, जीविका की आवश्यकता विधवा विवाह को प्रोत्साहन देगी (जैसे 'स्वामिनी' में), स्त्री शिक्षा को बल मिलेगा। अतः जब एक सुधार से इतने लाभ हैं तो क्यूँ न इस ओर ध्यान दिया जाए।"[40]

संयुक्त परिवारों के विघटन के लिए अनेक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। जिनमें प्रमुख है — पारिवारिक कलह, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, एकता का आभाव, मुखिया के प्रभुत्व में कमी, 1929 का 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम', 1939 का 'महिलाओं का सम्पत्ति अधिकार', 'पाश्चात्य शिक्षा और भौतिकवादी संस्कृति का प्रभाव', 'औद्योगिकीरण नगरीयकरण' आदि।[41] इन सभी कारणों में 'अर्थ' की महत्ता प्राथमिक है। प्रेमचन्द ने पारिवारिक विघटन का मूल कारण स्त्रियों की आपसी कलह को माना है। जब तक घर में कोई नया प्राणी या नई बहू नहीं आ जाती, तब तक पारिवारिक जीवन में सुख-शांति रहती है। उसके आने से पारिवारिक संबंधों में परिवर्तन आते हैं। 'गोदान' में होरी के भाइयों की बहुएँ आने से तनाव बढ़ा और बँटवारा हुआ। "गाँव में बड़े-बूढ़े अपने बच्चों को सिखाते हैं कि मिलकर रहना हो तो औरत की बात पर कभी कान न देना।"[42] इसमें वास्तविकता है। 'अलग्योझा' कहानी में रघू की पत्नी मुलिया को विघटन का उत्तरदायी माना गया है। इसमें पन्ना और उसके बच्चे और रघू, जो सौतेला बेटा है, मेल-मिलाप से रहते हैं, पन्ना के विवाह के बाद तनाव बढ़ता है। मुलिया कहती है कि "मेरा शौहर छाती फाड़कर काम करे और पन्ना रानी बैठी रहें, उसके लड़के रईसजादे बने घूमें। मुलिया से यह बर्दाश्त न होगा।"[43] परिणाम स्वरूप बँटवारा हो जाता है। 'दो भाई'।[44] कहानी में भी स्त्रियों के संकुचित दृष्टिकोण को पारिवारिक विघटन का कारण माना गया है। 'बड़े घर की बेटी', 'स्वामिनी', 'गृहनीति'[45] आदि कहानियों में बहुओं को पारिवारिक विघटन का उत्तरदायी माना गया है।

'असमान श्रम विभाजन' भी पारिवारिक विघटन के लिए उत्तरदायी है। 'शंखनाद' में चौधरी भानुदत्त के घर में इसी असमानता के कारण तनाव होता है। उसके दो बेटे काम करते हैं, लेकिन छोटा बेटा 'गुमान' खाली घूमता रहता है। इस परिवार में विघटन के पीछे जो तर्क दिया जाता है, वह यही असमान श्रम विभाजन है।[46] "भारतीय परिवार में असमान श्रम विभाजन तो सदियों से रहा है, लेकिन इसका विरोध अब इतना तीव्र क्यों हो गया है? इसका कारण है लाभ की व्यक्तिगत चेतना। पहले परिवार में गुमान जैसे निठल्ले खप जाते थे, लेकिन 'व्यक्तिवाद' के कारण अब यह संभव नहीं है।"[47] 'शंखनाद' में बितान इस असमानता का विरोध नहीं करता, लेकिन उसकी पत्नी द्वारा बँटवारे का समर्थन करना उसे बुरा नहीं लगता है।

पारिवारिक विघटन का एक कारण विमाताओं का होना है। प्रेमचन्द को इसका व्यक्तिगत अनुभव था। प्रेमचन्द की अपनी पहली पत्नी से न पटी। उनके कारण प्रेमचन्द की दूसरी पत्नी से भी कई साल न पटी, यानी पति-पत्नी के झगड़ों का एक कारण सौतेली माँ थी।[48] लेकिन प्रेमचन्द ने यह सिद्ध करने का प्रयास कभी नहीं किया कि विमाता हो जाने से कोई स्त्री बुरी हो जाती है। फिर भी विमाता सौतेले बच्चों से स्नेह न करके कलह को जन्म देती है। 'कर्मभूमि' उपन्यास में अमरकांत विमाता के कारण अपने ही घर में उपेक्षित रहता है। परिणामस्वरूप पहले विमाता, फिर स्वयं अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर देता है। "अमरकांत पर और न जाने क्या बीतती पर उसके भाई न हुआ, नहीं तो वह घर से निकाल दिया जाता।"[49] 'गृहदाह' में सत्यप्रकाश को विमाता के कारण घर से दूर कलकत्ता में दुकान करनी पड़ती है। यद्यपि उसका और उसके सौतेले भाई में प्रेम है। 'घर जमाई' में हरिधन विमाता के नाम से ही चिढ़कर अपनी ससुराल में रहने लगता है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने ताहिर अली के माध्यम से पारिवारिक विघटन को दर्शाया है। यहाँ संघर्ष ताहिर की पत्नी और विमाता में है, वहीं दूसरी ओर ताहिर परिवार को सँभालना चाहता है, परन्तु थोड़ी रुखाई के आभाव में उन्होंने उसे बरबाद कर दिया। इस प्रकार दूसरा विवाह और विमाता पारिवारिक विघटन का मुख्य कारण है। प्रेमचन्द ने 'निर्मला' में इसे विशेष रूप से वर्णित किया है।

उपरोक्त दोषों के बावजूद प्रेमचन्द संयुक्त परिवार के समर्थक थे। हालाँकि हमारे परिवारों में चल रहे भयंकर अत्याचारों से वह वाक़िफ थे, फिर भी "इस संस्था में ही उनकी संभावनाएँ दिखाई देती थीं, व्यक्ति के विकास के अवसर दिखाई देते हैं, जिसे वे किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहते थे। इसके मूल में सम्भवतः उनका अपना पारिवारिक जीवन रहा हो। प्रेमचन्द ने अपने अनुभव को आदर्शीकृत किया और उसे पर्याप्त महत्व दिया।"[51] निसंदेह आज भारतीय समाज पुनः संयुक्त परिवार के महत्व को समझ रहा है और वह व्यक्तिवादी और स्वार्थी विचारधारा से विमुख हो रहा है। यह प्रेमचन्द के यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रकट करता है।

सामाजिक जड़ता

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में सामाजिक जड़ता को विशेष महत्व दिया है। वह धार्मिक रूढ़ियों और आडम्बरों, विशेष रूप से जाति प्रथा के कट्टर विरोधी थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में जहाँ एक ओर ढोंगी पंडे-पुरोहितों का वर्णन है वहीं दूसरी ओर निम्न जातियों के प्रति किए जाने वाले अमानवीय व्यवहार का विशद वर्णन है। वास्तव में प्रेमचन्द का रचनाकाल सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन के

चरमोत्कर्ष का काल था। अतः प्रेमचन्द जैसे जागरूक साहित्यकार की रचनाओं का उससे प्रभावित होना स्वाभाविक था। 'जाति प्रथा ने हिन्दुओं को जन्म के आधार पर श्रेणियों में बाँट रखा था और इसीलिए समाज सुधार आंदोलनों ने इसके उन्मूलन को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया। "जाति प्रथा हिन्दू धर्म का लौह ढाँचा थी।.... जाति विशेष की स्थिति से ही उस जाति में पैदा हुए व्यक्ति का सामाजिक आधार निश्चित होता था।"[52] "समाज में व्यक्ति की स्थिति उसकी जाति के आधार पर निर्धारित होती है। सामान्यतया व्यक्ति की जाति में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु यदि होता भी है तो जाति व्यवस्था के दायरे के भीतर ही होता है।"[53] इस प्रकार जाति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में समाज के बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। "जाति ने व्यक्तिगत क्षमता नहीं, वरन् जन्म पर आधारित अभिजात्य वर्ग की सृष्टि की... छूआछूत की समस्या जाति व्यवस्था का ही परिणाम है।"[54]

प्रेमचन्द की रचनाएँ मूलतः ग्रामीण क्षेत्रों से ही संबंधित है इसलिए जातिगत विशिष्टताओं को उनके किसान पात्रों और धार्मिक जीवन में देखा जा सकता है। उन्होंने बड़े और सम्पन्न किसानों को ऊँची जाति के रूप में वर्णित किया है जैसे 'गोदान' में पंडित दातादीन। इनका समाज पर वैचारिक और आर्थिक प्रभुत्व रहता है। जबकि वह किसान जो भूमि जोतने और खेती करने का काम करते हैं। जैसे 'प्रेमाश्रम' में मनोहर, कादिर आदि और 'गोदान' का होरी। ऐसे किसान अहीर, जाट, कुर्मी, गूजर आदि जातियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अधिकतर किसान इसी वर्ग में आते हैं। इसके अतिरिक्त खेतीहर मज़दूर के रूप में काम करने वाले किसान अछूत समझी जाने वाली जातियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे 'कुन' का घीसू और माधव'।

"सामाजिक पिरामिड में शीर्षस्थ ब्राह्मण जाति के ही लोग धार्मिक और सामाजिक क्रिया-कलाप में पुरोहित का कार्य कर सकते थे... इस पिरामिड में निम्नतम धरातल पर शूद्रों-अछूतों की जगह निश्चित थी,... जिन्हें हिन्दू समाज ने अन्य जातियों की सेवा करने और हलखोर-चमार आदि पेशों जैसा निम्न कार्य करने के लिए बाध्य कर रखा था।"[56] समाज की अन्य जातियाँ ब्राह्मणों को श्रेष्ठ मानती हैं। वह ज्ञानी और पवित्र होता है, उसे कष्ट देने से ज्यादा पाप लगता है, ब्राह्मण के पवित्र रुपये न चुकाने से परलोक बिगड़ता है। इसलिए होरी, दातादीन को अधिक रुपये देने को तैयार हो जाता है। 'सद्गति' का दुखी चमार अपनी जान देकर भी पंडित घासीराम का बुरा नहीं चाहता। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के कारण 'सवा सेर गेहूँ' का शंकर बँधुआ मज़दूर बन जाता है। "यह उच्च और पवित्र समझे जाने वाले ब्राह्मण अपने ब्राह्मणत्व को ब्रह्मास्त्र के रूप में प्रयोग करते हैं।"[57]

ब्राह्मणों के बाद समाज में दूसरा स्थान क्षत्रियों का है, जो आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली है।[58] अधिकतर ज़मींदार और परंपरा से 'राज्य' भोगने वाला वर्ग है। इसके बाद वैश्य जातियाँ आती हैं, जो व्यापारिक और आर्थिक कार्य करते हैं। "हिन्दू समाज में निम्न जातियाँ अछूत मानी जाती हैं। इनका काम समाज की अन्य जातियों की सेवा करना है।"[59] "सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक ढाँचा इन्हीं जातिगत नियमों में बँधा है। इन जाति नियमों का उल्लंघन जाति विरोधी ही नहीं वरन् अधार्मिक कृत्य भी माना जाता था। इस प्रकार धर्म के कारण लोगों पर जाति की पकड़ मजबूत हुई।"[60]

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में इन जातिगत बन्धनों और शोषण की आलोचना की है। एक ओर उन्होंने उच्च जातियों विशेषकर रूढ़िवादी ब्राह्मणों पर प्रहार किया है, दूसरी ओर उनकी पूरी सहानुभूति उच्च जातियों की शिकार निम्न जातियों से है। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने अछूतों की समस्या को ग्रामीण जीवन की मूल समस्या, किसानों के शोषण के साथ देखा और परखा है। इसमें सवर्णों और अछूतों का संघर्ष है जिसमें पुलिस सवर्णों की और सेवाश्रम के लोग अछूतों की सहायता करते हैं। मुन्नी समाज की जाति प्रथा से उत्पन्न कुसंस्कारों से डरती है। इसीलिए वह अपने पति के साथ जाने से इनकार कर देती है, क्योंकि वह ऊँची जाति का है। बिरादरी वाले उसे वापस लेने पर आपत्ति करेंगे और उसका पति भी पूरी तरह से उसे स्वीकार नहीं करेगा। यद्यपि उसका पति उसे वापस ले जाने का प्रयत्न करता है, लेकिन वह जात बिरादरी के प्रति सशंकित है। यहाँ प्रेमचन्द ने समाज में जाति प्रथा के प्रति भय को वर्णित किया है, जो उच्च जातियों में ही है।

निम्न जातियों को प्रेमचन्द अधिक मानवीय मानते हैं। 'कर्मभूमि' में मुन्नी को चमारों के गाँव में आश्रय मिलता है। यहाँ प्रेमचन्द इस तथ्य को उजागर करते हैं कि इन जातियों के गरीब किसानों और खेत मज़दूरों में जाति प्रथा के वे बन्धन नहीं हैं; जो ऊँची जाति वालों में पाए जाते हैं। 'मन्त्र'(पाँच फूल) कहानी में एक बूढ़े गरीब का बेटा मर जाता है, क्योंकि डॉक्टर साहब उसे देख नहीं सकते उनके खेलने का समय हो गया है। कुछ दिनों बाद इन्हीं डॉक्टर के बेटे को साँप काट लेता है, तो वही बूढ़ा, जो साँप का विष झारता था, उसे बचाता है। वहीं यही सम्पन्न और ऊँचे कहे जाने वाले लोगों में मानवता का सर्वथा आभाव रहा है।

छूआछूत और जात-पाँत का भेद हिन्दू समाज में इतना बद्धमूल हो गया है, कि शायद उसका सर्वनाश करके ही छोड़े। 1934 मे प्रेमचन्द ने एक लेख में लिखा 'खबर है कि किसी स्थान में कुलीन हिन्दू स्त्री कुएँ में पानी भरने गई संयोगवश कुएँ में गिर पड़ी। बहुत से लोग तुरंत कुएँ पर जमा हो गए और उस औरत को बाहर निकालने

का उपाय सोचने लगे, मगर किसी में इतना साहस न था कि कुएँ में उतर जाता। वहाँ कई हरिजन भी जमा हो गए थे। वे कुएँ में जाकर उस स्त्री को निकाल लाने को तैयार हुए, लेकिन हरिजन कुएँ में केसे जा सकता था। पानी अपवित्र हो जाता। नतीजा यह हुआ कि अभागिनी स्त्री कुएँ में मर गई।"[62] क्या अब उस कुएँ के पानी का प्रयोग किया जाएगा? अगर नहीं तो वह लोग जो अछूत थे और कुएँ में जाकर उसे बचाने की हिम्मत रखते थे, वही उस स्त्री को बचा लाते कम-से-कम उसकी जान तो बच जाती। वह बात दूसरी है कि तब कुआँ और स्त्री दोनों अपवित्र हो जाते।

सजग साहित्यकार प्रेमचन्द ने अपने युग की अनेक मानवीय समस्याओं को अपने साहित्य में स्थान दिया। हिन्दू समाज में व्याप्त अछूतों की समस्या उनमें से एक है। "सवर्णों का अछूतों पर यह अत्याचार राजनीतिक नहीं सामाजिक है। अतः इनका हल भी सामाजिक उदारता और प्रजातान्त्रिक जीवन मूल्यों के व्यापक प्रचार से संभव होगा।"[63] एक बार डॉ. सर मुहम्मद इकबाल ने गांधी पर यह आरोप लगाया था कि "उनके हरिजन आन्दोलन में राजनीति की गंध आती है।" इसके जवाब में गांधी जी ने कहा था कि "अछूतपन को जड़ से उखाड़ फेंकना मेरे जीवन का उद्देश्य है और पचास वर्षों से लगातार मैं उसी उद्देश्य को पूरा करने में लगा हूँ।" प्रेमचन्द गांधी के इन विचारों से बहुत प्रभावित थे, इसीलिए उनसे जुड़ी समस्याओं को उन्होंने अपनी रचनाओं में शामिल किया है।

पीने के पानी की समस्या को भी प्रेमचन्द ने सामाजिक समस्या के रूप में दिखाया है। 'ठाकुर का कुआँ' कहानी में दो कुएँ हैं पर चमारों को पानी नहीं भरने दिया जाता। जोखू बीमार था, चमारों के कुएँ में कोई जानवर गिरकर मर गया था, उसका बदबूदार पानी जोखू से न पिया गया। उसकी पत्नी रात को चोरी से पानी लेने जाती है, जैसे ही वह पानी निकालने लगती है, ठाकुर के घर का दरवाजा खुला। मारे भय के गंगी के हाथ से घड़ा छूटकर कुएँ में गिर पड़ा। गंगी का यह भय, चमारों के भय की यह एक छोटी सी घटना, उन पर पीढ़ियों से होते आते अत्याचार को प्रदर्शित करती है।[65] इसमें अछूतों की पीड़ा के पीछे प्रेमचन्द की बुद्धिवादी दृष्टि है।

'मन्दिर' कहानी में सुखिया चमारिन अपने बेटे को अच्छा करने के लिए ठाकुर जी का चरण स्पर्श करना चाहती है, लेकिन इसमें पंडित पुरोहित आड़े आते हैं। यद्यपि उसकी तबीयत बीमारी में गुड़ खाने से खराब हुई है और ठाकुर जी के चरण स्पर्श से लड़का अच्छा नहीं होता। फिर भी उसका यह विश्वास था कि उसका बेटा ठाकुर जी की कृपा से ठीक हो जाएगा। यहाँ उन्होंने पंडितों की अमानवीयता और स्वार्थ के साथ सुखिया की मानवीयता का वर्णन किया है। सुखिया सामाजिक समानता चाहती है, वहीं पुराणपंथी एक बच्चे की जान ले लेते हैं। ऐसी ही स्थिति

सद्गति के दुखी चमार की भी है। वह अपनी पत्नी झुरिया को पंडित घासीराम के स्वागत सत्कार के लिए निर्देश देता है — "कहीं ऐसा गजब न करना बाबा थाली उठाकर पटक देंगे।... पत्तल में सीधा भी देना हाँ। मुदा तू छूना मत। झूरी गोंड की लड़की को लेकर साह की दुकान से सब चीजें ले आना।"[66] यहाँ यह स्पष्ट होता है कि चमार के धन से खरीदा गया सामान पवित्र और ग्राह्यय है जबकि उसके छूने से ही वह अपवित्र हो जाएगा।

अछूत और अपवित्र जातियों के लोगों को सर्वसाधारण के कुओं और तालाबों से पानी भी नहीं मिल सकता था। वे मन्दिरों में भी प्रवेश नहीं पा सकते थे। जाति प्रथा के कारण सामाजिक उत्पीड़न इतना अमानवीय हो गया था कि निम्नतम स्तर के कुछ लोगों को अछूत और निकृष्ट मान लिया गया। "उन पर दृष्टिगत होने भर से लोग अपवित्र हो जाते थे और जो अछूत जाने अनजाने किसी ब्राह्मण को दिखाई पड़ जाता था, उसे बड़ी कठोर सजा मिलती थी।"[67] 'सद्गति' में दुखी चमार अपनी बेटी के विवाह के लिए शुभ मुहूर्त पूछने पंडित घासीराम के पास जाता है। पंडितजी उससे कमरतोड़ बेगार लेते हैं और खाना भी नहीं देते। फलतः वह मर जाता है। भारतीय सभ्यता में आतिथ्य सत्कार का विशेष महत्व है और पंडितजी ने इसकी अवहेलना की जिससे एक चमार भूख से मर गया।[68] "हिन्दू खुद जाति भेद का जितना भक्त है, सरकार इस बात में उससे कोस भर आगे बढ़ी हुई है। और हमारा तो कहना ही क्या, हम तो पहले कायस्थ या ब्राह्मण या वैश्य हैं, पीछे आदमी। किसी से मिलते ही हम पहला सवाल यही करते हैं कि आप कौन साहब हैं? ग्रामीणों में भी यही प्रश्न पूछा जाता है कौन ठाकुर? अगर वह अपनी सजाति हुआ, तो उसके लिए चिलम भी है, तम्बाकू भी है, वरना उसमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं रहती।"[69] कुछ ऐसे भी कारण थे, जिन्होंने जाति भावना को जीवित रखा। 1921 के सेंसस ऑपरेशन के दो सुपरिंटेंडेंटों में एक मिडल्टन थे जिन्होंने पंजाब में जाति व्यवस्था पर अंग्रेजी शासन के बारे मे महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं। "मैंने यह दिखाना चाहा था कि जातियों के पेशागत वर्गीकरण के विरुद्ध व्यापक विद्रोह भावना थी, कि ब्रिटिश सरकार ने प्रायः इन जातियों का निर्माण किया था, और हर हालत में उन्हें विभिन्न जातियों के रूप में सुरक्षित रखा था। जातियों की प्राचीन जड़ता को हमारे लैंड रेकार्ड्स ने लौह बंधन में बाँध दिया है।"[70]

प्रेमचन्द 'असमानता की परम्परागत संस्कृति'[71] जिसमें असमानता को प्राकृतिक और ईश्वरप्रदत्त माना जाता है, के विरुद्ध 'समानता की संस्कृति' के समर्थक थे। उन्होंने परम्परागत संस्कृति की आलोचना की जिसमें बिरादरी का भय महत्वपूर्ण था। यह बिरादरी का भय ही था कि होरी कहता है कि "हम सब बिरादरी के चाकर हैं।

उसके बाहर नहीं जा सकते। वह जो डांड लगाती है उसे सिर झुकाकर मंजूर करें।"[72] होरी और धनियाँ, झुनिया को जब अपने घर लाते हैं तो उन्हें जाति से बाहर कर दिया गया। कोई उसका हुक्का पानी नहीं पीता। इस अवसर पर पंडित दातादीन कहते हैं कि "जब तक बिरादरी को भोज-पात नहीं दोगे, ब्राह्मणों को भोजन न दोगे, केसे उद्धार होगा?"[73] "बिरादरी का भय पिशाच की भाँति सिर पर सवार अंकुश दिए जा रहा था। बिरादरी से पृथक जीवन की वह कल्पना ही नहीं कर सकता था। शादी, ब्याह, मुंडन, छेदन, जन्म मरण सब बिरादरी के हाथ में है। बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाए हुए है और उसकी नसों, उसके रोम-रोम में बिंधी हुई थी।"[74]

बिरादरी का भय ऊँची जातियों में नहीं होता है। 'कर्मभूमि' में मुन्नी का पति जो जाति का ठाकुर है, बिरादरी की कोई परवाह नहीं करता। पूँजीवाद के आगमन से भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों से होरी अनभिज्ञ है। उसी के गाँव में झिंगुरीसिंह मृत पत्नी के बाद दो-दो पत्नियाँ खुलेआम रखते हैं, क्योंकि बिरादरी का उन्हें भय नहीं। इसी प्रकार पंडित दातादीन जो होरी पर डांड लगाते हैं, के बेटे मातादीन का सिलिया (चमार) के साथ अवैध संबंध हैं। उसे कोई दण्डित करने की बात नहीं सोचता, क्योंकि भोजन के मामले में वह सिलिया से छूआछूत रखता है। इसलिए उसका कृत्य जायज है। लेकिन गोबर और झुनियाँ के मामले में होरी की मानवीयता की प्रशंसा करने के बदले उसे दण्डित किया जाता है। उसी सामाजिक असमानता का प्रेमचन्द ने विरोध किया है।

समाज सुधारकों ने सामाजिक विषमता पर प्रहार करते हुए, समानता और सहयोग का समर्थन किया। "उन्होंने लोगों से अपील की कि मृत्योपरान्त मुक्ति के लिए प्रयास करने के बदले वे वास्तविक दुनिया में अपनी स्थिति में सुधार करें। उनके अनुसार राष्ट्रीय एकता और संगठन के रास्ते में जाति व्यवस्था बहुत बड़ी बाधा थी।"[75] अछूतोद्धार के क्षेत्र में प्रेमचन्द सुधारवादी आन्दोलनों और विशेष रूप से गांधी से बहुत प्रभावित थे। दिसम्बर 1933 में 'हंस' में उन्होंने लिखा "गांधी इसीलिए अछूतपन को मिटाने के लिए अपने जीवन का बलिदान कर रहे हैं कि उन्हें अछूतपन से प्रचण्ड घृणा है।"[76]

प्रेमचन्द ने अछूतों में अपने अधिकारों के प्रति उत्पन्न हुई जागृति को भी महत्व दिया है। 'गोदान' में जिस पुरोहित से सारा गाँव डरता है, उसी पुरोहित के बेटे के कुकृत्यों को दण्डित करते हुए भी दिखाया है। सिलिया-मातादीन काण्ड में चमारों ने मातादीन को पकड़कर उसका जनेऊ तोड़ दिया और जबरन उसके मुँह में एक बड़ी सी हड्डी का टुकड़ा डाल दिया। 'उस हड्डी के टुकड़े ने उसके मुँह को ही नहीं,

उसकी आत्मा को भी अपवित्र कर दिया था। उसका धर्म इसी खान-पान, छूत-विचार पर टिका हुआ था। आज समाज की जड़ कट गई। अब वह लाख प्रायश्चित करे, लाख गोबर खाए, और गंगाजल पिए, लाख दान पुण्य करे, उसका मरा हुआ धर्म जी नहीं सकता। अगर अकेले की बात होती, तो छिपा ली जाती; यहाँ तो सबके सामने उसका धर्म लुटा।.....आज से वह अपने ही घर में अछूत समझा जाएगा।[77] 'तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। हमारे साथ खाओ पियो, हमारे साथ उठो बैठो। हमारी इज्जत लेते हो, तो अपना धर्म हमें दे दो।'[77.1] मातादीन के मुँह में हड्डी इस घटना के माध्यम से प्रेमचन्द यह बताते हैं कि यद्यपि ग्रामीण समाज और जीवन में सरलता है, लेकिन उनके भीतर भी अत्याचारों के प्रति प्रतिक्रिया, अक्रोश और क्षोभ की छिपी, परन्तु प्रबल भावनाएँ हैं। ऊँची कही जाने वाली जातियों के बारे में प्रेमचन्द ने लिखा — "चोरी ये करें, जाल फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद में मारकर खा गया। इन्हीं पंडित के घर में तो बारहों मास जुआ होता है। यही साहूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है। किस-किस बात में हैं, हमसे ऊँचे?"[78] यह अछूतों की संभावित चेतना की अभिव्यक्ति है।

प्रेमचन्द चाहते हैं कि "अछूत स्वयं सोचें कि वह किस बात में नीचे हैं और सवर्ण भी सोचें कि वह किस बात में ऊँचे हैं। चिन्तन के विकास और परिष्कार से ही समस्या का हल सम्भव है।"[79] प्रेमचन्द लिखते हैं, "क्या तुम ईश्वर के घर से गुलामी करने का बीड़ा लेकर आए हो? तुम तन-मन से दूसरों की सेवा करते हो, पर तुम गुलाम हो। तुम्हारा समाज में कोई स्थान नहीं। तुम समाज की बुनियाद हो। तुम्हारे ही ऊपर समाज खड़ा है, पर तुम अछूत हो। तुम मन्दिरों में नहीं जा सकते। ऐसी अनीति इस अभागे देश के सिवा और कहाँ हो सकती है? क्या तुम सदैव इसी भाँति पतित और दलित बने रहना चाहते हो।"[80]

इस प्रकार उन्होंने सामाजिक सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। 'सद्गति' में दुखी चमार की लाश को एक गोंड ने उठाने से मना कर दिया कि "लाश न उठाएँ, नहीं तो पुलिस उन्हें पकड़ लेगी, पंडित ने चमार की जान ली है, फँसने दो!... धीरे-धीरे लाश की दुर्गन्ध फैलने लगी। अंत में पंडितजी ने ही हिम्मत कर रात में उसके पैर में रस्सी का फंदा कसा और उसको गाँव के बाहर घसीट कर डाल आए। लौटकर स्नान किया, दुर्गापाठ पढ़ा और गंगाजल छिड़का।"[81] यह स्पष्ट है कि अब सामाजिक सुधार आन्दोलनों का विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में भी हो रहा था।

निम्न वर्गों में जिस चेतना का प्रसार हो रहा था उसके बारे में विवेकानन्द ने कहा, "इस सचाई के प्रति निचले वर्ग जाग रहे हैं और अपने वैध अधिकारों को हासिल करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर वे अपना एक संयुक्त मोर्चा बना रहे हैं। उच्च वर्ग अब कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, वह इस निचले वर्ग को कुचल नहीं सकता। उच्च वर्गों का कल्याण अब इसी में है कि वे निचले वर्गों के वैध अधिकारों को हासिल करने में उनकी सहायता करें।"[82] इससे सुधारों के बाद उनके सम्बन्धों में तनाव नहीं आयेगा। विवेकानन्द ने देश के उद्धार के लिए इसी निम्न वर्ग को सक्षम माना है। प्रेमचन्द स्वयं आर्य समाज के सदस्य थे और इसके समाज सुधार के विचारों के प्रबल समर्थक।

आधुनिक पूँजीवादी समाज में जाति के संबंध बहुत लम्बे समय तक कायम नहीं रहेंगे। इस तथ्य से प्रेमचन्द परिचित थे। "कांग्रेस के स्वयं सेवकों में सभी जाति और बिरादरी के युवक हैं एक साथ, एक ही केम्प में रहते हैं, साथ खाते हैं, साथ सोते हैं। ... सिद्धान्त रूप से ऊँच-नीच का झगड़ा मिट गया ... लेकिन देहातों में यह पहुँचते-पहुँचते अभी एक जमाना लग जायगा। कठिनाई इसलिए बढ़ गई है कि अछूत स्वयं अपने को नीच समझता है और ऊँची जातियों से दूर रहना ही अपना धर्म समझता है।"[83] वहीं शहरों में नए संचार और परिवहन साधनों, सम्पत्ति संबंधों और आधुनिक उद्योगों के विकास के साथ जातिगत आधार विघटित हुए। "ताज होटल में ब्राह्मण मिल मालिक शूद्र मिल मालिक के साथ भोजन करने लगा। शहरों में... होटलों और जलपानघरों में विभिन्न जातियों के लोग जाने लगे।"[84] लेकिन व्यापक रूप से इन्हें व्यवहार में न लाने के लिए रूढ़िवादी जातिपंथियों ने जाति द्वारा निर्धारित नियमों के पालन पर बल दिया।[85]

'कर्मभूमि' में शहरी समाज का प्रतिनिधि अमरकान्त चमारों की बस्ती में गरीबी देखकर आश्चर्यचकित हो जाता है। "ये समाज के वे लोग हैं जिन्हें ऊँची जाति के लोग मनुष्य नहीं समझते, जो सैकड़ों हज़ारों साल से सम्पत्तिशाली लोगों की गुलामी करते चले आए हैं, मुर्दा मांस पा जाते हैं तो उसे जिन्दगी की सबसे बड़ी न्यामत समझते हैं। पहले तो अमरकान्त वापस जाने का विचार करता है फिर उन्हें सुधारने के उद्देश्य से वहीं रुक जाता है। उनकी अशिक्षा-अंधविश्वास, गंदगी आदि के सुधार के साथ-साथ उन्हें गाय का मांस न खाने के लिए तैयार करता है।"[86] वहीं दूसरी ओर "हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते, और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं, पर आपको उनके साथ भोजन करते देखते हैं।.... जब आप खुद अज्ञान में पड़े है, तो हमारा उद्धार केसे कर सकते हैं?... आइए अपनी आत्मा का परिष्कार

कीजिए।"[87] 'सिर्फ एक आवाज' और 'दोनों तरफ से'[88] जैसी कहानियों में भी अछूतोद्धार के प्रश्न को उठाया गया है।

इस प्रकार सामाजिक जीवन में प्रेमचन्द असमानता के दुष्परिणामों से आगाह करते हुए भारतीय समाज को भावी क्रान्तियों के प्रति आगाह करते हैं। इसके लिए वह शिक्षित समाज के प्रयासों को ही कारगर मानते हैं। अम्बेडकर के अनुसार, "जाति व्यवस्था को नष्ट किए बिना अछूतोद्धार संभव नहीं है।"[89] आज इनके साथ भले ही छूआछूत का बर्ताव नहीं किया जाता है, लेकिन इनके विरुद्ध अत्याचारों में कमी नहीं आई है। "इनके भीतर आत्मसम्मान, मर्यादा और आत्मविश्वास का जो भाव आना चाहिए, वह नहीं आ पाया है।"[90] आवश्यकता उस अहसास को जाग्रत् करने की है।

सामाजिक अन्धविश्वास

प्रेमचन्द का पहला उपलब्ध उपन्यास 'असरारे मआबिद' अर्थात 'देवस्थान रहस्य' (1903) में प्रेमचन्द ने महन्तों और पुजारियों की कपटता और दुश्चरित्रता का वर्णन किया है। इसमें मन्दिर के पुजारियों के ठाट-बाट का स्थायी आधार वह इलाका है जिसके लगान से इतनी आमदनी होती है कि पुजारी वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। इसमें समाज सुधार का प्रयास धर्म क्षेत्र से किया गया है जो तत्कालीन धार्मिक सुधार आन्दोलनों का प्रभाव है। अतः आरम्भिक रचनाओं से ही प्रेमचन्द ने महंतों और पंडितों के प्रति घृणा प्रदर्शित की है, लेकिन उनकी यह घृणा उनकी जाति विशेष के प्रति नहीं वरन् उसके शोषण के प्रति है।

भारत में पंडे-पुरोहित धर्म के नाम पर ठग विद्या चलाने वाले आचार्य लोग गांधी के अछूतोद्धार से बेहद नाराज थे। गालियों से लेकर जूतों तक की बौछार उन्होंने गांधी पर की। किन्तु गांधी ने अपने प्रभाव से उन्हें सक्रिय राजनीति में खींचा।[91] "1932 के साम्प्रदायिक निर्णय का गांधी ने विरोध किया और 20 सितम्बर को गांधी ने हरिजनों के लिए अलग निर्वाचक मंडल के मुद्दे के विरुद्ध 'आमरण अनशन' किया। फलतः गांधी और डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के बीच 'पूना समझौता' हुआ। जेल से रिहा होने के बाद नवम्बर 1933 और अगस्त 1934 के बीच उन्होंने 12,500 मील की हरिजन यात्रा की।"[92] प्रेमचन्द ने गांधी के इस प्रयास की सराहना की और इसका विरोध करने वाले शास्त्राभिमानी पंडितों की आलोचना की।

"सरकारी साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा करोड़ों अछूत भाई हिन्दू समाज से अलग हुए जा रहे थे,... और जब गांधीजी अपने प्राणों का बलिदान करके उन्हें बचाने लगे,

तो वर्णाश्रम और सनातनी कहे जाने वाले काशी के कुछ शास्त्रोपजीवी पंडितों ने महात्मा जी को सार्वजनिक सभा में अपशब्द कह डाले, किन्तु सूर्य पर थूकने वाले की दुर्दशा सबको मालूम है।... संयुक्त प्रान्त का दौरा करते समय महात्मा गांधी विगत वर्ष काशी में आए, तो केवल शास्त्रभिमानी पंडितों ने ही काले झंडे दिखाकर उनका स्वागत किया था।... महात्मा जी पूरे भारत में घूम आये थे, कहीं भी किसी सनातनी ने उनका अपमान नहीं किया था, किन्तु काशी ने अपने सिर कलंक ले ही लिया।"[93]

पंडा-पुरोहित वर्ग की रूढ़िवादिता प्रेमचन्द युग में राष्ट्रीयता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी और प्रेमचन्द ने इनके ढोंग पर तीव्र प्रहार किए। यद्यपि 'भारतीय समाज में ब्राह्मणों को शीर्ष स्थान प्राप्त था। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण वर्ग की स्थिति बहुत दृढ़ हुई और ब्राह्मणों की बढ़ती हुई श्रेष्ठता की तुलना में शूद्रों की अवनति और भी तीव्रता से उभर आई।..... तीनों निम्न वर्गों को आदेश हुआ कि वे ब्राह्मण के उपदेशों के अनुसार रहें जो उनके कर्तव्यों को भी निर्धारित करें।'[94]

वह दया, धर्म, परोपकार जैसे गुणों से सम्पन्न थे, लेकिन धार्मिक रूढ़ियों के विकास के इन गुणों का स्थान अन्धविश्वास, कपटता और धूर्तता ने ले लिया।

'निर्मला' और 'निमन्त्रण' में पुरोहितों की भोजन भट्टता का वर्णन है। प्रेमचन्द लिखते हैं, "मोटेराम शास्त्री हलवाई की दुकान पर जा बैठे और तर माल चखने लगे। खूब छक कर खाया। ढाई तीन सेर चट कर गए।"[95] 'सत्याग्रह' में मोटेराम शास्त्री अपने अनशन के पहले दिन रात्रि में चोरी से अपनी क्षुधा मिटाते हैं। दूसरे दिन मन्त्री उनके समक्ष मिठाइयों का दोना लेकर पहुँचते हैं तो क्षुधा प्रबल होती है और वह व्रत तोड़ देते हैं। "चाँदनी छिटकी हुई थी। लोगों ने आकर देखा, पंडितजी मिठाई ठिकाने लगाने में वैसे ही तन्मय हो रहे हैं, जैसे कोई महात्मा समाधि में मग्न हो।" "हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।"[96]

खान-पान के दृष्टिकोण से ब्राह्मणों को पवित्र माना जाता है, लेकिन इसकी वास्तविकता को भी प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में महत्व दिया है। 'कर्मभूमि' में चमार कहते हैं, "सारी दुनियाँ हमें इसीलिए तो अछूत समझती है कि हम दारू-शराब पीते हैं, मुरदा मांस खाते हैं, और चमड़े का काम करते हैं और हममें क्या बुराई है?"[97] इसी उपन्यास में लाला समरकांत कथा कराते हैं जिसमें कुछ अछूतों के जाने से वहाँ अपवित्रता फैल जाती है। लाला सभी को मारकर निकालने की आज्ञा देते हैं। एक बूढ़े अछूत ने कहा कि वे लोग तो जूतों के पास बैठे थे। परन्तु ब्रह्मचारी जी के लिए जूता पवित्र था जूता बनाने वाला अपवित्र। जब लोगों को यह पता चलता है

कि ये लोग रोज आकर मन्दिर को भ्रष्ट करते थे तो उन्होंने पवित्र जूतों से अपवित्र चमारों की पिटाई की।[98] यह अपवित्रता केवल गरीब भारतीयों पर लागू होती है क्योंकि "जो बलवान है वहीं ऊँचा है, वही नीच है, जो निर्बल है।"[99] इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में उन लोगों को केन्द्र में रखा जो समाज में हाशिये पर थे।

"हम कितने ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते।"[100] ऐसी मानसिकता को प्रेमचन्द ने धूर्तता बताया है। 'मोटोराम शास्त्री' कहानी में मोटेराम अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के प्रयास में अध्यापन कार्य को छोड़कर वैद्य बनते हैं। यद्यपि वैद्यकी का उन्हें ज्ञान नहीं है। वह अपनी पत्नी से कहते हैं 'वैद्यक पढ़ने से कुछ नहीं होता, संसार में विद्या का इतना महत्व नहीं जितना बुद्धि का। दो चार सीधे-सादे लटके हैं। आज ही अपने नाम के आगे भिषगाचार्य बढ़ा लूँगा, कौन पूछने आता है,... दो चार पैसे का हड़-बहेड़ा-आँवला कूट-छान कर रख लूँगा।... समाचार पत्रों में विज्ञापन दूँगा और नोटिस बटवाऊँगा। उसमें लंका, मद्रास, रंगून, कराची आदि दूरस्थ स्थानों के सज्जनों की चिट्ठियाँ दर्ज़ की जाएँगी। ये मेरे चिकित्सा-कौशल के साक्षी होंगे।... फिर देखो वैद्यक कैसी चलती है।"[101]

पंडा-पुरोहित वर्ग का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा, "पंडित घासीराम ईश्वर के परम् भक्त थे। नींद खुलते ही ईशोपासना में लग जाते। मुँह-हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी। उसके बाद आध घंटे तक चन्दन रगड़ते, फिर आइने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते।.... फिर ठाकुरजी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चन्दन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घंटी बजाते। दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भंग छान कर बाहर आते। जब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते। ईशोपासना का तत्काल फल मिल जाता। वही उनकी खेती थी।"[102]

यद्यपि पंडा-पुरोहित श्राद्ध, पिण्डदान की वास्तविकता से परिचित हैं, लेकिन फिर भी उसका समर्थन करते हैं। क्योंकि यजमानों की यह आस्था उन्हें लूटने का साधन होती है। "जो विद्वान आज इस युग में श्राद्ध, पिण्डदान और वर्णाश्रम में विश्वास रखता है, जो आज गोबर और गोमूत्र को पवित्र समझता है, जो देवपूजा को मुक्ति का साधन समझता है, वह विद्वान केसे हो सकता है? मैं खुद यजमानों से सब कृत्य कराता हूँ, निसन्देह जानता हूँ, हलवा और कलाकन्द किसी आत्मा के पेट में नहीं, मेरे पेट में जाता है, फिर भी यजमानों को मूड़ता हूँ, तो इसलिए कि मेरी यह जीविका है।... पाँच पैसे का गऊदान करके भवसागर पार उतरना चाहता है तो मुझे

क्या कुत्ते ने काटा है जो कहूँ कि यह सब मिथ्या है, सरासर मिथ्या। आती हुई लक्ष्मी को कौन दुतकारता है?"[103]

प्रेमचन्द ने अपने पात्रों के माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों को उभारा है। 'गोदान' में पंडित का सूद न चुकाने पर अनर्थ होने की भावना है। वहीं 'बाबाजी का भोग' में रामधन साधु को खाली हाथ जाने नहीं देता, इसीलिए वह घर में अनाज, दाल, घी न होने पर भी उसका प्रबन्ध करता है। स्वयं उसके घर चूल्हा नहीं जला। अन्ततः वह सोचता है कि उसके संस्कार ही उसका शोषण करते हैं। इस धार्मिक शोषण की अति तब होती है जब बाबाजी रामधन की पत्नी के सारे जेवर और रुपये दुगने करने का लालच देकर चम्पत हो जाता है।[104] यहाँ भारतीय समाज में धार्मिक अंधविश्वास को प्रेमचन्द ने बहुत व्यावहारिक रूप से प्रकट किया है।

"हिन्दू समाज में पूजने के लिए केवल लंगोट बाँध लेने और देह में राख मल लेने की जरूरत है अगर गांजा और चरस उड़ाने का अभ्यास भी हो जाए, तो और भी उत्तम। यह स्वाँग भर लेने के बाद फिर बाबाजी देवता बन जाते हैं। मूर्ख हैं, धूर्त हैं, नीच हैं, पर इससे कोई प्रयोजन नहीं। वह बाबा हैं।... बाबा जी, 'संसार मिथ्या हैं' का उपदेश देने लगते हैं, उधर घी, शक्कर और आटे की झड़ी लग जाती है, लकड़ियों के कुएँ गिरने लगते हैं।.... जिन लफंगों को दो आने रोज की मजूरी न भी लगती, वे ही हिन्दुओं के इस अंधविश्वास के कारण खूब तर माल उड़ाते हैं, खूब नशा पीते हैं और खूब मौज करते हैं, और चलते वक्त सौ पचास रुपये कोई ब्रह्मभोज कराने या भण्डारा चलाने के लिए वसूल कर लेते हैं।... आज हर पच्चीस आदमियों में से एक साधू है।"[105] 'मृतका भोज' कहानी में प्रेमचन्द ने समाज में प्रचलित कुरीतियों की धज्जियाँ उड़ाई हैं, साथ ही जनसाधारण पर पड़ने वाले प्रभावों को भी महत्व दिया है। सेठ रामनाथ अपनी पत्नी, बच्चे और उनके सिर पर ऋण का बोझ छोड़कर मर गए। उनके मरने पर बिरादरी ने उनकी बहुत प्रशंसा की, क्योंकि उनके नाम के अनुरूप बिरादरी का भोज भी होना था। विधवा के गहने उतार लिए, उसका घर गिरवी रखा गया और शानदार भोज का प्रबन्ध हुआ, परन्तु रामनाथ के बच्चों के लिए भी कुछ बचा है या नहीं इसकी परवाह किसी को नहीं।[106] इस प्रकार प्रेमचन्द ने स्पष्ट किया है कि धार्मिक अन्धविश्वासों से पण्डे पुरोहित किस तरह लाभान्वित होते हैं। "यह वह दौर था जब समाज सुधारकों ने लोगों से अपील की थी कि मृत्युपरांत मुक्ति के लिए प्रयास करने के बदले वे वास्तविक दुनिया में अपनी स्थिति में सुधार करें।"[107]

प्रेमचन्द धार्मिक ढकोसलों और रूढ़ियों विशेषकर जाति प्रथा के प्रबल विरोधी थे। उनकी विचारधारा में असंगतियाँ हैं और कभी-कभी वे भाग्यवाद का समर्थन

करने लगते हैं, किन्तु यह सत्य है कि उनकी विचारधारा भौतिकतावाद से प्रभावित थी। जब बिहार में भूकंप के लिए गांधी जी ने पहले के पापों को उत्तरदायी बताया तो प्रेमचन्द ने विरोध करते हुए लिखा, "अभी उस दिन महात्मा जी ने कहा हमारे पापों के कारण ही यह भूकंप आया है और उनकी धारणा में अछूत कहलाने वाले मनुष्यों के साथ दुर्व्यवहार ही महापाप है।... संघवाले महात्माजी को कोसते हैं और कहते हैं कि अछूतों को मन्दिर में प्रवेश कराने के पाप का ही परिणाम है यह भूकंप।. ... यह सब व्यर्थ की बातें हैं भूकंप किसी पाप पुण्य के कारण नहीं हुआ वह प्रकृति की एक लीला है।"[108] "15 फरवरी 1934 को बिहार में जो भयंकर भूकंप आया उसे गांधी ने 'सवर्ण हिन्दुओं के पापों का दैवी दंड' कहा—यह एक ऐसी सुधार विरोधी पुरातनपंथी बात थी जिससे रवीन्द्रनाथ को गहरा सदमा लगा।"[109]

क्या प्रेमचन्द ब्राह्मण विरोधी थे?

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणों पर तीव्र प्रहार किए हैं। लेकिन यह प्रहार पंडा-पुरोहित वर्ग की झूठी धर्मनिष्ठा, मिथ्याभिमान, रूढ़िवादिता, अकर्मण्यता, वैभवपूर्ण जीवन और भोजन भटट्ता के प्रति हुए हैं। हिन्दी साहित्य के उस दौर में प्रेमचन्द ही एकमात्र ऐसे लेखक थे जिन पर ब्राह्मणवादी ब्राह्मणों, श्री नाथ सिंह और पण्डित ज्योति प्रसाद 'निर्मल', ने यह आरोप लगाया कि "वह ब्राह्मण विरोधी हैं और ब्राह्मणों के विरुद्ध घृणा का प्रचार कर रहे हैं।"[110] इन आरोपों का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा, "केवल पंडित या पुजारी ही ऐसा शब्द है, जिससे दुर्भाग्यवश ब्राह्मण का बोध हो जाता है और यह कहना बड़ी दूर की कौड़ी लाना है कि जो इस पाखंडाचार के प्रति घृणा फैलाता है, वह ब्राह्मण जाति का द्रोही है। ब्राह्मणत्व की आड़ में यह पाखंडाचार देखकर जितनी ग्लानि इन पंक्तियों के लेखक (प्रेमचन्द) को हो सकती है, उससे कहीं ज्यादा स्वयं उन्हें होती है, जो वास्तव में ब्राहमण हैं।..... ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं, एक महान पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुँचता है।"[111] वास्तव में प्रेमचन्द ने उस पाखंडी वर्ग को अपना निशाना बनाया है।

प्रेमचन्द ने लालची पंडा-पुरोहित वर्ग की स्वार्थपरता का विरोध किया है। वह ब्राह्मणों को सच्चे जीवन और सच्चे विचारों के प्रचारक मानते हैं, जो हिन्दू समाज के पथ प्रदर्शक थे। वह उन्हें ब्राह्मण मानने को तैयार नहीं थे, जो दुर्भाग्यवश ब्राह्मण कहे जाते थे, पर जो ब्राह्मणत्व से उतना ही दूर हैं, जितना नरक से स्वर्ग। हरेक टके पंथी को ब्राह्मण कहकर वह इस पद का अपमान नहीं करना चाहते थे।[112] 'अपनी करनी का फल बहुत भोग चुका। इस बम्हनई का बोझ अब नहीं उठाए उठता। लुक-छिपकर चाहे जितने कुकर्म करो, कोई नहीं बोलता। परतच्छ कुछ नहीं कर सकते, नहीं कुल

में कलंक लग जाएगा। यह धर्म का बंधन बड़ा कड़ा होता है। जिस समाज में जन्मे और पले, उसकी मर्यादा का पालन तो करना ही पड़ता है। और किसी जाति का धर्म बिगड़ जाए, उसे कोई विशेष हानि नहीं होती, ब्राह्मण का धर्म बिगड़ जाए, तो वह कहीं का नहीं रहता। उसका धर्म ही उसके पूर्वजों की कमाई है। उसकी वह रोटी खाता है।... समाज के नाते आदमी का अगर कुछ धर्म है, तो मनुष्य के नाते भी उसका कुछ धर्म है। समाज-धर्म से समाज आदर करता है, मगर मनुष्य-धर्म पालने से तो ईश्वर प्रसन्न होता है।'[112]

बनारसीदास चतुर्वेदी को एक पत्र में प्रेमचन्द ने लिखा था "पाखंड और कट्टरता और सीधे-सादे हिन्दू समाज के अन्धविश्वास का फायदा उठाना इन पुजारियों और पंडों का धंधा है और इसीलिए मैं उन्हें समाज का एक अभिशाप समझता हूँ और उन्हें अपने अधःपतन के लिए उत्तरदायी समझता हूँ।"[113] प्रेमचन्द मानते हैं कि "कुरुप के प्रति घृणा और सुन्दर के प्रति प्रेम भाव दिखाना साहित्य का उद्देश्य है।"[114] 1934 में प्रेमचन्द ने राष्ट्रीयता की माँग के लिए ढोंगी पुरोहितों के विरुद्ध संघर्ष की आवश्यकता पर बल दिया। "हमें किसी व्यक्ति या समाज से कोई द्वेष नहीं, हम अगर टंकेपंथीपन का उपहास करते हैं, तो जहाँ हमारा एक उद्देश्य यह होता है कि समाज में से ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र का ढोंग मिटावें, वहाँ दूसरा उद्देश्य यह भी होता है कि टंकेपंथियों के सामने उनका वास्तविक और अतिरंजित चित्र रखें, जिसमें उन्हें अपने व्यवसाय, अपनी धूर्तता, अपने पाखंड से घृणा और लज्जा उत्पन्न हो, और वे उनका परित्याग कर ईमानदारी और सच्चाई की जिन्दगी बसर करें और अंधकार की जगह प्रकाश के स्वयंसेवक बन जाएँ।"[115]

प्रेमचन्द ने स्पष्ट रूप से कहा कि मेरे ऊपर यह आरोप हिन्दुओं ने ही नहीं लगाया मौलवियों ने भी लगाया है। लेकिन "हमारा आदर्श सदैव यह रहा है कि जो धूर्तता और पाखण्ड और सबलों द्वारा निर्बलों के अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो या पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो या कोई हो। इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे, और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवाभाव पाया है।"[116]

इस प्रकार प्रेमचन्द ने पंडा-पुरोहित वर्ग की आलोचना की है न कि समस्त ब्राह्मण जाति की। समाज-धर्म से समाज आदर करता है, मगर मनुष्य-धर्म पालने से तो ईश्वर प्रसन्न होता है।[116.1] अतः उन्हें ब्राह्मण विरोधी कहना अनुचित होगा और फिर प्रेमचन्द जातिवाद के चक्कर में पड़ने वाले थे भी नहीं, हाँ, कहीं-कहीं सामन्ती

प्रभाव दिख जाता है। "उन्होंने सर्वत्र शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई है, चाहे यह शोषण जमींदारों का हो या पंडों और पुरोहितों का।"[117] प्रेमचन्द की दृष्टि से आदर्श ब्राह्मण वह होगा जिसमें अहंकार के स्थान पर नम्रता हो और जो अपने बड़प्पन को प्रदर्शित न करे बल्कि उसे स्वयं महसूस कराए, उसका आचरण शिष्ट हो और वह अपने से बड़ों का आदर करे, चाहे वह किसी भी धर्म से सम्बन्धित हो। न कि डंके की चोट पर कहें कि "हम, और सब प्राणियों से ऊँचे हैं, हमें दंडवत् करो, हमारा चरण-रज माथे पर लगाओ।"[118] वास्तव में जो "अपना धर्म पाले वही ब्राह्मण है, जो धरम से मुँह मोड़े, वही चमार है।"[119] इस प्रकार प्रकार प्रेमचन्द ने एक जाति के रूप में ब्राह्मणों को सम्मानित और प्रतिष्ठित जाति के रूप में स्वीकार किया है। वहीं उन कपटी और स्वार्थी ब्राह्मणों को अपने पद, प्रतिष्ठा और समाज में सम्मानित स्थिति के अनुकूल व्यवहार करने की सलाह दी है।

अछूतों के मन्दिर प्रवेश पर प्रतिबन्ध

अछूतों के मन्दिर प्रवेश की समस्या को लेकर प्रेमचन्द ने कई रचनाएँ लिखी हैं, जो तत्कालीन समाज सुधार आन्दोलन और मन्दिर प्रवेश आन्दोलनों का प्रभाव था। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द गांधी और आर्य समाज द्वारा इस क्षेत्र में किए गए कार्यों से भी प्रभावित थे। आर्य समाज का आधार वेद थे, अतः वह जाति व्यवस्था का परित्याग नहीं कर सकता था। लेकिन इसके संस्थापक विवेकानन्द ने लोगों को जातिगत भेदभाव और छूआछूत से ऊपर उठने के लिए प्रेरित किया। अस्पृश्यों के जीवन पर अनेक सामाजिक और धार्मिक प्रतिबन्ध लगे हैं। अछूत यद्यपि हिन्दू संस्कार को मानते हैं, लेकिन हिन्दू धर्माचार्यों ने एक तरह से उन्हें धर्म से बहिष्कृत कर दिया है,। 'मन्दिर' कहानी में प्रेमचन्द ने मन्दिर प्रवेश के निषेध का वर्णन किया है। अपनी विवशता के सम्बन्ध में सुखिया कहती है "मेरे छू लेने से ठाकुरजी को छूत लग गई। पारस को छूकर लोहा सोना बन जाता है, पारस लोहा नहीं हो सकता। मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जाएँगे। मुझे बनाया, तो छूत नहीं लगी?"[120]

19वीं और 20वीं शताब्दी के उदार धार्मिक विचारधारा के सुधारवादियों का यह मानना था कि ईश्वर के दर्शन का अधिकार अछूतों को भी मिलना चाहिए, यह उनका मानवीय अधिकार है, प्रेमचन्द ने इस माँग का समर्थन करते हुए भी इसे उनकी कोई बड़ी "उपलब्धि नहीं माना है। उन्होंने मन्दिरों में पनप रहे अत्याचारों का वर्णन करते हुए लिखा कि यह कोई पूजनीय स्थान नहीं है।"[121] 'कर्मभूमि' में नैना महंतों की पोल खोलते हुए कहती है, "आधी रात तक इसी मन्दिर में जुआ खेलते हो, पैसे-पैसे पर ईमान बेचते हो, झूठी गवाहियाँ देते हो, द्वार-द्वार भीख माँगते हो,

फिर भी तुम धर्म के ठेकेदार हो। तुम्हारे तो स्पर्श से ही देवताओं को कलंक लगता है।"[122] वहीं 'सेवासदन' की सुमन कहती है, "एक बार ठाकुरद्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही। किसी ने भीतर न जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानो मेरे चरणों से वह मंदिर पवित्र हो गया।"[123]

प्रेमचन्द को 'नास्तिक विचारधारा का साहित्यकार' कहा गया है।[124] लेकिन प्रेमचन्द मूर्ति-पूजा के विरोधी नहीं वरन् टका पूजा के शत्रु हैं।[125] 'हिन्दू धर्म तो यह कहता है कि प्राणिमात्र में परमात्मा का वास है, ... मगर मुसलमानों में तो मेहतर भी मस्जिद में जाकर नमाज़ पढ़ सकता है, और यहाँ समाज का एक बड़ा भाग मंदिरों से बहिष्कृत किया जाता है।... यह व्यवस्था हिन्दू धर्म को कलंकित करने वाली है और हिन्दू समाज अब इस अनीति को सहन नहीं कर सकता है।'[126] यदि हरिजनों के देवता मन्दिर में आ सकते हैं, तो हम नहीं समझते कि हरिजनों के हिन्दू मन्दिरों में आ जाने से कौन सा अनर्थ हो जाएगा।[127] 1931 की जनगणना प्रतिवेदन के अनुसार भारत में पददलितों की संख्या 50,192,000 थी। उत्तर प्रदेश में वह सारी आबादी के 23 प्रतिशत थे।[128] दूसरे शब्दों में यह कुल हिन्दू आबादी का पाँचवाँ भाग थे।

तत्कालीन राजनीतिक परिवेश में 1917 तक कांग्रेस छुआछूत से सम्बन्धित मुद्दों को उठाने से इनकार करती आई थी। 1917 में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास करके जनता से अपील की कि वह ऐसी सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करें, जिनके कारण पिछड़े वर्गों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। गांधीजी ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इसके विरुद्ध ठोस कदम उठाया और घोषणा की कि छुआछूत के खिलाफ संघर्ष आजादी के लिए किए गए संघर्ष से कम महत्वपूर्ण नहीं है।[129] महात्मा जी ने सबसे पहले हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का प्रश्न लिया है।[130] प्रेमचन्द ने गांधी के इन प्रयासों की प्रशंसा करते हुए रूढ़िवादियों से उनका मार्ग अवरुद्ध न करने की अपील की।

'महात्मा जी के व्रत और तप का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि हरिजनों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार एक प्रकार से शून्य के बराबर मिला है। लाखों मन्दिर वाले इस देश में कुछ मुट्ठी भर हैं और केवल साधारण मन्दिर ही ऐसे हैं, जहाँ वे दर्शनार्थ जा सकते हैं। .... गांधी के उपवास के बाद देश में हरिजन आन्दोलन की बाढ़ सी आ गई पर ..... हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि महात्मा जी के व्रत के दिनों में भी हरिजनों के लिए मन्दिरों का द्वार खुलने की संख्या नगण्य सी थी।[131] उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत, केरल और तमिलनाडू में मन्दिर प्रवेश आन्दोलन अधिक सफल रहा।[132]

'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने मन्दिर प्रवेश आन्दोलन को विस्तृत रूप से वर्णित किया है। ठाकुर द्वारे में एक महीने से कथा हो रही है। एक दिन पता लगा कुछ अछूत पीछे जूतों के पास बैठकर कथा सुन रहे हैं। यह सुनकर ब्रह्मचारी जी ने अपना माथा पीट लिया। "ये दुष्ट रोज यहाँ आते थे। रोज सबको छूते थे। इनका छुआ हुआ प्रसाद लोग रोज खाते थे। इससे बढ़कर अनर्थ क्या हो सकता है?"[133] इस घटना से व्यथित डॉ. शान्तिकुमार अछूतों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं "जितने जूते खा सको, खाओ। तुम्हें इतनी खबर नहीं, कि यहाँ सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं। तुम्हारी इतनी मजाल कि इनके भगवान के मंदिर में कदम रखा।"[134] साथ ही वह धर्माचार्यों को चुनौती देता है "अन्धें भक्तों की आँखों में धूल झोंककर यह हलवे बहुत दिन खाने को ना मिलेंगे महाराज, समझ गए? अब वह समय आ रहा है। जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं।"[135] अन्ततः शान्तिकुमार, अमरकांत और नैना के प्रयासों से पुलिस दमन का सामना करने के बावजूद अछूत मंदिर में प्रवेश करते हैं और दूसरे दिन मंदिर में भारी समारोह हुआ।

'कर्मभूमि में मंदिर प्रवेश को प्रेमचन्द ने आर्थिक महत्व देकर अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित की है। इस समारोह से किसे लाभ था चमारों को या पंडे-पुजारियों को? "ब्रह्मचारी आज फिर विराजमान हो गए और जितनी दक्षिणा उन्हें आज मिली, उतनी शायद उम्र भर में न मिली होगी।"[136] इस प्रकार "अछूत के पैसे बेधड़क ले लिए जाते हैं, अछूत कोई मंदिर बनाए आप दल बल के साथ जाएँगे, मंदिर में देवता की स्थापना करेंगे, और तर माल खाएँगे हाँ अछूत ने छुआ न हो, दक्षिणा लेंगे, इसमें कोई पाप नहीं, न होना चाहिए, लेकिन अछूत मंदिर में नहीं जा सकता।"[137] मंदिर प्रवेश को लेकर प्रतिक्रियावादियों और सुधारकों में संघर्ष अनिवार्य है। गांधी के हरिजन आंदोलन के दौरान अप्रैल 1934 में बक्सर, जसीडीह और अजमेर में सनातनियों ने गांधी की हरिजन सभाओं को भंग किया और पूना में 25 जून का उनकी कार में बम से हमला किया। वहीं ब्रिटिश सरकार रूढ़िवादी जनमत को विरोधी बनाना नहीं चाहती थी। अतः अगस्त 1934 में सरकारी सदस्यों ने लेजिस्लेटिव असेंबली में 'टेंपल एंट्री बिल' को पराजित करने में सहायता की।"[138] इस धार्मिक मामले में सरकार की मदद लेने वालों की आलोचना करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है कि "आपकी सेवा में दूसरे व्यवस्था लेने आया करते थे आपका फतवा बड़े-बड़े मसलों को हल कर दिया करता था और आज आप एक धर्म के विषय को लिए वायसराय के पास, कुत्तों की तरह दुम हिलाते दौड़े चले जा रहे हैं।"[139] यदि उनमें आत्मसम्मान होता तो वे चूल्लू भर पानी में डूब मरते।

प्रेमचन्द मंदिर प्रवेश के प्रयास को एक कठिन काम मानते थे। वह जानते थे कि यह समस्या सामाजिक से अधिक आर्थिक है। "हरिजन मंदिर प्रवेश के लिए उतने उत्सुक नहीं हैं जितना अपनी आर्थिक दशा को सुधारने के लिए। वे चाहते हैं कि अपने गृह उद्योग द्वारा वह स्वतन्त्र हो जाएँ।"[140] डॉ. अम्बेडकर से भी गांधी के विरुद्ध कहा है कि "अछूतों को मंदिर प्रवेश की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी इस बात की कि साधारण हिन्दू उनसे सज्जनता का व्यवहार करें और उन्हें अपने बराबर समझें।"[141] लेकिन यह समानता या समाजवाद संभव नहीं है।"[142]

सांस्कृतिक जीवन

"प्रेमचन्द अपने देश की संस्कृति के उपासक थे, वह उसका विकास करके उसे आगे विकसित करना चाहते थे, इसलिए वह दूसरे देशों और जातियों की संस्कृति को घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे।"[143] इसके बावजूद उन्होंने पश्चिम की भौतिकतावादी संस्कृति का विरोध किया जिसमें समस्त संस्कारों का आधार पूँजी है। प्रेमचन्द पूँजीवादी व्यवस्था से घृणा करते हैं, इसीलिए उन्होंने जगह-जगह सम्पत्ति की निन्दा की है। जो मनुष्य को बुरे कामों के लिए प्रेरित करती है। "अगर संपत्ति से इतना पतन हो सकता है तो मैं कहूँगा कि इससे बुरी चीज संसार में कोई नहीं।"[144]

प्रेमचन्द समाज को आगाह करते हुए लिखते हैं कि "धन के आगे संस्कारों का कोई मूल्य नहीं, लेकिन दूसरी ओर समाज में धन के द्वारा जो मान-सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है वह पतनोन्मुखी होती है।"[145]

प्रेमचन्द ने रामायण और महाभारत के रचयिताओं की सांस्कृतिक विरासत की प्रशंसा की है, "व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वे आज भी भारत का सर ऊँचा किए हुए हैं। राम अगर बाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। "उन्होंने यह नहीं कहा कि यह सांस्कृतिक विरासत ही प्रगतिशील साहित्य है। वह मानते हैं कि साहित्य का उत्थान अब राष्ट्र का उत्थान है। "उन्होंने वाल्मीकि, व्यास, तुलसी, सूर और कबीर से ... अपने देश और अपनी संस्कृति के लिए कष्ट सहना सीखा था। वह इनकी विरासत को आगे बढ़ाने वाले साहित्यकार थे, वह बीसवीं सदी में भारतीय संस्कृति का एक नया आगे बढ़ा हुआ चरण थे।"[146]

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में विशेष रूप से ग्रामीण संस्कृति का वर्णन किया है। उनके खान-पान, रहन-सहन, संगीत, वेशभूषा आदि का उन्होंने चित्रण किया है। उन्होंने एक औसत गरीब के घर का चित्रण करते हुए लिखा "द्वार एक परदे की दीवार में था, जिसमें मुश्किल से दो खटोले पड़ सकते थे। सामने खपरैल का एक

नीचा सायबान था और सायबान के पीछे एक कोठरी थी, जो इस वक्त अँधेरी पड़ी हुई थी। सायबान में एक किनारे चूल्हा बना हुआ था और टीन और मिट्टी के दो-चार बर्तन एक घड़ा और एक मटका रखे हुए थे।"[147] "ऐसा बिरला ही कोई घर था जिसमें धातु के बर्तन दिखाई देते हैं। कितने घरों में तवे तक न थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर झोंपड़े में और कुछ न दिखाई देता था। ... और वे घर ही क्या थे ! एक-एक, दो-दो छोटी कोठरियाँ थीं—एक मनुष्य के लिए, एक पशुओं के लिए। उसी एक कोठरी में खाना, सोना-बैठना सब कुछ होता था।"[148]

'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने गरीबों और शहरों के मोहल्लों की तुलना करते हुए लिखा "एक फूल है — सुन्दर, स्वच्छ, सुगन्धमय, दूसरी जड़ है—कीचड़ और दुर्गन्ध से भी भरी, टेढ़ी-मेढ़ी, लेकिन क्या फूल को मालूम है कि उसकी हस्ती जड़ से है।"[149] "भोला गाँव का मुखिया था। द्वार पर बड़ी सी चरनी थी। जिस पर 10 या 12 गाय-भैसें खड़ी सानी खा रही थीं। ओसारी में एक बड़ा तख्ता पड़ा था। ... किसी खूँटी पर ढोलक लटंक रही थी। किसी पर मजीरा। एक ताख़ पर कोई पुस्तक बस्ते में बँधी रखी थी। जो शायद रामायण हो।"[150] यहाँ ग्राम-संस्कृति का यथार्थ चित्रण हुआ है जहाँ गाँव के एक सामान्य घर की आवश्यक व्यवस्था को दिखाया गया है।

इसी प्रकार गाँव में एक सामान्य या यूँ कहा जाय कि एक गरीब किसान के दैनिक भोजन का भी वर्णन किया गया है। होरी की थाली का वर्णन कुछ इस प्रकार हुआ है "जौ की रोटियाँ थीं पर गेहूँ जैसी सफेद और चिकनी। अरहर की दाल थी जिसमें कच्चे आम पड़े थे।"[151] इसी प्रकार मनोहर, बलराज और बजरंगी खाना खाने बैठते हैं। तीनों की थालियों में जौ की मोटी रोटियाँ, अरहर की दाल और बथुए का साग है। जब बजरंगी की माँ दूध का कटोरा उसके सामने रखती है जिसे वह फेंक देता है, क्योंकि "बजरंगी चमार को दूध नहीं मिला, जो अधिक काम करता है।"[152] बस यही आम जनता का षट्रस व्यंजन थे। अधिकतर दाल-भाजी नदारत ही रहती। गेहूँ के आटे का उपयोग तब होता जब घर में कोई पाहुना, मेहमान, आ जाए। यह आटा भी उधार लिया जाता है।[153] वहीं दूसरी ओर 'गोदान' में एक बैंक मैनेजर और शक्कर मिल के मालिक हैं जो खद्दर पहनते हैं और फ्रांस की शराब पीते हैं। जबकि ग्रामीण किसान ताड़ी-गाँजा भी नहीं पीते हैं।

प्रेमचन्द के पात्रों की वेशभूषा साधारण रही है, लेकिन उन्होंने वेशभूषा को व्यक्तित्व निखार में बहुत उपयोगी माना है। वह 'निर्मला' में चालीस वर्षीय तोताराम को उसके मित्र की सहायता से सलाह देते हैं, "यह ढीला-ढाला कोट फेंको, तन्जेब की चुस्त अचकन हो, चुन्नरदार पायजामा, गले में सोने की जंजीर पड़ी हुई, सिर पर जयपुरी साफा बँधा हुआ आँखों में सुरमा और बालों में हिना का तेल पड़ा हुआ, तोंद

का पिचकना भी जरूरी है। दोहरा कमरबंध बाँधों। जरा तकलीफ तो होगी पर अचकन सज उठेगी।"[154] उत्तर भारत में साधारण व्यक्ति का पहनावा धोती और बनियान और मोटी सूत की साड़ी है। प्रेमचन्द 'धोती' को बहुत महत्व देते हैं। 1932 में उन्होंने संयुक्त प्रान्त की अदालतों में धोती के बहिष्कार के संबंध में लिखा "वकील या डॉक्टर या व्यापारी अंग्रेजों को तो धोतियों से चिढ़ नहीं है, वहाँ लोग बेधड़क धोती पहने जाते है। धोती की मुमानियत केवल अदालतों के लिए है। बम्बई और मद्रास में तो अक्सर हिन्दू जज भी धोती पहनते हैं। फिर क्या धोती इसी प्रान्त में आकर अपमान की वस्तु हो जाती है?"[155] प्रेमचन्द के अनुसार, "पुराने लोग सजावट और बनावट को घृणा की दृष्टि से देखते थे। उस समय सभ्य कहलाने के लिए जरूरी नहीं था कि आपका बैंक में इतना हिस्सा हो, आपके बाल एल्बर्ट फैशन के कटे हो, आपकी दाढ़ी इटालियन या फ्रेंच हो, आपका कोट शिकारी हो, ... केम्ब्रिज हो या चीनी या जापानी हो, आपके जूते डर्बी या पंप हो। आपकी शेरवानी या सलीमशाही जूते पर उनकी निगाह न जाती थी।"[156] "उनकी वेशभूषा कोट, पैंट, बूट, कालर, हैट है।"[157]

एक ब्राह्मण की वेशभूषा की सामान्यजन की वेशभूषा से तुलना करते हुए उन्होंने पं. मोटेराम शास्त्री की डायरी में लिखा, "आपको एक कुरता और टोपी चाहिए। कुरते में एक गज़ से अधिक खद्दर न लगेगा। मैं लम्बी अंगरखी पहनता हूँ जिसमें सात गज़ से कम कपड़ा नहीं लगता। ... फिर बारह गज़ का साफा, पाँच गज़ की चादर ऊपर से।"[158]

महिलाओं में श्रृंगार की भावना स्वाभाविक है। आभूषणों के प्रति उनमें सहज आकर्षण है। यह बात अलग है कि आभूषण सोने के क्या, चाँदी के भी न मिलें। आभूषणों में गले में हँसली और हुसेल, कानों में करनफूल और सोने की बालियाँ हाथों में चाँदी के चूड़ें और कंगन पहनने की प्रथा थी।[159] गहनों के प्रति लगाव का प्रेमचन्द ने 'गबन' उपन्यास में विशद वर्णन किया है। जहाँ जालपा को बचपन से ही चन्द्रहार की चाहत है। इसमें प्रेमचन्द ने यह भी बताया है कि आभूषणों से लगाव होने के बावजूद आवश्यकता पड़ने पर उसे बेचने के बाद वह गर्व का अनुभव करती है।

'गोदान' में प्रेमचन्द ग्रामीण समाज के सांस्कृतिक जीवन का भी वर्णन किया है। धार्मिक होने पर भी अर्थाभाव के कारण इनके यहाँ सामान्यतः धार्मिक उत्सव नहीं होते। होली, दीवाली, ईद आदि पर्व त्योहार का उत्साह प्रेमचन्द की रचनाओं में कम मिलता है। "देहातों' में साल के छह महीने किसी-न-किसी उत्सव में ढोल-मंजीरा बजता रहता है। होली के एक महीने पहले से ही एक महीने बाद तक फाग उड़ती

है। असाढ़ लगते हैं आल्हा शुरू हो जाता है और सावन-भादों में कजलियाँ होती हैं। कजलियों के बाद रामायण गान होने लगता है। घर में अनाज नहीं देह में कपड़े नहीं, गाँठ में पैसे नहीं, कोई परवाह नहीं।"[160]

'गोदान' में यद्यपि गोबर शहर से आकर होली का उत्सव मनाता है और लोभी महाजनों का उपहास कर मनोरंजन करता है। इसी प्रकार 'कायाकल्प' में मुंशी वज्रधर द्वारा झिनकू को नकली पंडित बनाने का प्रसंग भी हास्यास्पद हैं। लेकिन ऐसे वर्णन बहुत कम हैं। पूजा-पाठ, लावनी-ख्याल, नाच-गान, पर्व-त्यौहार, कजली, बारहमास के वर्णन इसलिए कम हैं कि इसके लिए जिस अर्थ और मानसिक निश्चिन्तता की आवश्यकता है, वह उन किसानों में कम है। वे बिरहा-चैती, होली कजरी गाते हैं और नाचते भी हैं। 'कर्मभूमि' में सलोनी नींद का बुलाने के लिए गाती है। 'प्रेमाश्रम' में मनोहर धान के बोझे लादकर गाता हुआ गाड़ी हाँकता है। प्रेमचन्द ने गज़लों को कितना महत्व दिया है यह इसी से जाहिर है कि उन्होंने सुरमा और दोहरे कमरबंद के साथ सदाबहार गज़लों की माला का जिक्र किया है।[161] 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने किसानों के बदलते हुए सांस्कृतिक जीवन का वर्णन किया है। "निःसंदेह पहाड़ की तस्वीर खींचना आसान है, नदी के बहाव को चित्रित करना मुश्किल। प्रेमचन्द ने यथार्थ के बहाव को पकड़ लिया है, उसको उन्होंने भावी पीढ़ी में संचार भी किया है।"[162]

तत्कालीन शिक्षित और सभ्य लोगों में नृत्य वर्जित है, विशेष रूप से स्त्री, पुरुषों का एक साथ नाचना। प्रेमचन्द ने इस नृत्यहीन सभ्यता की तुलना जन-संस्कृति से की है, उन्हें वहाँ कोई अश्लीलता नहीं दिखाई देती। वह जनसाधारण की कला की दाद देते हैं। "युवक और युवतियों के जोड़े बँधे हुए हैं हरेक जोड़ दस-पन्द्रह मिनट तक थिरक कर चला जाता है।... सभी मुग्ध नेत्रों से इन कलाविदों की कला देख रहे हैं। क्या फुरती है, क्या लचक है। और उनकी एक-एक लचक में एक-एक गीत में कितनी मार्मिकता, कितनी मादकता। दोनों... थिरकते हुए रंगभूमि के उस सिरे तक चले जाते हैं और क्या मजाल एक गति भी बेताल हो।"[163] उनके उत्साह को देखकर अमर भी नृत्य करना चाहता है, लेकिन उसे नाचना नहीं आता, क्योंकि वह तत्कालीन सुसंस्कृत समाज का प्रतिनिधि है। वहीं जनसाधारण के जीवन में दुखों के बावजूद कितना रस है। यह उनकी सजीव सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति सच्ची सहानुभूति है। इसीलिए जहाँ संभव हुआ नृत्य और संगीत का उन्होंने वर्णन किया है।[164] गाना बजाना ऐब नहीं है, लेकिन यह सब काम फुरसत के हैं। यह नहीं कि घर का कोई काम न करो, आठों पहर उसी धुन में पड़े रहो।[165]

प्रेमचन्द ने शहरी और शिक्षित समाज की संस्कृति और आम जनता की संस्कृति का अन्तर बताते हुये लिखा है — "कॉलेज़ के सम्मेलनों में अमर कई ड्रामा खेल चुका था। स्टेज पर नाचा भी था, गाया भी था, पर उस नाच और इस नाच में, रैदासों के टोले में होने वाले नृत्य, बड़ा अन्तर था। वह विलासियों की काम-क्रीड़ा थी और यह श्रमिकों की स्वछन्द केलि।"[166] इसी प्रकार 'गोदान' में भी सम्पन्न ज़मींदार राय साहब 'रामलीला' का आयोजन करते हैं और इसके लिए किसानों से चन्दा वसूलते हैं।

प्रेमचन्द की ग्राम संस्कृति की परख स्वागत सत्कार के अवसरों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। 'गोदान' के आरम्भ में होरी ज़मींदार से मिलने जाता है तो दोनों तरफ खेत में काम करने वाले किसान राम-राम करते हुए उसे चिलम पीने के लिए आमन्त्रित करते हैं। चिलम पीना और पिलाना आभावग्रस्त ग्रामीणों का सामान्य सत्कार है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने 'चिलम' को एक ऐसी वस्तु के रूप में वर्णित किया है, जो समाज के गरीब तबके के लिए विश्राम की वस्तु है। यह किसान आपस में लड़ते नहीं, ताड़ी गाँजा भी नहीं पीते लेकिन चिलम से इन्हें लगाव है। 'मंत्र', 'कुन', 'कर्मभूमि' आदि रचनाओं में इस लगाव का वर्णन है।

हिन्दुस्तानी भाषा

जिस प्रकार गांधी भारत में अंग्रेजी भाषा के विरोधी थे, उसी प्रकार प्रेमचन्द ने भी अंग्रेजी का विरोध किया है। 23 अप्रैल, 1934 के 'जागरण' में उन्होंने लिखा "किसी राष्ट्र को बनाने के लिए संस्कृति की समानता जरूरी होती है। भाषा और साहित्य संस्कृति का मुख्य अंग है। जब तक एक भाषा और एक साहित्य न हो एक राष्ट्र की कल्पना नहीं हो सकती।... भारत में कई सम्पन्न प्रांतीय भाषाओं के होते हुए भी हम जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान देना चाहते हैं, वह इसलिए कि वह भारत में अधिकतर समझी जाती है।"[167] राष्ट्रभाषा के रूप में प्रेमचन्द 'हिन्दुस्तानी' के हिमायती थे। उन्होंने हिन्दी के संस्कृतमय और उर्दू को फारसी अरबीमय बनाने का विरोध किया। "प्रेमचन्द की भाषा नीति साम्प्रदायिकता विरोधी रही। प्रेमचन्द मानते हैं कि अगर भारत 'शुद्ध' हिन्दू होता तो उसकी भाषा भी 'शुद्ध' हिन्दी होती। जब देश 'शुद्ध' नहीं है, तो भाषा केसे 'शुद्ध' हो सकती है।"[168]

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में आर्य समाज के प्रयासों की सराहना करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा, "स्वामी दयानन्द ने इसी भाषा में 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखा और उस वक्त लिखा जब उसकी इतनी चर्चा न थी। उनकी बारीक नज़र ने देख लिया कि आम जनता में प्रकाश ले जाना है तो उसके लिए हिन्दी भाषा अकेला साधन है, और

गुरुकुलों में हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने भाषा प्रेम को और भी सिद्ध कर दिया है।"... "आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह-सोलह करोड़ लोगों के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, वह लिखी जाती है दो लिपियों में... पर है वह एक ही।"[169]

प्रेमचन्द को देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अंग्रेजी भाषा की प्रभुता खलती थी। "यह उनकी साम्राज्य विरोधी राष्ट्रीय चेतना, उनके आत्मसम्मान की भावना का सबूत था।"[170] इसीलिए दूसरे गोलमेज सम्मेलन के दौरान लॉर्ड रीडिंग ने जब अंग्रेजी को भारत की राष्ट्रभाषा कहा तो प्रेमचन्द ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा कि "हमारी समझ में लॉर्ड महोदय ने बड़ी जल्दी यहाँ की राष्ट्रभाषा तय कर दी।"[171] "अंग्रेजी भाषा का जादू कब तक हमारे सिरों पर रहेगा? कब तक हम अंग्रेजी के गुलाम बने रहेंगे।... गांधी के अतिरिक्त हम किसी नेता को हिन्दी भाषा के प्रचार पर जोर देते नहीं देखते। यह विदित रहे कि जब तक हमारी राष्ट्रभाषा का निर्माण नहीं होगा, भारतीय राष्ट्र का निर्माण ख्वाब और ख्याल है।"[172] प्रेमचन्द ने उन शिक्षितों की आलोचना की है जो अंग्रेजी पढ़ना और बोलना गौरवपूर्ण समझते हैं, "जो अपने माँ-बाप को अंग्रेजी में खत लिखते हैं और जो 'तुम' की जगह 'टुम' कहते हैं। यह उनकी मानसिक पराधीनता को प्रकट करता है। यद्यपि अंग्रेजी बड़ी धनी भाषा है, पर जितना और जिस दृष्टि से हम इसे आदर देते हैं, वह हमारे लिए गर्व की बात नहीं है।"[173]

'सेवासदन' में प्रेमचन्द उन लोगों पर व्यंग्य करते हैं जो अंग्रेजी को 'सार्वदेशिक भाषा' मानते हैं। ऐसी मान्यताओं के चलते भारतीय भाषा का उद्‌भव संभव नहीं। "फारस और काबुल के मूर्ख सिपाहियों और हिन्दू व्यापारियों के समागम से उर्दू जैसी भाषा का प्रादुर्भाव हो गया। अगर हमारे देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वज्जन परस्पर अपनी ही भाषा से संभाषण करते तो अब तक एक सार्वदेशिक भाषा बन गयी होती। जब तक आप जैसे विद्वान लोग अंग्रेजी के भक्त बने रहेंगे, कभी एक सार्वदेशिक भाषा का जन्म न होगा।"[174] वह हिन्दी को गरीबों की भाषा मानते हैं।[175] इसीलिए वह लिखते है कि "जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जाएँगे।"[176]

"हिन्दी-उर्दू को एक करने, कौमी भाषा और संस्कृति का नया विकास करने की जिम्मेदारी प्रेमचन्द अगली पीढ़ी पर छोड़ गए थे। उनके बताए हुए रास्ते पर चलकर ही हमें उस जिम्मेदारी को पूरी कर सकते हैं।"[177] इस प्रकार प्रेमचन्द भारत के लिए 'हिन्दुस्तानी भाषा' के समर्थक थे, जिसकी लिपि हिन्दी-लिपि होनी थी। यही राष्ट्रभाषा हमें मानसिक और भौतिक मानसिकता से मुक्त कराएगी।

निष्कर्ष

निःसंदेह प्रेमचन्द युगीन समाज सुधार आंदोलन तथा सुधारवादी विचारधारा कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित थी। अशिक्षित और ग्रामीण जनता अभी तक इसके प्रभाव में नहीं आई थी। इसीलिए प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में समाज के प्रत्येक पहलू को वर्णित करने का प्रयास किया है। वह मानते हैं कि "समाज में जब कोई उथल-पुथल होती है या सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन उठ खड़ा होता है तो आज का साहित्यकार उससे असम्पृक्त नहीं रह सकता। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है।"[178] उन्होंने समाज को खुली आँखों से देखा था और जैसा देखा वैसा उसका वर्णन किया और वह भी सामान्य जन भाषा में। प्रेमचन्द ने लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन में 1936 में कहा था कि लेखकों को खुद अपने सम्मान की हिफाज़त करनी होगी और सियासत से आगे चलना होगा।

प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज रूढ़ियों और अंधविश्वासों से ग्रस्त था। यद्यपि शिक्षित जनता ने पाखण्ड की वास्तविकता को मान लिया था, लेकिन अशिक्षित जनता को अब भी धर्म में पूर्ण आस्था थी। इसी अंधआस्था को उन्होंने अपनी रचनाओं और लेखों के माध्यम से तोड़ने का प्रयास किया। धर्म के नाम पर अछूतों से दुर्व्यवहार, मंदिर प्रवेश पर प्रतिबन्ध, ऊँची जाति के कुँओं से पानी न लेने देना आम बात थी। स्वामी दयानन्द ने यद्यपि इसे अवैदिक बताया। लेकिन अस्पृष्यता निवारण की दिशा में ठोस कार्य करने का श्रेय गांधीजी को है जिन्होंने कहा था कि "अस्पृश्यता जीवित रहे, इसकी अपेक्षा में यह अधिक अच्छा समझूँगा कि हिन्दू धर्म ही डूब जाय।"[179]

अस्पृश्यों के साथ सैद्धान्तिक रूप से कोई भेदभाव नहीं किया जाता है, लेकिन इसे व्यावहारिक रूप देना अभी भी कठिन काम है। आज इनके साथ भले ही छुआछूत का बर्ताव नहीं किया जाता, जो शायद पूँजीवादी समाज की विवशता है, लेकिन इनके विरुद्ध अत्याचारों में कमी नहीं आई है।[180] इतना जरूर है कि यह भेदभाव और अत्याचार खुलकर नहीं किया जाता। इसके बावजूद बींसवीं सदी में प्रेमचन्द ने इस क्षेत्र में गांधी को अपना आदर्श मानते हुए कुछ प्रयास किए। "संध्या समय प्रीतिभोज हुआ, 'छूत और अछूत' साथ बैठकर एक ही पंक्ति में खा रहे हैं।"[181] यह सूरदास की नहीं वरन् सामंतवादी समाज़वाद के समर्थक प्रेमचन्द की विजय है।

प्रेमचन्द ने गाँवों में प्रचलित सामन्ती कुप्रथाओं और मध्यकालीन कुसंस्कारों का भी वर्णन किया है। 'सेवासदन' में सामाजिक आडम्बरों का वास्तविक वर्णन है।

उनका मानना है कि लेखक को कभी यह नहीं भूलना चाहिए कि वह पथगामी नहीं बल्कि पथ प्रदर्शक है। वह हँसाता है, मनोरंजन करता है, चुटकियाँ लेता है, पर यह उसके लिए गौण बातें हैं, उसका मुख्य उद्‌देश्य और ही कुछ होता है।[182] यह एक लेखक का उत्तरदायित्व है कि वह समाज में प्रचलित उन गलत संस्कारों के विरुद्ध मनोरंजक ढंग से जन चेतना जाग्रत् करें। जहाँ तक सांस्कृतिक जीवन का संबंध है तो यह कहना असंगत न होगा कि "प्रेमचन्द की रचनाओं में एक लोकरस है। कुछ यहाँ की धरती की सुगंध, यहाँ की हवा की ताजगी और महक—जो बड़े बड़े टेकनीक-वादियों के यहाँ बहुत तलाश करने पर नहीं मिलता।"[183] यद्यपि ऐसे वर्णन अधिक नहीं है। उनका मानना है कि जनता को आज संस्कृतियों की रक्षा करने का न अवकाश है, न जरूरत। 'संस्कृति' अमीरों का, पेटभरों का, बेफिक्रों का व्यंजन है। दरिद्रों के लिए प्राण-रक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है। उस 'संस्कृति में था ही क्या जिसकी वे रक्षा करे। यह पूँजीवादी संस्कृति है जिसमें पूँजी का विशेष महत्व है। इस पर प्रेमचन्द ने 1936 में 'महाजनी सभ्यता' नामक लेख में विस्तृत रूप से लिखा है।[184]

गाँधी और प्रेमचन्द ने भारतीय संस्कृति से जो सबसे मूल्यवान वस्तु पाई थी। वह कर्मयोगी की स्थित प्रज्ञता थी। गीता से प्रभावित गाँधी ने आजीवन वीरता का परिचय दिया, वहीं समानता से प्रभावित प्रेमचन्द ने आजीवन समाजवाद की वकालत की।

संदर्भ ग्रन्थ

1. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द', पृ. 126.
2. आनन्द प्रकाश, 'सामाजिक समस्याएँ और प्रेमचन्द की विचार दृष्टि लेख, राजकुमार शर्मा', प्रेमचन्द और यथार्थवादी परम्परा से उद्धृत, पृ. 74.
3. राल्फ लिन्टन, 'द कल्चरल बैलग्राउण्ड ऑफ पर्सनेलिटी', पृ. 12.
4. डॉ. रक्षापुरी, पृ. 05.
5. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द और उनका युग', पृ. 136.
6. डॉ. रक्षापुरी, पृ.-07.
7. प्रेमचन्द, 'साहित्य का उद्‌देश्य', इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, पृ. 20.
8. जैनेन्द कुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ. 25.
9. 'साहित्य का उद्‌देश्य', प्रेमचन्द पृ. 27.
10. डॉ. रक्षापुरी, पृ. 11.
11. आनन्द प्रकाश, पृ. 75.
12. राम विलास शर्मा, पृ. 141.
13. वही, पृ. 157.

14. रक्षापुरी, पृ. 50.
15. रामबक्ष, पृ. 261, देखें 'स्वराज्य से किसका अहित होगा', हंस, अप्रैल 1930, रचनावली भाग 8, पृ. 43.
16. वही, पृ. 212.
17. 'सम आसपेक्ट ऑफ फैमिली इन महुआ', आई. पी. देसाई, पृ. 16, बम्बई, 1964
18. 'कलम का सिपाही', अमृतराय, पृ. 47, 'वह स्वयं एक बड़े परिवार में पैदा हुए थे। यह परिवार उनके देखते-देखते टूटा। बड़े भाई से प्रेम था। वह भी प्रेमचन्द से इतनी आत्मीयता मानते थे कि जो काम प्रेमचन्द से न करा पाते थे शिवरानी देवी से करा लेते थे। दोनों भाइयों प्रेमचन्द और महताब राय का बँटवारा हुआ। इस मामले में प्रेमचन्द और शिवरानी देवी के दृष्टिकोण में वैसे ही भेद थे जैसे होरी और धनिया के दृष्टिकोण में।"
19. रक्षापुरी, पृ. 51.
20. रामबक्ष, पृ. 35-36.
21. रामविलास शर्मा, पृ. 122.
22. टी.बी. बाटोमोर, 'सोसाइटी : ए गाइड टू प्राबलमस एण्ड लिटरेचर', पृ. 177.
23. के. एम. पन्निकर, 'हिन्दू सोसाइटी एट क्रास रोड', पृ. 19.
24. 'गोदान', पृ. 27.
25. नरेन्द्र कोहली, 'प्रेमचन्द', पृ. 90.
26. गोदान, पृ. 311.
27. के.एम. कपाडिया,'मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया', पृ. 16.
28. इरावती कर्वे, 'कीनशिप ऑरगेनाइजेशन इन इण्डिया', पृ. 10.
29. रामबक्ष, पृ. 223.
30. 'स्वामिनी' कहानी, प्रेमचन्द, रचनावली- भाग -14, पृ. 517 सितंबर 1931 के 'विशाल भारत' में प्रकाशित.
31. ए.एम. शाह, 'द फैमिली इन इण्डिया', पृ. 177.
32. रामबक्ष, पृ. 223.
33. इरावती कर्वे, पृ. 10.
34. 'सुजान भगत', प्रेमचन्द, 'माधुरी', मई 1927 में रचनावली, भाग-13 पृ. 285. "आदमी को चाहिए कि जैसा समय देखे वैसा काम करें। अब हमारा और तुम्हारा इसी में निर्वाह है कि नाम के मालिक बने रहें।... जो कमाता है उसी का घर में राज होता है।"
35. के.एम. पन्निकर, 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन', पृ. 20.
36. देखें 'महाजनी सभ्यता', प्रेमचन्द का लेख, अगस्त 1936 में प्रकाशित, रचनावली, भाग-7, पृ. 511-512.
37. रामबक्ष, पृ. 87.

38. 'दीक्षा', कहानी, प्रेमचन्द, माधुरी, सितम्बर 1924, रचनावली, भाग-13, पृ. 94.
39. 'सवा सेर गेहूँ', रचनावली, भाग-13, पृ. 127, देखें रामबक्ष, पृ. 222.
40. रचनावली, भाग-7, पृ. 31-33.
41. पन्निकर, 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' और इरावती कर्वे.
42. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द, पृ. 117.
43. 'अलग्योझा', कहानी, प्रेमचन्द, माधुरी, अक्टूबर 1929, रचनावली, भाग-14, पृ. 265.
44. 'दो भाई', कहानी, प्रेमचन्द, 'जमाना', जनवरी 1916, रचनावली, भाग-11, पृ. 379.
45. 'बड़े घर की बेटी', रचनावली, भाग-11, पृ. 106.
46. 'शंखनाद', रचनावली, भाग-11, पृ. 384.
47. रामबक्ष, पृ. 223.
48. शिवरानी देवी ने इस ग्रह कलह के बारे में लिखा, "मुझसे उनसे कोई आठ साल तक नहीं पटी, क्योंकि उनके घर में बमचख बहुत था। मैं बमचख की आदी न थी। वे चाहते थे कि मैं अपने लिए खुद स्थान तैयार करूँ। 'प्रेमचन्द की सौतेली माँ बहुत झगड़ालू थी। इसीलिए प्रेमचन्द की पहली पत्नी से नहीं पटी थी।' 'प्रेमचन्द घर में', शिवरानी देवी, पृ. 97.
49. 'कर्मभूमि' पृ. 16.
50. 'गृहदाह', रचनावली, भाग- 12, पृ. 409.
51. रामबक्ष, 147.
52. ए.आर. देसाई, पृ. 193.
53. रामगोपाल सिंह, 'सामाजिक न्याय, लोकतन्त्र और जाति व्यवस्था', पृ. 113.
54. एम.ए. बक, 'राइज़ एण्ड ग्रोथ ऑफ इण्डियन नेशनलिज़म', पृ. 23.
55. रामबक्ष, पृ. 194.
56. ए.आर. देसाई, पृ. 194.
57. रामबक्ष, पृ. 219.
58. इतिहासकार पन्निकर की यह मान्यता है कि 'पिछले दो हज़ार बंदी ठीक करें में क्षत्रिय जैसी कोई जाति ही नहीं हुई।' 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन', पृ. 20.
59. रामबक्ष, पृ. 220.
60. देसाई, पृ. 195.
61. राम विलास शर्मा, 'प्रेमचन्द', पृ. 90-91.
62. 'इस हिमाकत की भी कोई हद है', प्रेमचन्द का लेख, रचनावली, भाग-9, पृ. 113-114, 14 मार्च 1934, 'जागरण' में प्रकाशित.
63. रामबक्ष, पृ. 158.
64. 'क्या हरिजन आन्दोलन राजनैतिक है?' प्रेमचन्द, 18 दिसम्बर 1933, जागरण।

65. रामविलास, पृ. 112.

66. 'सद्गति', रचनावली, भाग-14, पृ. 404.

67. ए.आर. देसाई, पृ. 195-95.

68. 'सद्गति' कहानी, रचनावली, भाग-14.

69. 'जातिभेद मिटाने की एक आयोजना', प्रेमचन्द, 19 फरवरी 1934, 'जागरण', में प्रकाशित, रचनावली, भाग-9, पृ. 51

70. जी.एस. घुर्ये, 'कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया', पृ. 164.

71. श्री राजेन्द्र सिंह ने 'पेसेन्ट मूवमेंट इन उत्तर प्रदेश' में लिखा है "We can look at it as an encounter between two cultural forces-traditional culture of inequality and the modern culture of equatity. While the traditional leadership buttressed the former, the modern political elite helped promoted latter. 'Social Movement in India' Vol. 1, M.S.A. Rao, P. 98.

72. 'गोदान', पृ. 206.

73. वही.

74. वही, पृ. 207.

75. ए.आर. देसाई, पृ. 202.

76. 'जीवन में घृणा का स्थान', दिसम्बर 1933 , 'हंस' में प्रकाशित प्रेमचन्द का लेख, रचनावली, भाग-7, पृ. 406.

77. 'गोदान', पृ. 251-52.

77.1. वही, पृ. 251.

78. 'ठाकुर का कुआँ', (अगस्त 1925) रचनावली, भाग-15, पृ. 50.

79. रामबक्ष, पृ. 173.

80. 'कर्मभूमि', पृ. 173.

81. 'सद्गति', रचनावली, भाग-14, पृ. 404.

82. के. दामोदरन, 'भारतीय चिन्तन परम्परा', पृ. 378-79, अनुवादक श्रीधरन, 1968, नई दिल्ली

83. 'अछूतपन मिटता जा रहा है',. रचनावली, भाग-8, पृ. 115-116, मई 1932, 'हंस'.

84. ए.आर. देसाई, पृ. 197-98.

85. वही, पृ. 198.

86. 'कर्मभूमि', पृ. 133.

87. 'मन्त्र-2', कहानी, रचनावली, भाग-14, पृ. 68.

88. 'सिर्फ एक आवाज़', रचनावली, भाग-11, पृ. 286.

89. 'आधुनिक भारत', सुमित सरकार, पृ. 373.

90. राम गोपाल सिंह, पृ. 168.

91. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द और उनका युग', पृ. 162
92. सुमित सरकार, पृ. 371.
93. 'काशी का कलंक', 5 अक्टूबर 1932, रचनावली, भाग-8, पृ. 140 'महान तप', रचनावली, भाग-8, पृ. 317-19.
94. जी.एस. घुर्ये, पृ. 57.
95. 'निर्मला', पृ. 50.
96. 'सद्गति', रचनावली, भाग-14, 'गोदान', पृ. 182.
97. 'कर्मभूमि', पृ. 145.
98. वही, पृ. 170-171, 146.
99. 'मन्त्र-1' कहानी की रचना मद्रास से लौटने के बाद की थी। इसमें बताया गया कि सवर्ण जातियों के लोमहर्षक अत्याचारों से बेजार अछूत जातियों ने धर्म द्रोह कर दिया है और इस्लाम ओढ़ लिया है। इससे हिन्दू समाज में खलबली मच जाती है। रचनावली, भाग-13, पृ. 261.
100. वही
101. 'मोटेरामजी शास्त्री', रचनावली, भाग-14, पृ. 19.
102. 'सद्गति', पृ. 41.
103. 'मोटेरामजी शास्त्री', रचनावली, भाग-14. सम्भवतः हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यह पहली कहानी है जिसके सम्बन्ध में मानहानि का केस चला। यह कहानी प्रेमचन्द की व्यंग्यात्मक कहानियों की श्रृंखला में थी। लखनऊ के एक वैद्य शालिगराम शास्त्री ने पं. कृष्ण बिहारी मिश्र, माधुरी के सम्पादक और प्रेमचन्द पर आई.पी.सी. की 500 और 109 धाराओं के अन्तर्गत इज्जत तक का दावा दायर किया। उन गवाहों के नामों में 'सुधा' के सम्पादक दुलारे लाल भार्गव और रूप नारायण पाण्डेय और गंगा पुस्तक माला कार्यालय के मातादीन शुक्ल थे। लखनऊ विश्वविद्यालय के बदरीनाथ शास्त्री तथा आज्ञा दत्त ठाकुर भी थे। अप्रैल 1920 को प्रेमचन्द के पक्ष में फैसला हुआ। लेकिन इससे यह सिद्ध हो गया कि उनकी पंडा पुरोहितों पर आधारित कहानियों में कितनी यथार्थता है। 'कलम का मजदूर', प्रेमचन्द, पृ. 185. 'गोदान', पृ. 347.
104. 'बाबाजी का भोग', रचनावली, भाग-13, पृ. 351
105. 'अंधविश्वास', प्रेमचन्द, 26 मार्च 1934, 'जागरण' रचनावली, भाग-9, पृ. 72-73, 'रामलीला', 1926, रचनावली, भाग-13, पृ. 304.
106. 'मृतक भोज', 1932 रचनावली, भाग-15, पृ. 112.
107. ए.आर. देसाई, पृ. 202.
108. 'वह प्रलंयकारी दिवस', जनवरी, 1934 हंस, रचनावली, भाग-9, पृ. 19-21.
109. सुमित सरकार, पृ. 371.
110. रामबक्ष, पृ. 86, रक्षापुरी, पृ. 213.

111. 'साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता', दिसम्बर 1933, हंस, रचनावली, भाग-7, पृ.407.
112. वहीं
112.1. 'गोदान', पृ. 299.
113. प्रेमचन्द रचनावली, भाग-19, पृ. 399-400.
114. वही, भाग-7, पृ. 406.
115. 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं?' रचनावली, भाग-9, पृ. 125.
116. 'विविध प्रसंग' भाग-2, पृ. 475.
116.1 'गोदान', पृ. 299.
117. रक्षापुरी, पृ. 213.
118. 'महान तप-2', मई 1933, 'जागरण' में प्रकाशित लेख, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-8, पृ. 320-21, 'बालक' (1933) रचनावली, भाग-15, पृ. 181.
119. 'गोदान', पृ. 351.
120. 'मन्दिर' (1927) रचनावली, भाग-13, पृ. 379.
121. 'कर्मभूमि', पृ. 167.
122. वही, पृ. 176.
123. 'सेवासदन', पृ. 156.
124. रामबक्ष, पृ. 156.
125. 'मन्दिर प्रवेश और हरिजन', 29 मई 1933, 'जागरण', रचनावली, भाग-8, पृ. 331.
126. 'बिहार मन्दिर सम्मेलन', रचनावली, भाग-9, पृ. 37.
127. 'हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का प्रश्न', जागरण, 1932, रचनावली, भाग-8, पृ. 179.
128. रामेश्वरी नेहरू, 'द हरिजन मूवमेंट', पृ. 2.
129. बिपिन चन्द्रा, 'भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष', पृ. 174-75.
130. रचनावली, भाग-8, पृ. 179.
131. 'मन्दिर प्रवेश और हरिजन', 29 मई 1933, जागरण रचनावली, भाग-8, पृ. 330-31.
132. बिपिन चन्द्रा, पृ. 175-77 और सुमित सरकार, पृ. 281.
133. 'कर्मभूमि', पृ. 199.
134. वही, पृ. 200.
135. वही, पृ. 201.
136. वही, पृ. 206.
137. 'अछूतों को मन्दिर में जाने देना पाप है', 21 नवम्बर 1932, रचनावली, भाग-8, पृ. 182.
138. सुमित सरकार, पृ. 372, बिपिन चन्द्रा, पृ. 203.

139. रचनावली, भाग-8, पृ. 181.
140. 'अस्पृश्यों की महत्वाकांक्षा', 23 जनवरी, 1933, 'जागरण' मे प्रकाशित रचनावली, भाग-8, पृ. 231.
141. रचनावली, भाग- 8, पृ. 179.
142. 'पं. मोटेराम शास्त्री की डायरी', रचनावली, भाग-15, पृ. 290.
143. रामविलास शर्मा, पृ. 137.
144. 'कायाकल्प', पृ. 117.
145. 'सेवासदन', पृ. 155.
146. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द , पृ. 136-37, रचनावली, भाग-7, पृ. 126-28, 'रामायण और महाभारत', जमाना, 1912.
147. 'कर्मभूमि', पृ. 76.
148. 'प्रेमाश्रम', पृ. 433, गोदान, पृ. 204, 529, 519, उपदेश 'कहानी', 'कर्मभूमि', पृ. 143, 'रंगभूमि', पृ. 23, 'वरदान', पृ. 68.
149. 'कर्मभूमि', पृ. 110.
150. 'गोदान', पृ. 77.
151. वही, पृ. 43, 525.
152. 'प्रेमाश्रम', पृ. 10 और 68.
153. 'गोदान', पृ. 22, 23.
154. 'निर्मला', पृ. 32.
155. 'अदालतों में धोती', 31 अक्टूबर 1932, जागरण रचनावली, भाग-8, पृ. 161.
156. 'नया ज़माना पुराना ज़माना', रचनावली, भाग-7, पृ. 189.
157. 'पंडित मोटेराम की डायरी', रचनावली, भाग-15, पृ. 290.
158. वही
159. 'गोदान', पृ. 22, 20, 31, 450.
160. वही, पृ. 180.
161. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द और उनका युग', पृ. 62.
162. वही, पृ. 159.
163. कर्मभूमि , पृ. 163.
164. रामबक्ष, पृ. 212, 'हिन्दू सभ्यता और लोक हित', रचनावली, भाग-7, पृ. 119.
165. गोदान, पृ. 26.
166. कर्मभूमि, पृ. 164-65.
167. 'हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी', अप्रैल 1934, रचनावली, भाग-9, पृ. 79.

168. रामबक्ष, पृ. 131.
169. 'हिन्दी उर्दू की एकता', रचनावली, भाग-7, पृ. 483.
170. रामविलास शर्मा, पृ. 153.
171. 'भारत की राष्ट्र भाषा', 5 दिसम्बर 1931, 'जागरण' रचनावली, भाग-8, पृ. 202.
172. 'अंग्रेजी भाषा का रोग', सितम्बर, 1931, 'हंस', रचनावली, भाग-8, पृ. 90.
173. 'भारत की राष्ट्र भाषा', रचनावली, भाग-8, पृ. 202.
174. 'सेवासदन', पृ. 170-71, 'आपकी अंग्रेजी भाषा ने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान किसी विषय के गुण दोष प्रकट न करें, तब तक आप इस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं। आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते कि वह स्वयं आदरणीय हैं, बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेट्स्कीम और मैक्समूलर ने उनका आदर किया है। आप में अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है।... यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गईगुज़री है। आप उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में। अर्जुन को 'अर्जुना', कृष्ण को 'कृष्ना', कहकर अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं।', सेवासदन, पृ. 177.
175. 'इंदौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन', जून 1935, रचनावली, भाग-9, पृ. 181-84.
176. 'साहित्य का उद्देश्य', पृ. 104.
177. रामविलास शर्मा, पृ. 156.
178. रामबक्श, पृ. 128.
179. पट्टाभी सीतारमैय्या, 'कांग्रेस का इतिहास', पृ. 399.
180. रामगोपाल सिंह, पृ. 169.
181. 'रंगभूमि', पृ. 428.
182. रामबक्श, पृ. 84.
183. रामविलास शर्मा, पृ. 116.
184. 'महाजनी सभ्यता', रचनावली, भाग-7, पृ. 511-15.

प्रेमचन्द युग में महिलाएँ

साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था में भारतीय समाज के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन आए। 19वीं सदी में भारतीय समाज में कई ऐसी कुप्रथाएँ प्रचलित थीं, जिन्होंने महिलाओं की पतनशील स्थिति में कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं किए। 19वीं सदी के अंतिम पचास दशकों में कुछ उदार भारतीय बुद्धिजीवियों ने महिलाओं पर लगे प्रतिबन्धों को हटाने के लिए आन्दोलन चलाए। इन सुधार आन्दोलनों को आरम्भ करने का श्रेय राजा राम मोहन राय को दिया जाता है। इन सुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप उनकी जीवन शैली में परिवर्तन आए। एक ओर उनकी शिक्षा, सम्मान, सामाजिक समानता, विधवा पुनर्विवाह जैसे मुद्दों को प्रोत्साहन मिला, वहीं दूसरी ओर बाल विवाह, दहेज़, सती, वेश्यावृत्ति आदि को हतोत्साहित किया गया। इस प्रकार प्रेमचन्द, जो एक यथार्थवादी साहित्यकार थे, ने भी सामाजिक दुर्बलताओं को पहचाना और अपनी रचनाओं में इन कुप्रथाओं पर प्रहार किए। 'निर्मला' और 'गबन' ऐसे उपन्यास हैं जिसमें नारी समस्या को प्रधानता दी गई है। बाल-विवाह, विधवा, वेश्यावृत्ति, दहेज़ और बहुविवाह को उन्होंने अपनी रचनाओं में विशेष स्थान दिया है। यह समस्याएँ आज भी व्याप्त हैं और प्रेमचन्द की प्रासंगिकता को परिलक्षित करती हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द ने महिलाओं की जिन समस्याओं को आज से लगभग अस्सी वर्ष पूर्व महत्व दिया था वह आज भी आधुनिकता का जामा पहने कायम हैं।

निःसंदेह प्रेमचन्द युगीन भारतीय महिला कुप्रथाओं की एक श्रृंखला से घिरी थी। वह प्रत्येक सामाजिक और पारिवारिक अधिकारों से वंचित थी। यद्यपि वैदिक काल में उन पर यह सामाजिक प्रतिबंध नहीं थे और उसके बाद भी "भारतीय इतिहास में गार्गी, चाँद बीबी, नूरजहाँ, रज़िया, झाँसी की रानी, मीराबाई और अहिल्याबाई जैसी महिलाएँ हो चुकी हैं, जिन्होंने साहित्य, कला-दर्शन, प्रशासन और यहाँ तक की रणकौशल के क्षेत्र में भी बड़े चमत्कार किए। लेकिन यह महिलाएँ समाज की शासक, अधिकार प्राप्त श्रेणियों की उपज थी और इसीलिए सामाजिक अधीनस्थता की उस स्थिति से मुक्त थी, जिसमें अधिकांश भारतीय महिलाएँ रहती थीं और जहाँ उन्हें आत्माभिव्यक्ति के लिए न तो स्वतन्त्रता थी और न उपयुक्त अवसर।"[1]

प्रेमचन्द युगीन समाज में महिलाएँ सदियों की दासता से मुक्त नहीं थीं, यद्यपि कुछ उदार दृष्टिकोण वाले भारतीयों ने महिलाओं की तत्कालीन स्थिति को समाज की

प्रगतिशीलता में बाधक माना, लेकिन कुछ अपवादों के अतिरिक्त उन्हें सरकार का समर्थन नहीं मिला। वास्तव में 1857 के बाद साम्राज्यवादी सरकार ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सुधार करने में विशेष रुचि नहीं ली, क्योंकि उनका मानना था कि 1857 के विद्रोह का एक अहम् कारण सरकार का भारतीयों के सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करना था।

त्तकालीन समाज एक पुरुष प्रधान समाज था जहाँ कन्या के जन्म लेने पर प्रसन्नता नहीं होती है। जन्म के साथ ही माता-पिता उसके विवाह की चिन्ता करने लगते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से उनकी आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित मुद्दा है। "आर्थिक संसाधनों के अभाव में वह बचपन में ही उसका विवाह कर देते थे। परिणामस्वरूप वह या तो असमय विधवा हो जाती थी, या जीवन भर प्रताड़ित और अपमानित होती रहती थी। "1930 में एक भारतीय की आयु मात्र 25 वर्ष होती थी।"[2] "वास्तव में वैदिक काल से, 300 ईसा पूर्व के बाद से, सामान्यतया महिलाओं का जीवन परजीविता का जीवन रहा है। बचपन में वह अपने माता-पिता पर, फिर अपने पति पर और पति की मृत्यु के बाद अपने पुत्रों पर आश्रित रहती थी। प्रेमचन्द ने इस परजीविता का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। "प्राक् ब्रिटिश भारत में वैदिक युग के शुरू के काल को छोड़कर, हरदम नारी पुरुष की अधीनता में रहती आई थी। धर्म की विधि में पुरुषों और स्त्रियों और उनके अधिकारों को समान नहीं माना गया था। समाज में पुरुषों को कुछ ऐसे अधिकार थे, उनकी कुछ ऐसी स्वतन्त्रतायें थीं, जिनसे स्त्रियाँ वंचित थीं। स्त्री और पुरुष के निजी और सामाजिक आचरण के मानदंड भिन्न थे।"[3]

19वीं और 20वीं सदी के प्रगतिवादी सुधारकों का प्रभाव प्रेमचन्द की रचनाओं में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। विशेष रूप से स्त्रियों की सामाजिक स्थिति के प्रति उनमें गहरा असंतोष था और वह उनकी पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में बदलाव लाने के पक्षधर थे। यह काम उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से बखूबी किया भी। उन्होंने नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। दहेज़, विधवा जीवन की त्रासदी, बाल-विवाह के दुष्परिणाम, विमाता, बहुविवाह और संयुक्त परिवार, अनमेल विवाह का नारी जीवन पर प्रभाव आदि ऐसा कोई भी विषय प्रेमचन्द की नज़र से ओझल नहीं हुआ जिसने महिलाओं पर और परिणामस्वरूप समाज पर प्रतिकूल प्रभाव डाला था। इस क्षेत्र में वह गाँधी से भी बहुत प्रभावित थे, जिन्होंने महिलाओं में राजनैतिक चेतना और आत्मविश्वास जाग्रत् करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

महिलाओं की सामाजिक स्थिति

निःसन्देह गांधी युग और उसके बाद के समय में महिलाओं की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत महिलाओं को समानता का अधिकार दिया गया है। लेकिन यह परिवर्तन अचानक ही नहीं हुए, बल्कि इन्हें परिवर्तन की अपेक्षा पूर्व स्थिति को प्राप्त करने के प्रयास के रूप में देखना अधिक उचित होगा। 19वीं सदी से 20वीं सदी की सम्मानित और समानता का अधिकार पाने वाली महिला की स्थिति विकास की एक सामान्य प्रक्रिया नहीं थी। वास्तव में निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि हाल ही में महिलाओं की स्थिति में जो अभूतपूर्व परिवर्तन आए हैं, वह उनकी प्रगति का नहीं है वरन् वास्तव में वह महिलाओं की वैदिककालीन उच्च स्थिति को पुनः प्राप्त करने की प्रक्रिया है।

"अंग्रेजों की भारत विजय के पूर्व, स्त्री-पुरुषों के अधीन थी। अंग्रेजों के भारत आगमन पर आधुनिक प्रजातान्त्रिक विचार शैली के सम्पर्क में इस स्थिति में आंशिक परिवर्तन आए और उनकी मुक्ति के आन्दोलन शुरू हुए।"[4] रमेश चन्द्र दत्त महिलाओं की वैदिककालीन स्थिति के संबंध में लिखते हैं, "हिन्दू महिलाओं को एक सम्मानीय स्थान प्राप्त था,... उनका सम्पत्ति पर अधिकार था, वह अपने समय की शिक्षा और विज्ञान में भी विशेष स्थान रखती थीं... वैवाहिक जीवन में वह अपने पति की सहायक होती थीं, धार्मिक कार्यों का निर्वाह करती थीं, और उसके घरेलू जीवन का केन्द्र होती थीं, प्राचीन काल में हिन्दू पत्नियों को सम्मान और आदर का पद प्राप्त था।"[5]

महिलाओं की स्थिति में आए परिवर्तन के कारणों के सम्बन्ध में अल्तेकर ने लिखा — "यह समझाना कठिन नहीं है, कि प्राचीन भारत के आरम्भिक वर्षों में लड़कियाँ अलोकप्रिय क्यों नहीं थीं। वह वैदिक शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं और वह यज्ञ करने के लिए अधिकृत थीं। लड़कों का इन कार्यों के लिए होना आवश्यक नहीं था। लड़कियों का विवाह भी एक कठिन समस्या नहीं थी, इसे वह स्वयं ही हल कर लेती थीं। इसके अतिरिक्त विधवा जीवन का भय नहीं था, क्योंकि त्तकालीन समाज में पुनर्विवाह की अनुमति थी।"[6] लेकिन कालान्तर में महिलाओं की स्थिति में तीव्रता से गिरावट आई, क्योंकि लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का महत्व बढ़ा, युद्धों के कारण, "ऋग्वैदिक कालीन अराधना का स्थान पूर्वजों की अराधना ने लिया और बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभावस्वरूप संन्यास की भावना लोकप्रिय हुई, अतः इससे बचने के लिए लड़कियों का कम आयु में ही विवाह करने की प्रथा चली। साथ ही आर्यों एवं अनार्यों के मध्य विवाह हुए, लेकिन अनार्य महिला को धार्मिक कार्यों से वंचित रखा

गया। मध्यकाल तक आते-आते पर्दा प्रथा प्रचलित हो चुकी थी, विशेष रूप से मध्यम वर्गों में।"[7] 'आदिकाल में स्त्री, पुरुष की उसी तरह सम्पत्ति थी, जैसे—गाय, बैल या खेती-बाड़ी। पुरुष का अधिकार था स्त्री को बेचे, गिरवी रखे या मार डाले। विवाह की प्रथा उस समय केवल यह थी कि वर पक्ष, अपने सूर सामन्तों को लेकर सशस्त्र आता था और कन्या को उड़ा ले जाता था। कन्या के साथ कन्या के घर में रुपया, पैसा, अनाज या पशु जो कुछ भी हाथ लग जाता था, उसे भी उठा ले जाते था। वह स्त्री को अपने घर ले जाकर, उसके पैरों में बेड़ियाँ डालकर, घर के अन्दर बंद कर देता था। उसके आत्मसम्मान के भावों को मिटाने के लिए यह उपदेश दिया जाता है कि पुरुष ही उसका देवता है, सोहाग स्त्री की सबसे बड़ी विभूति है। आज कई हजार वर्षों के उस मनोभावों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पुरानी सभी प्रथाएँ कुछ विकृत या संस्कृत रूप में मौजूद हैं।'[7.1] निःसन्देह आज स्त्रियाँ घर के बाहर निकल रही हैं, लेकिन उनकी सामाजिक स्थिति में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं आया है।

इस प्रकार सन् 1800 तक सती, विधवा-विवाह निषेध, पर्दा प्रथा और बहु विवाह के कारण महिलाओं की स्थिति में भयंकर गिरावट आई। 'अब भारतीय समाज में लड़के और लड़कियों के प्रति माता-पिता के व्यवहार में अंतर पाया जाने लगा, जो बदस्तूर 20वीं सदी तक कायम रहा। लड़के प्रिय होते हैं, लड़कियाँ अभागिनें मानी जाती हैं। लड़की का होना अत्यंत शोक की बात थी और लड़का न होने पर सारे परिवार का अपमान सहना पड़ता था।'[8] जीवन का यथार्थ कई बार इस धारणा को तोड़ भी देता है और लड़कियाँ प्रिय हो जाती हैं। 'सुभागी' कहानी ऐसी ही लड़की की कहानी है। "और लोगों के यहाँ चाहे जो होता हो, तुलसी महतो अपनी सुभागी को लड़के रामू से जौ भर कम प्यार न करते थे।"[9] यह तुलसी महतो का नहीं स्वयं प्रेमचन्द का दृष्टिकोण है।

"महिलाओं से संबंधित कानूनों और रीति-रिवाजों को खत्म करने के प्रारम्भिक प्रयास प्रबुद्ध पुरुषों ने किए।"[10] 19वीं सदी में सुधारवादी आन्दोलन राममोहन राय (1774-1833) ने आरम्भ किए और केशवचन्द्र सेन (1838-1884), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (1820-71), दयानन्द सरस्वती (1827-83) और अन्य बुद्धिजीवियों ने राममोहन राय का अनुसरण किया। उन्होंने बहुत से सामाजिक, संवैधानिक और शैक्षिक सुधार किए। अन्ततः गांधी और राष्ट्रीय कांग्रेस ने 20वीं सदी में महिला उद्धार के क्षेत्र में अहम् भूमिका निभाई। इसी समय प्रेमचन्द ने भी महिला उद्धार करते हुए, उसकी श्रेष्ठता को वर्णित किया "पुरुष में थोड़ी सी पशुता होती है, जिसे वह इरादा करके भी हटा नहीं सकता। वह पशुता उसे पुरुष बनाती है। विकास के

क्रम में वह स्त्री से पीछे है। जिस दिन वह पूर्ण विकास को पहुँचेगा, वह भी स्त्री हो जाएगा। वात्सल्य, दया, कोमलता, इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है, और यह स्त्रियों के गुण है।"[11] निःसन्देह प्रेमचन्द में महिलाओं की सामाजिक स्थिति के प्रति गहरा असंतोष था और उनकी रचनाएँ उनकी स्थिति में परिवर्तन करने की जोरदार वकालत करती हैं।

भारतीय नारी सदैव 'कुलदेवी' समझी गई है, किन्तु अन्यान्य कारणों से... उसका स्थान गौण हो गया था। वह मंदबुद्धिता जिसने एक ओर पराधीनता की बेड़ी पाँव में डाली, दूसरी ओर नारी जाति पर मनमाने अत्याचार करती गई। ऊँच-नीच का ऐसा संक्रामक रोग फैला कि उसने... स्त्री-पुरुष में भी भेद डाल दिया। पुरुषों ने नारी जाति के स्वत्वों का अपहरण करना शुरू किया, लेकिन राष्ट्रीयता और सद्बुद्धि की जो लहर इस समय आई हुई है, वह इन तमाम भेदों को मिटा देगी और एक बार फिर हमारी मातायें उसी ऊँचे पद पर आरूढ़ होंगी जो उनका हक है। भारत अपनी माताओं का सदैव भक्त रहा है।"[12] "मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग, सबसे महान विजय है।"[13]

"भारतीय महिलाओं की अशक्ता का उन्मूलन और विभिन्न प्रकारों के उत्पीड़न से मुक्ति की प्रक्रिया काफी लम्बी थी।... एक ज़माने में भारतीय नारी सती और बालहत्या जैसी क्रूर प्रथाओं की शिकार थी।... गरीब माँ बाप के लिए लड़की की शादी काफी महँगी थी, इसलिए प्रायः नवजात बच्चियों की हत्या कर देते थे।"[14] वास्तव में "महिलाओं की सामाजिक स्थिति और हैसियत सुधारने का अभियान महज मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण नहीं चलाया गया था बल्कि इसके पीछे पूरे समाज को सुधारने की व्यापक दृष्टि थी। दरअसल पारिवारिक स्थितियों को सुधारे बिना कोई भी सामाजिक सुधार प्रभावी नहीं हो सकता, क्योंकि परिवार ही वह पाठशाला है, जहाँ व्यक्ति का शुरुआती सामाजीकरण होता है।... इसमें महिलाओं की बहुत अहम् भूमिका होती है। सुधारवादी मानते थे कि जिस देश में महिलाएँ उपेक्षित हों, वह देश सभ्यता के क्षेत्र में क़भी भी उल्लेखनीय प्रगति नहीं कर सकता।"[15]

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में एक दृढ़ निश्चयी और सशक्त महिलाओं का वर्णन किया है। उनकी यह स्पष्ट मान्यता थी कि पत्ति कही जाने वाली महिलाओं में भी मानवीय गरिमा की भावना होती है, बस आवश्यकता उसके प्रस्फुटन की है। उनकी महिला पात्रों का बौद्धिक स्तर और व्यावहारिक समझ भी अपेक्षाकृत ऊँची है। 'गबन' उपन्यास में रमानाथ द्वारा ऊपरी आमदनी की बात का विरोध करते हुए जालपा कहती है 'तो तुम घूस लोगे, गरीबों का गला काटोगे।"[16] वह अन्याय का वैसे

ही विरोध करती है। जैसे 'गोदान' में धनिया। "मेरे जहन में औरत वफा और त्याग की मूर्ति है, जो अपनी बेजबानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिल्कुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है।...... आप कहेंगे, मर्द अपने को क्यों नहीं मिटाता? औरत ही से क्यों इसकी आशा करता है? मर्द में वह सामर्थ्य ही नहीं है। वह अपने को मिटाएगा, तो शून्य हो जाएगा।...... वह तेजप्रधान जीवन है और अहंकार में यह समझकर कि वह ज्ञान का पुतला है, सीधा ईश्वर में लीन होने की कल्पना किया करता है, स्त्री पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है, शान्ति-सम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं, तो वह महात्मा बन जाता है।"[17]

'गोदान' में धनिया ज़मींदार की खुशामद करने और तलवे सहलाने के खिलाफ है। वह अपने दुश्मन को छोड़ना पाप मानती है, चाहे वह भाई ही क्यों न हो? होरी द्वारा दारोगा को रुपये दिए जाने का वह विरोध करती है। एक विधवा गर्भवती झुनिया को आश्रय देने पर गाँव वाले उसका पानी बंद करने की सोचते हैं। बिरादरी से बाहर करने की धमकी मिलने पर एक बार होरी का साहस जवाब दे देता है, लेकिन किसी कीमत पर झुनिया को त्यागने को तैयार नहीं थी। उसका आक्रामक रुख देखकर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती। वह कहती है कि, 'अगर किसी ने उसे पानी भरने से मना किया तो वह अपना और उसका खून एक कर देगी। हमको कुल-प्रतिष्ठा इतनी प्यारी नहीं है कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते। ब्याहता न सही, पर उसकी बाँह तो पकड़ी है मेरे बेटे ने ही। किस मुँह से निकाल देती? वही काम बड़े-बड़े करते हैं, मुद्दा उनसे कोई नहीं बोलता, उन्हें कलंक ही नहीं लगता। वही काम छोटे आदमी करते हैं, तो उनकी मरजाद बिगड़ जाती है, नाक कट जाती है। बड़े आदमियों को अपनी नाक दूसरों की जान से प्यारी होती है। हमें अपनी नाक इतनी प्यारी नहीं।'[18] इसी प्रसंग में वह डांड में एक दाना भी देने को तैयार न थी। इस प्रकार प्रेमचन्द ने नारी पात्रों को कहीं भी कमज़ोर नहीं किया है। लेकिन पश्चिमी उन्मुक्त समाज को वह भारतीय महिलाओं के लिए अनुकूल नहीं मानते। अर्थात् 'वह नारी को पुरुष के समान तो मानते हैं किन्तु प्रभुता, संघर्ष या नारी-पुरुष के बीच टकाराव वाले वातावरण को दर-किनार करते है। वैसे ही नारी के सशक्त चरित्रों के आगे अनेक पुरुष चरित्रों को दबाया गया है।"[19]

प्रेमचन्द ने पाश्चात्य सभ्यता को आदर्श मानने वाली महिलाओं के संबंध में लिखा, 'इसलिए जब मैं देखता हूँ हमारी उन्नत विचारों वाली देवियों उस दया और श्रृद्धा और त्याग के जीवन से असन्तुष्ट होकर संग्राम और कलह और हिंसा के जीवन की ओर दौड़ रही है और समझ रहीं हैं कि यही सुखों का स्वर्ग है।... मैं प्राणियों के

विकास में स्त्री के पद को पुरुषों से श्रेष्ठ समझता हूँ।'[20] जर्मनी को यदि अपनी सेना पर, फ्रांस को अपनी विलासिता पर और इंग्लैण्ड को अपने वाणिज्य पर गर्व है, तो भारतवर्ष को अपने पतिव्रत का घमंड है। क्या यूरोप के निवासियों के लिए यह लज्जा की बात नहीं है कि होमर और बर्जिल, शेक्सपीयर और ह्यूगो जैसे उच्चकोटि के कवि एक भी सीता या सावित्री की रचना न कर सके। वास्तव में यूरोपीय समाज ऐसे आदर्शों से वंचित है।"[21]

प्रेमचन्द का युग महिला आन्दोलन का युग था। उनके जन्म के समय भारत में पुनर्जागरण का राष्ट्र व्यापी आन्दोलन, स्वतंत्रता के आन्दोलन में परिवर्तित हो रहा था। महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार करने से संबंधित कुछ आन्दोलनों को महिलाओं ने भी नेतृत्व प्रदान किया। जैसे पंडिता रमाबाई (1858-1922) का 'शारदा सदन', रमाबाई रानाडे (1862-1922) का 'हिन्दु लेडीज क्लब' (1884), 'पूना सेवासदन' और 'नर्सिंग मेडिकल एसोसिएशन' आदि।[22] इस प्रकार महिलाओं ने अपने संगठन बनाए और अपनी अशक्ताओं के विरुद्ध संघर्ष के लिए मोर्चाबंदी की। "उनके सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षिक उत्थान के लिए इन सभी असंगठित संगठनों ने 1926 में 'ऑल इंडिया वूमेन्स कॉन्फ्रेंस' का गठन किया, जिसका पहला अधिवेशन जनवरी 1927 में पूना में हुआ।"[23] प्रेमचन्द निश्चित रूप से इन संगठनों की स्थापना से प्रेरित थे, इसीलिए जहाँ उन्होंने सुमन के माध्यम से 'विधवाश्रम', 'सेवासदन' की स्थापना की वहीं 'गोदान' में मालती द्वारा 'महिला लीग की सभा' का आयोजन किया।

पुनर्जागरण आन्दोलन के परिणामस्वरूप कई अमानुषिक कुरीतियों पर वैधानिक प्रतिबंध लगना संभव हुआ था। जैसे 1829 का 'सती प्रथा निषेधक कानून', 'बाल विवाह निषेध शारदा अधिनियम 1929' आदि। इस दौरान स्त्री शिक्षा का भी खूब प्रचार हुआ और आजादी की लड़ाई में भी स्त्रियों की समान भागीदारी थी। स्वयं प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी असहयोग आन्दोलन के दौरान पिकेटिंग करते हुए गिरफ्तार हुईं थीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में नारी जीवन के प्रत्येक पहलू को उजागर किया है। उसकी समस्याएँ, साहस, त्याग, दृढ़ता, सहनशीलता जैसे श्रेष्ठ मानवीय गुणों के साथ-साथ ईर्ष्या-द्वेष, रुढ़िवादिता, आभूषणप्रियता जैसी दुर्बल मनोवृत्तियों को भी पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित किया है।

नारी जीवन से संबंधित समस्याएँ

नारी जीवन से संबंधित अधिकतर समस्याएँ विवाह के समय और उसके बाद ही आतीं हैं। प्रेमचन्द युग में विवाह का वास्तविक उद्देश्य भुला दिया गया था। विवाह

के संबंध में अनेक कुरीतियों को प्रधानता दी जाने लगी थी। यह वैवाहिक कुरीतियाँ ही नारी जीवन की अधिकांश समस्याओं के लिए उत्तरदायी थी। 20वीं सदी में उत्तर भारत में आर्य समाज इन वैवाहिक कुरीतियों को समाप्त कर समाज में महिलाओं को सम्मानित स्थान दिलाने का प्रयास कर रहा था। उनकी इन गतिविधियों का प्रभाव समाज के प्रगतिशील वर्ग पर भी पड़ा। प्रेमचन्द तो स्पष्ट रूप से आर्य समाज के सुधारवादी विचारों से प्रभावित थे। प्रेमचन्द की नारी जीवन की समस्याओं के प्रति पकड़ बहुत यथार्थवादी है और उसकी किसी भी समस्या की उन्होंने अवहेलना न करते हुए उसके कारणों पर प्रबल प्रहार किए हैं साथ ही उसे त्तकालीन राष्ट्रीय जागरण और स्वाधीनता संघर्ष से जोड़कर नया आयाम देते हैं।

दहेज़

दहेज़ की समस्या भारतीय समाज में इतनी विकराल है कि वह भी समाज का शोषण करती है। 'निर्मला', 'सेवासदन', 'गोदान', 'कुसुम', 'उद्धार', 'विद्रोही', 'नया विवाह', 'एक आँच की कसर', 'कायाकल्प, आदि रचनाओं में प्रेमचन्द ने दहेज़ प्रथा और उसके दुष्परिणामों का वर्णन किया है। दहेज प्रथा ने स्त्री जीवन को अत्यन्त दुखमय बना दिया था। पर्याप्त दहेज न मिलने पर सम्बन्ध टूट सकते थे और अनमेल विवाह होते थे। प्रेमचन्द ने इस पैशाचिक प्रथा के विरुद्ध लोकमत जाग्रत् किया है। उन्होंने इसके मानवीय पक्षों पर बल देने के साथ-साथ उन शिक्षित भारतीयों की वास्तविकता को उजागर किया जो विवाह के नाम पर लेन-देन करते थे। समाज के इन तथाकथित शिक्षित वर्गों के लिए मनुष्यता का कोई मूल्य नहीं था और अगर किसी चीज़ का मूल्य था तो वह था, 'धन'। इस धनलोलुपता का जितना वास्तविक वर्णन प्रेमचन्द ने किया है वह अन्य कहीं नहीं मिलता। 'सेवासदन' में दारोगाजी अपनी बेटी के लिए शिक्षित परिवार चाहते थे। 'वह समझते थे कि ऐसे घरों में लेन-देन की चर्चा न होगी, पर उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वरों का मोल उनकी शिक्षा के अनुसार है।"[24]

दहेज़ प्रथा के प्रादुर्भाव के संबंध में प्रेमचन्द लिखते हैं — "पूर्वकाल में दहेज़ का नाम न था। महाशयो! कोई जानता ही न था कि दहेज़ या ठहरौनी किस चिड़िया का नाम है। सत्य मानिए, कोई जानता ही न था कि ठहरौनी है क्या चीज़, पशु या पक्षी, आसमान में या जमीन में, खाने में या पीने में। बादशाही जमाने में इस प्रथा की बुनियाद पड़ी। हमारे युवक सेनाओं में सम्मिलित होने लगे। वह वीर लोग थे, सेनाओं में जाना गर्व की बात समझते थे। मातायें अपने दुलारों को अपने हाथ से

शस्त्रों से सजाकर रणक्षेत्र में भेजती थीं। इस भाँति युवकों की संख्या कम होने लगी और लड़कों का मोल-तोल शुरू हुआ।"25

यह कुप्रथा मध्यम वर्ग के शिक्षित परिवारों में अधिक है। जहाँ सीमित आय के स्रोंतों में से बेटी के विवाह के लिए अलग से कुछ भी बचा पाना संभव नहीं है। इसीलिए बेटी का विवाह उनके समक्ष एक आर्थिक समस्या के रूप में आता है। कृष्णचन्द समाचारपत्रों में दहेज़ विरोधी लेखों को पढ़कर इस कुप्रथा के शीघ्र समाप्त होने की आशा करते है।[26] वहीं अपनी बेटी के लिए वर खोजते समय यद्यपि 'शिक्षित वर्ग उनसे सहानुभूति रखते हैं पर वह एक-न-एक ऐसी पक्ष निकाल देते थे कि दारोगाजी को निरुत्तर हो जाना पड़ता। एक सज्जन ने कहा — "महाशय, मैं स्वयं इस कुप्रथा का जानी दुश्मन हूँ, लेकिन क्या करूँ अभी पिछले साल लड़की का विवाह किया, दो हजार रुपये केवल दहेज में देने पड़े, दो हजार खाने-पीने में खर्च करने पड़े, आप ही कहिये, यह कमी केसे पूरी हो।"[27]

"भारत में अंग्रेजी राज्य ने नौजवानों को कितनी अच्छी शिक्षा दी थी। जितना भी ज़्यादा पढ़े हों—यानि ऊँची डिगरियाँ पास हो—उतनी ही ज्यादा रकम माँगों। प्रेमचन्द ने उन शिक्षितों की हकीकत ज़ाहिर कर दी जो विवाह के नाम पर लेन-देन करते थे।"[28] क्योंकि उन्होंने अपने लड़के को पाला, शिक्षित किया और उसका अन्तिम लाभ लड़की को मिलेगा तो यह सारा भार लड़के का पिता ही क्यों वहन करें।"[29] पिता ही नहीं स्वयं लड़का भी कहता है कि कहीं ऐसी शादी कराइए कि खूब रुपये मिले।"[30]

'निर्मला' उपन्यास में दहेज़ की समस्या का वास्तविक वर्णन है। यहाँ प्रेमचन्द यह स्पष्ट करते हैं कि त्तकालीन समाज में दहेज़ ही विवाह का मुख्य आधार है। उदयभानु लाल अपनी बेटी निर्मला का विवाह भालचन्द्र सिन्हा[31] के बेटे से तय करते हैं। लेकिन विवाह तोड़ देते हैं। वह पंड़ित मोटेराम शास्त्री को टालते हुए कहते हैं — 'महाराज दहेज की बात ऐसे सत्यवादी पुरुषों से नहीं की जाती। उनसे तो संबंध हो जाना ही लाख रुपये के बराबर है।... बस चले तो दहेज़ लेने वालों और देने वालों, दोनों ही को गोली मार दूँ, चाहे फाँसी क्यों न हो जाए। पूछो आप लड़के का विवाह करते हैं या उसे बेचते हैं?... मेरा बस चले, तो इन पाज़ियों को गोली मार दूँ।"[32] इस घटना के बाद भालचन्द की पत्नी कहती हैं—"साफ बात कहने में संकोच क्या? हमारी इच्छा है, नहीं करते।... जब दूसरी जगह दस हजार नकद मिल रहे हैं, तो वहाँ क्यों करूँ? उनकी लड़की कोई सोने की थोड़ी ही है। वकील साहब जीते होते, तो शरमाते-शरमाते पंद्रह बीस हजार दे मरते। अब वहाँ क्या रखा है?"[33] इन परिस्थितियों में कल्याणी किसी भी तरह निर्मला का बोझ उतारना चाहती थी, साथ ही लम्बा चौड़ा

दहेज देना उसके लिए संभव नहीं था। अतः जैसे 'सेवासदन' में सुमन का कल्याण गजाधर करता है, वैसे ही निर्मला का कल्याण तोताराम करता है। प्रेमचन्द इस कुप्रथा पर व्यंग्य करते हैं — "वह 'निर्मला' रूपवती है, गुणशील है, चतुर है, कुलीन है तो हुआ करे, दहेज़ हो तो सारे दोष, गुण हैं। गुणों का कोई मूल्य नहीं, केवल दहेज़ का मूल्य है।"[34] इस प्रकार "जिस विवाह प्रथा का आधार रुपये पैसे का लेन-देन था, निर्मला उसी की वेदी पर उस पशु की तरह छटपटाया करती थी, जिसका सिर पूरी तरह धड़ से जुदा न हुआ हो।"[35]

'कुसुम' कहानी में कुसुम को उसके पति ने इसलिए छोड़ दिया, क्योंकि कुसुम के पिता ने उसे विलायत जाने का खर्च नहीं दिया। इसमें प्रेमचन्द ने अभिभावकों के साथ लड़कों को भी इस कुप्रथा के अस्तिव को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी माना है। कुसुम के पिता ने यद्यपि लेन-देन में कोई कसर नहीं छोड़ी थी तथापि उसे प्रताड़ित किया जाता है, क्योंकि वह भुवनमोहन की विलायत में शिक्षा प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा को पूरा नहीं करते। प्रेमचन्द के अनुसार, "विद्यार्जन के लिए विदेश जाना बुरा नहीं। ईश्वर सामर्थ्य दे, तो शौक से जाओ, किन्तु पत्नी का परित्याग करके ससुर पर इसका भार रखना निर्लज्जता की पराकाष्ठा है।... यह उसी तरह की डाकाजनी है, जैसे बदमाश लोग किया करते हैं। किसी आदमी को पकड़कर ले गए और उसके घरवालों से उसके मुक्तिधन के रूप में बहुत अच्छी रकम ऐंठ ली।"[36]

प्रेमचन्द ने ऐसे विवाह का भी वर्णन किया है जहाँ दहेज तय तो नहीं किया जाता लेकिन लड़के के घरवालों को भारी-भरकम दहेज़ की उम्मीद में अपनी हैसियत से ज़्यादा व्यय करते देखा जा सकता है। प्रेमचन्द ने डाल, गहनों और जोड़ों की आकांक्षा को भी उतना ही दोषी पाया, जितना दहेज़ को।[37] इस सन्दर्भ में 'गबन' के दयानाथ के पुत्र रमानाथ के विवाह को देख सकते हैं।[38] कभी-कभी बिना किसी सामाजिक बाधा के भी मात्र इस कुप्रथा के कारण विवाह नहीं होते। 'विद्रोही' कहानी में प्रेमचन्द ने ऐसी परिस्थितियों का वर्णन किया है। जहाँ तारा और कृष्णा का विवाह इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि तारा के पिता दहेज़ में छः हजार रुपया नहीं दे सकते।[39] इसी प्रकार 'निर्मला' में उदयभानु लाल एक प्रतिष्ठित वकील हैं, इसलिए भालचन्द्र को बिना माँगे ही बहुत कुछ मिलने की उम्मीद थी।

वास्तव में भारतीय समाज में दहेज़ लेना और देना दोनों ही प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है। 'कायाकल्प' में चक्रधर के विवाह की बात चलने पर उसकी माँ का पहला प्रश्न यही रहता है कि 'दहेज़ में क्या मिलेगा'। चक्रधर द्वारा इसका विरोध करने पर वह कहती है, "तो क्या पच्चीस बरस तक यों ही पाला पोसा है?"[40]

प्रेमचन्द युग में आर्य समाज सामाजिक कुरीतियों का विरोध कर रहा था। उन्होंने दहेज़ प्रथा का भी विरोध किया। यद्यपि कुछ समाज सुधारक ऐसे भी थे जो सार्वजनिक रूप से इसकी आलोचना करते थे, लेकिन अपने पुत्र के विवाह में छिपकर दहेज़ लेते थे। यशोदानन्दन के पुत्र के तिलकोत्सव में उपस्थित लोग उनकी प्रशंसा करते है कि उन्होंने बिना दहेज लिए छोटे का रिश्ता तय किया। ऐसे ही व्यक्ति जो दहेज़ प्रथा का विरोध करते हुए कहते हैं — "यह ईश्वर का अत्याचार है कि ऐसे लोभी, धन पर गिरने वाले, बुर्दा-फरोश, अपनी संतान का विक्रय करने वाले नराघम जीवित हैं, और सुखी हैं। समाज उनका तिरस्कार नहीं करता। मगर वह सब बुर्दा-फरोश हैं।"[41] यही यशोदानन्दन अपने बेटे के विवाह मे गुप्त रूप से बीस हज़ार रुपया दहेज़ में लेते हैं।

प्रेमचन्द ने इस कुप्रथा से विशेषकर मध्यम वर्ग को ही पीड़ित दिखाया है जहाँ लेन-देन हज़ारों और लाखों में होता है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह लेन-देन कुछ सैकड़ों तक ही सीमित है। "पहले चार-पाँच सौ रुपये औसत दर्ज़े का दहेज़ था। अब वह चार-पाँच हजार तक पहुँचा है। जिस घर में दो-तीन कन्याएँ आ गईं हैं, बस समझ लो उसका सर्वनाश हो गया।"[42] 'गोदान' में होरी सोना का विवाह ले-देकर कर देता है। कुस कन्या देना चाहता था, किन्तु मर्यादा आड़े आती है और वह दुलारी सहुआइन से कर्ज़ लेता है। रूपा के विवाह के समय उसकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी इसलिए एक अधेड़ किसान रामसेवक के साथ उसका विवाह कर अपना आत्मसम्मान भी खो देता है।[43]

प्रेमचन्द ने दहेज़ प्रथा के दुष्प्रभावों को भी उज़ागर किया है। जैसे 'सेवासदन' में सुमन कुलवधू से कुलटा बन गई, दारोगा कृष्णचन्द्र को दहेज़ के लिए रिश्वत लेनी पड़ी, और अनुभवी न होने पर वह पकड़ा गया। इसी प्रकार दहेज़ के अभाव में निर्मला का विवाह चालीस वर्षीय प्रौढ़ व्यक्ति से होना भारतीय समाज की विडम्बना है। प्रेमचन्द समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार के लिए एक सीमा तक दहेज़ प्रथा को उत्तरदायी मानते थे।

शहर के पढ़े-लिखे दहेज़ प्रेमी आँखें होते हुए भी अन्धे हैं, इसलिए प्रेमचन्द ने उनको अपने व्यंग्य का मुख्य केन्द्र बनाया है। "यह प्रकृति देहातों में इतनी विकराल नहीं थी जितनी शहरी इलाको में। त्तकालीन समाज में जो लोग बेटियों के विवाह की कठिनाइयों को भोग चुके होते हैं, वही अपने बेटों के विवाह के अवसर पर बिल्कुल भूल जाते हैं कि हमें कितनी ठोकरें खानी पड़ी थी,....... बल्कि कन्या के विवाह में जो तावान उठाया था, उसे चक्रवृद्धि ब्याज के साथ बेटे के विवाह में वसूल करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं।"[44] ऐसी मनोवृत्ति वालों की प्रेमचन्द ने खुलकर आलोचना करते

हुए 1933 में लिखा "दहेज या करारदाद की बुराई सब करते हैं, मगर वही सज्जन जो सभा में सबसे ज्यादा चिल्लाते हैं, सबसे ज्यादा करारदाद करते हैं और सबसे लम्बी रकमें डकारते हैं।.... अगर आपको इस साल अपनी लड़की की शादी करनी है तो आप सभा में शरीक होकर करारदार का रोना रोएँगे, लेकिन कल जब आपके बेटे के विवाह का अवसर आएगा तो आप शाइलॉक के अवतार बन जाएँगे। ऐसा हृदयहीन समाज जिसके कर्म और वचन में कोई मेल नहीं....., कभी नहीं उठ सकता।... यहाँ तो वर अपने बाप से भी दो कदम आगे है। मोटर का तकाजा वहीं करता है, इंग्लैण्ड जाने के लिए खर्च की माँग वर ही करता है। जिस समाज में ऐसे निर्लज जन, पुरुषार्थहीन युवक हों वह बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता।"[45]

प्रेमचन्द ने इस समस्या का यथासंभव समाधान भी देने का प्रयास किया है। उन्होंने स्वयं अपनी बेटी के विवाह के समय इस समस्या से साक्षात्कार किया था।[46] उनके अनुसार "अब इस अनीति की कोई दवा है तो यही कि बालिकायें स्वयं अपना भाग्य अपने हाथ में ले लें और विवाह के बन्धन में उस वक्त तक न बँधे जब तक उनके योग्य वर न मिले।"[47] इसके अतरिक्त वह शिक्षित युवकों में उच्च श्रेणी के आत्मबल को भी जरूरी मानते हैं, जैसे 'कायाकल्प' में चक्रधन। "ऐसी प्रथाओं को कानून द्वारा तो क्या, यमराज द्वारा भी बन्द कराया जा सके, तो हमें आपत्ति नहीं, लेकिन हमें भय है कि यहाँ कानून हमारी कुछ सहायता नहीं कर सकता। जो बात अभी खुल्लम-खुल्ला होती है, तब गुप्त रूप से होगी... हाँ, विवाह के बाद कसर निकाली जा सकती है और लेने वालों को बड़ा घर दिखाया जा सकता है। लेकिन तब जब वहीं लेने वाले अपने हो जाते हैं।"[48]

इस समस्या की जड़ समाज में इतनी गहरी बैठ गई है कि कानून बनाकर भी इसे समाप्त नहीं किया जा सकता। अतः इसके निराकरण का एकमात्र उपाय है कि इसके विरुद्ध जनमत तैयार किया जाय और समाज में इसके प्रति घृणा का प्रसार हो। "जब तक लेन-देन समाज में घृणा की दृष्टि से न देखा जाएगा और जनमत उसे जघन्य न समझने लगेगा, तब तक यही दशा रहेगी। हमें अपनी सारी शक्ति यह जनमत तैयार करने में लगानी होगी।"[49]

इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने इसका एक अत्यन्त सरल और व्यावहारिक समाधान देते हुए लिखा — 'हमें तो इसका एक ही इलाज नज़र आता है और वह यह है कि लड़कियों को अच्छी शिक्षा दी जाय और उन्हें संसार में अपना रास्ता आप बनाने के लिए छोड़ दिया जाय, उसी तरह जैसे हम अपने लड़कों को छोड़ देते हैं। उनको विवाहित देखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिये, हमें लड़कियों पर भी विश्वास करना चाहिए। तब यदि वह गृहिणी जीवन बसर करना चाहेंगी, तो अपनी इच्छानुसार

अपना विवाह कर लेंगी, अन्यथा अविवाहित रहेंगी। और सच पूछो तो यही मुनासिब भी है। हमें कोई अधिकार नहीं है कि लड़कियों की इच्छा के विरुद्ध..... उनको किसी न किसी के गले मढ़ दें। हमें विश्वास रखना चाहिए कि लड़के अपनी रक्षा कर सकते हैं, तो लड़कियाँ भी अपनी रक्षा कर लेंगी।'[50] इसका एक और समाधान प्रेम विवाह है। 'बालिकाएँ स्वयं अपना भाग्य अपने हाथ में लें और विवाह के बंधन में उस वक्त तक न पड़ें जब तक कोई ऐसा वर न मिले जो प्रेम भाव से उनके सामने माथा टेके।'[50.1]

बाल विवाह और विधवा विवाह

बाल विवाह और विधवा विवाह में बहुत गहरा सम्बन्ध है। "भारतीय समाज ने सतीत्व की रक्षा के बहाने आठ नौ साल की उम्र में ही बेटियों का विवाह करना शुरू किया और पति की मृत्यु के बाद एक भारतीय औसत की आयु पच्चीस वर्ष थी उसकी बाल विधवा को आजीवन संयम और साधना का जीवन जीना पड़ता था। वहीं दूसरी ओर विधवा विवाह पर भी प्रतिबन्ध लगे।"[51] "यद्यपि वैदिक कालीन समाज में एक विधवा अपने बुजुर्गों की अनुमति से अपने मृत पति के भाई से या किसी अन्य व्यक्ति से विवाह कर सकती थी।"[52] लेकिन समय के साथ-साथ इन सभी अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगने शुरू हुए और 19वीं तथा 20वीं सदी में भारतीय समाज सुधारकों ने एक ओर नारी समानता, स्वतन्त्रता और विधवा विवाह का समर्थन किया, वहीं बाल विवाह को समाज और नारी सम्मान के लिए हानिकारक माना।

ईश्वरचन्द विद्यासागर के अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप 1856 में 'विधवा पुर्नविवाह अधिनियम' की घोषणा हुई, जिसने विधवा विवाह को वैध बनाया। लेकिन 19वीं सदी के सुधारवादी यह देखकर आश्चर्यचकित हुए कि बाल-विवाह, जो पूरे समाज में प्रचलित था, के कारण बाल विधवाओं की संख्या बहुत अधिक थी।[53] अतः बाल-विधवा की समस्या बाल-विवाह का ही परिणाम था। इस समस्या को भी प्रेमचन्द ने 'सुभागी' के माध्यम से उजागर किया है। सुभागी ग्यारह वर्ष की उम्र में ही विधवा हो गई और अब वह पूर्णतया अपने पिता और भाइयों पर निर्भर थी।[54] अतः इस उम्र में उसे आर्थिक सहायता की अपेक्षा नैतिक और मनोवैज्ञानिक सहयोग की आवश्यकता थी। 'प्रेम की होली' की गंगी चौदह वर्ष की आयु में विधवा हो गई। "वह घरेलू काम काज में मग्न रहती है और जानती है कि वह विधवा है और उसके लिए संसार के सुखों के सभी द्वार बन्द हैं।"[55]

'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने बाल-विवाह का विरोध किया है। सुमन की माँ चाहती है कि उसका विवाह छुटपन में ही हो जाए। लेकिन पिता को नए विचारों की हवा लग चुकी थी और वह इतनी छोटी उम्र में ब्याह करने के विरोधी थे।[56] बाल विवाह, हिन्दू समाज की एक प्रमुख बुराई थी और इससे पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को अधिक नुकसान था। ईश्वरचन्द विद्यासागर के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1860 का एक्ट पारित हुआ, जिसके अनुसार विवाहित और अविवाहित लड़कियों के लिए सहमति की उम्र बढ़ाकर दस वर्ष की गई।.... 1929 में 'चाइल्ड मैरिज रिस्ट्रेंट एक्ट' में विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाकर लड़कियों के लिए चौदह वर्ष और लड़कों के लिए 18 वर्ष कर दी गई।"[57] इसके बावजूद न तो बाल विवाहों में कमी आई और न ही बाल विधवाओं की संख्या में। 1933 की एक घटना का वर्णन प्रेमचन्द ने किया जिसमें एक बाल विधवा रेल की लाइन पर लेट कर जान देने का प्रयास कर रही थी क्योंकि वह जिन्दगी से तंग आ चुकी थी।[58]

"एक विधवा को समाज में कोई बौद्धिक समर्थन प्राप्त नहीं होता। यदि वह अपने पति के परिवार में ही रहती है तो उसे बहुत परिश्रम करना पड़ता है और यदि वह अलग रहती है तो उसे अपने निर्वाह के लिए परिश्रम करना पड़ता। उसे अपना सिर मुड़ाकर, त्योहारों के अवसरों में अलग रहकर गुजारना पड़ता है, क्योंकि उसे अशुभ माना जाता है।"[59] प्रेमचन्द युगीन नारी आर्थिक रूप से पुरुष पर आश्रित थी। इसलिए पति की मृत्यु के बाद एक विधवा को एक तरफ तो स्वयं को समाज की आलोचना से बचाना था दूसरी ओर उसे अपने भरण-पोषण की चिन्ता रहती थी। अर्थात् एक विधवा के जीवन की समस्या के दो पक्ष थे — आर्थिक और नैतिक। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में न केवल विधवाओं के जीवन की वास्तविकता को उजागर किया बल्कि बहुत से स्थानों पर विधवा विवाह भी कराए। जो निःसन्देह 20वीं सदी के सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव था। "जिन महाशय शारदा के विधेयक से बाल विवाह पर रोक लगी थी, उन्होंने विधवाओं को अपने पति की जायदाद में हक दिलाने का विधेयक भी पेश किया था। प्रेमचन्द ने इस विधेयक को कानून बनाने का समर्थन किया था।"[59.1]

'प्रेमचन्द ने विधवाओं के लिए दो मार्ग बताए, वे विवाह कर लें या किसी आश्रम आदि में जाकर समाज की सेवा करें।'[60] 'सेवासदन' में सुमन और शान्ती विधवा आश्रम बनाती हैं, प्रतिज्ञा उपन्यास में अमृतराय विधवाओं के लिए 'वनिताश्रम' खोलना चाहते हैं, 'बालक' कहानी में भी प्रेमचन्द गोमती को विधवा आश्रम भेजते है। पहले विकल्प को प्रेमचन्द ने सुधार आन्दोलनों के प्रभाव स्वरूप विशेष महत्व दिया है। आर्य समाज ने 20वीं सदी में विधवाओं के लिए कई आश्रम खोले थे।

यद्यपि सनातनी हिन्दुओं ने उनके इन कार्यों की आलोचना की थी, फिर भी वह प्रयास कर रहे थे। "स्वयं प्रेमचन्द ने अपनी पहली पत्नी के निधन (1904) के बाद एक बाल-विधवा शिवरानी देवी से दूसरी शादी की थी और 1909 में हुई इस शादी में परिवार और सम्बन्धियों ने शादी का बहिष्कार किया था।"[61] ऐसे ही विरोध का सामना ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महादेव गोविन्द रानाडे आदि सुधारकों को भी करना पड़ा था।

इन विरोधों की वास्तविक अभिव्यक्ति 'प्रेमा' के समाज सुधारक अमृतराय के एक विधवा ब्राह्मणी पूर्णा के साथ विवाह करने पर होती है। इस अवसर पर शहर के पुराणपंथी उस पर टीका टिप्पणी करते हैं। अन्ततः उनकी शादी में वह सभी शामिल होते हैं। शहर के पुराणपंथियों के विरुद्ध मजिस्ट्रेट ने अमृतराय का साथ दिया।[62] यद्यपि पुलिस के संरक्षण में यह विवाह हुआ और प्रेमचन्द ने साम्राज्यवादी समर्थन की प्रशंसा भी की। लेकिन समाज ने इस विवाह को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने अमृतराय पर सामाजिक दबाव डाला। जैसे उसके घरेलू नौकर काम छोड़ गए, बनिए ने सामान देना बन्द कर दिया और मुकदमे मिलने बन्द हो गये। इसके बावजूद जज ने उसकी मदद की। उपन्यास के अन्त में पूर्णा की मृत्यु हो जाती है और दीनानाथ (प्रेमा का पति) भी मर जाता है। तब पुनः वह सामाजिक बहिष्कार के बावजूद प्रेमा से विवाह करता है। इसी प्रकार 'नागपूजा' में तिलोत्तमा के पिता सामाजिक विरोधों के बावजूद अपनी बेटी का पुनर्विवाह करते हैं।[63] 'धिक्कार' में मानी का चचेरा भाई गोकुल अपने माता-पिता से छिपकर विधवा मानी का पुनर्विवाह करता है।[64]

विधवाओं के प्रति होने वाले अन्याय को प्रेमचन्द असहनीय मानते हैं, क्योंकि वह महिलाओं की पराधीनता को समझते थे और उससे सच्ची सहानुभूति रखते थे। इसीलिए 'बालक' की विधवा जिसमें गंगू से चौथा विवाह करने के बाद एक विधवाश्रम में शरण ली फिर वहाँ से भी निकाली गई, गोमती को उसका पति बच्चे सहित घर ले आता है।[65] यहाँ प्रेमचन्द ने समानता को प्रदर्शित किया है कि "यदि पुरुष वृद्धावस्था में पत्नी की मृत्यु के बाद विवाह कर लेता है, तो विधवा होने मात्र से ही नारी की समस्त आकांक्षाएँ नष्ट हो जाती हैं।"[66] बाल-विवाह भी वैधव्य का एक कारण है। एक बार विधवा होने के बाद कुलीन घर की स्त्रियों के लिए दूसरा विवाह धर्म विरूद्ध माना जाता था। नतीजतन विधवाओं को आजीवन पराश्रय में रहना पड़ता था। विधवा किसी प्रकार के सामाजिक और धार्मिक उत्सवों, त्योहारों में भाग नहीं ले सकती थी। सैर-सपाटा, श्रृंगार नहीं कर सकती थी। उसे अपनी हर इच्छा का दमन करना पड़ता है। साथ ही सबकी गुलामी करते हुए अपनी जिन्दगी

की आहुति देनी पड़ती थी। प्रेमचन्द ने विधवाओं के इस त्रासदीपूर्ण जीवन का मार्मिक वर्णन किया है। वह प्रचलित हिन्दू विवाह-प्रथा की भीं आलोचना करते हैं। 'मैं इसे विवाह का पवित्र नाम नहीं देना चाहती। यह कारावास ही है। मैं इतनी उदार नहीं हूँ कि जिसने मुझे केद में डाल रखा हो, उसकी पूजा करूँ, जो मुझे लात मारे, उसके पैरों को चूमूँ। मुझे तो मालूम हो रहा है, ईश्वर इन्हें इस पाप का दंड दे रहे हैं। मैं निःसंकोच होकर कहती हूँ कि मेरा इनसे विवाह नहीं हुआ। स्त्री को किसी के गले बाँध दिए जाने से ही उसकी विवाहिता नहीं हो जाती। न ही संयोग विवाह का पद पा सकता है।'[66.1]

'निर्मला', 'सेवासदन', और 'बेटों वाली विधवा' जैसी रचनाओं में प्रेमचन्द ने वृद्ध विधवाओं की समस्या को उभारा है। 'निर्मला' की विधवा कल्याणी, 'सेवासदन' की गंगाजली और 'बेटों वाली विधवा' की फूलमती द्वारा प्रेमचन्द ने इनकी मुख्य समस्या अर्थात आर्थिक समस्या को उजागर किया है। कल्याणी धनाभाव के कारण प्रौढ़ तोताराम से बेटी का विवाह करती है, तो गंगाजली रमानाथ से बेटी का विवाह करके इतनी दुःखी होती है, मानो किसी ने सुमन को कुएँ में डाल दिया। 'बेटों वाली विधवा' अपने पुत्रों पर आर्थिक रूप से निर्भर है, वहीं 'कर्मभूमि' की रेणुका आर्थिक सम्पन्नता के कारण आराम से जीवन यापन करती है।[67]

प्रेमचन्द युग में निम्न वर्ग विधवा विवाह के प्रश्न पर अधिक उदारवादी था और उनका समाज उसे स्वीकृत करता था। 'सुभागी' कहानी में सुभागी बाल विधवा है, जो पिता के साथ खेतों में काम करतीं है, उसका ऋण चुकाती है। उसे कमाते देख कुछ लोग उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट करते हैं और अन्त में वह विवाह कर भी लेती है। इसका कारण यह है कि उसकी बिरादरी में विधवा विवाह निन्दा की दृष्टि से नहीं देखा जाता, इसीलिए उसके वयस्क होने पर बिरादरी वाले ही उसके विवाह की सलाह देते हैं।[68] 'गोदान' में विधवा झुनिया का गोबर से विवाह होता है, यद्यपि यहां, उसका विरोध होता है, लेकिन एक तीव्र विरोध नहीं।[69] 'ज्योति'[70] कहानी की विधवा पतिव्रता कहलाने के मोह में दूसरा विवाह नहीं करती है अन्यथा उसके समक्ष कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं है।[71] "निम्न वर्ग जो हिन्दू आबादी के अस्सी प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करते हैं, में न तो बाल विवाह की प्रथा है और न ही विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध होते हैं।"[72]

"उच्चवर्गीय और शहरों में रहने वाली मध्यम वर्गीय विधवाओं में पुनर्विवाह बहुत कम प्रचलित हैं। यह स्मरणीय है कि उच्च वर्गीय और शहरी मध्यम वर्ग की आबादी कुल आबादी का दस प्रतिशत है। वहीं ग्रामीण महिलायें यद्यपि अशिक्षित हैं, उन्हें तालाक देने और पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता है।"[73] इसी प्रकार प्रेमचन्द ने यह

स्पष्ट किया है कि मध्यवर्गीय विधवा की समस्या अधिक जटिल है, क्योंकि न तो मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है और न ही उनमें विधवा विवाह प्रचलित है। समाज सुधार आन्दोलन भी बहुत प्रगति नहीं कर पाए, क्योंकि जनमत बुरी तरह विधवा विवाह के विरुद्ध था। पुरानी रुकावटों के बावजूद पुरानी चिन्तन शैली में विशेष परिवर्तन नहीं आया। "बंगाल में जब पहला विधवा विवाह हुआ, तो उत्सुकतावश हज़ारों लोग इसे देखने के लिए जुटे। इसी तरह महाराष्ट्र में हुए पहले विधवा विवाह में जुटी भीड़ ने उग्र रूप धारण कर लिया, तो पुलिस को आत्मरक्षार्थ लाठी चार्ज करना पड़ा।"[74]

विधवा विवाह पर लगे प्रतिबन्धों के दुष्परिणामों को प्रेमचन्द ने 'प्रेमा', ('नैराश्य लीला') और 'नरक का मार्ग' में वर्णित किया है। 'प्रेमा' की विधवा पूर्णा के पड़ोसी उसे सामाजिक प्रतिबन्धों, कंघी-चोटी● करने और बाल मुंड़वाने की प्रथा का पालन करने को कहती हैं। इन्हीं प्रतिबन्धों के कारण इस उपन्यास में विधवा रामकली अपनी सास से गंगा स्नान का बहाना करके निरुद्देश्य इधर-उधर घूमती है। इन प्रतिबन्धों का वर्णन प्रेमचन्द ने 'नैराश्य लीला' कहानी में मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। बाल विधवा केलासकुमारी आरम्भ में सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार चलती है लेकिन उसकी सर्वत्र आलोचना होती है। अन्तः उसने अपने व्यक्तिव, अपने मनुष्यत्व को प्रतिष्ठित करते हुए विद्रोही स्वर में कहा, "तो कुछ मालूम भी तो हो कि संसार मुझसे क्या चाहता है। मुझमें जीव है, चेतना है, जड़ क्यों कर बन जाऊँ!.... संसार मुझे जो चाहे समझे, मैं अपने को अभागिन नहीं समझती।.... मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग-पग पर मुझ पर शंका की जाय, नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिए घूमता रहे कि किसी के खेत में न जा पड़ूँ।"[75] इस प्रकार वह सामाजिक प्रतिबन्धों को चुनौती देती है। उसने जूड़ा बाँधना, और रंगीन रेशमी साड़ी पहनना शुरू किया। इस विद्रोह के लिए प्रेमचन्द ने केलासकुमारी को नहीं वरन् समाज को उत्तरदायी माना है, जिसने उसे विद्रोही बनने के लिए बाध्य किया।

'नरक का मार्ग' में एक विधवा अपनी व्यथा सुनाते हुए कहती है कि विधवा होने पर भी उसने चूड़ियाँ नहीं तोड़ीं, माँग में सिन्दूर पहले भी न डालती थी, अब भी नहीं डालती और अन्तः वह वेश्या हो जाती है 'मेरे लिए अब इस जीवन में कोई आशा नहीं। इस अधम दशा को भी मैं उस दशा से न बदलूँगी, जिससे निकलकर आई हूँ।'[76]

समाज में विधवाओं की दयनीय दशा के बारे में प्रेमचन्द ने लिखा, "वह घर का सारा काम करती, इशारों पर नाचती, सबको खुश रखने की कोशिश करती पर

न जाने क्यों चाचा और चाची दोनों उससे जलते रहते। उसके आते ही महरी अलग कर दी गई।.... एक लौंडा था, उसे भी जवाब दे दिए गया।"[77] ऐसे जीवन से मुक्ति पाने के लिए वह आत्महत्या का असफल प्रयास भी करती है। सामान्यतया आश्रित विधवाओं के बारे में आम धारणा यही रहती थी कि "विधवा है, अनाथ है, पाव भर आटा खाएगी पड़ी रहेगी। जब और नौकर चाकर खा रहे हैं तो वह अपनी बहिन ही है। लड़के की देखभाल के लिए एक औरत की जरूरत भी थी।"[78] इस प्रकार एक विधवा की प्रमुख समस्या आर्थिक निर्भरता ही थी। इसी आर्थिक निर्भरता से मुक्ति पाने के लिए प्रेमचन्द स्त्री शिक्षा को आवश्यक मानते थे। वह उनके आर्थिक अधिकारों का समर्थन करते हैं। कानूनी तौर पर आर्थिक अधिकार न होने के कारण स्त्रियों को अधिक कष्टकारक जीवन जीना पड़ता है। 'जब तक स्त्री-पुरुषों के अधिकार समान न होंगे, ऐसे आघात नित्य होते रहेंगे। सुखमय दांपत्य की नींव अधिकारसाम्य पर ही रखी जा सकती है। इस वैशम्य में प्रेम का निवास हो सकता है, मुझे तो इसमें संदेह है।[78.1]

महिलाओं की आर्थिक पराधीनता को प्रेमचन्द ने उनकी दयनीयता का कारण माना है। भारतीय समाज में महिलाओं का सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। इसलिए पति के पर्याप्त धन सम्पत्ति छोड़ने पर भी उसकी पत्नी अपने पुत्रों या सम्बन्धियों की दया पर आश्रित रहती है। "उसके पति की छोड़ी हुई सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता। अगर सम्मिलित परिवार है तो उसकी दशा और भी शोचनीय हो जाती है।"[79] वैदिक कालीन महिलाओं को सम्पत्ति पर अधिकार था। "प्राचीन हिन्दू कानून में सम्पूर्ण सम्पत्ति संयुक्त परिवार की होती थी। अतः महिलाओं को सम्पत्ति के अधिकार नहीं थे। यद्यपि स्त्रीधन का प्रचलन था, लेकिन यह वह चल सम्पत्ति थी, जो उसके माता-पिता या उसका पति उसे देते थे। 1874 में इस क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया जब विवाहिता महिलाओं के 'सम्पत्ति अधिनियम' द्वारा 'स्त्रीधन' रूपी सम्पत्ति का विस्तार किया गया।"[80]

सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों से वंचित होने के कारण विधवा हुई फूलमती, बेटों वाली विधवा, की दयनीय स्थिति का यथार्थ वर्णन प्रेमचन्द ने किया है। पंडित अयोध्यानाथ की मृत्यु के बाद उसके चारों बेटे उसकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेते है। अतः विधवा फूलमती बेटों पर आश्रित हो जाती है। फूलमती के असंतोष प्रकट करने पर उसके बेटे सम्पत्ति कानूनों के आधार पर कहते हैं, "बाप के मरने के बाद जायदाद बेटों की हो जाती हैं, माँ का हक केवल रोटी-कपड़े का है।"[81] 'गबन' में वकील इन्दुभूषण की मृत्यु के बाद उसका भतीजा मणिभूषण उसकी सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेता है। इनं परिस्थितियों में विधवा रतन सोचती है, "ऐसा कानून

बनाया किसने? क्या स्त्री इतनी नीच, इतनी तुच्छ, इतनी नगण्य है? क्यों?"[82] इस 'क्यों' के जवाब में प्रेमचन्द के अनुसार लोगों की यह मान्यता है कि "विधवा संपत्ति पाकर उसे अपने मैके वालों को दे देगी, या कोई उलझन पैदा की जा सकती है।"[83] 'हमें तो इसका एक ही इलाज नज़र आता है और वह यह है कि लड़कियों को अच्छी शिक्षा दी जाय।'[83.1]

"1929 में 'आल इण्डिया वूमन्स कान्फ्रेंस' ने हरिविलास शारदा के उस अधिनियम का समर्थन किया जिसमें विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाकर 14 वर्ष की गई थी।"[84] हरिविलास शारदा ने विधवाओं की आर्थिक समस्याओं का समाधान करने के लिए भी उनके गुजारे का बिल प्रस्तावित किया था। प्रेमचन्द ने शारदा के इस प्रयास की प्रशंसा करते हुए 1933 में लिखा, "श्री हरिविलास शारदा ने हिन्दू विधवाओं के गुजारे का बिल असेंबली में पेश करके समाज की जो सेवा की है, उसके लिए समाज को उनका कृतज्ञ होना चाहिए।"[85] इस बिल की उपयोगिता के बारे में प्रेमचन्द लिखते हैं, "जब सम्पत्ति पर उसका कानूनी अधिकार हो जाएगा तो उसके लड़के अथवा बंधु सभी उसका आदर करेंगे और किसी को उसकी मर्जी के खिलाफ कोई काम कराने का साहस नहीं होगा।... इस समय हमारा सामाजिक धर्म यह है कि शास्त्रों और स्मृतियों की शरण लेकर इस बिल को रद्द कराने की चेष्टा न करें।"[86] अतः सुधारवादियों की सामाजिक चेतना से लड़कियों को संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में अधिकार मिले। वहीं विधवाओं को भी पति की सम्पत्ति में स्वतन्त्र रूप से भागीदार माना गया।[87] प्रेमचन्द ने ऐसे सभी प्रयासों का समर्थन किया जो स्त्री स्वतन्त्रता में सहायक हों। इस तथ्य से, कि सिर्फ कानून बनने से परिस्थितियों को नहीं बदला जा सकता, भली-भाँति परिचित होने के बावजूद वह लिखते हैं, 'विधवा विवाह का बिल पास हो जाने से सभी विधवायें विवाह तो नहीं करने लगीं। शरदा कानून ने भी बाल विवाह नहीं बंद कर दिया, हाँ उसमें कुछ रुकावट अवश्य डाल दी। सबसे बड़ा कानून जनमत है। लेकिन फिर भी ऐसे कानूनों का हमें स्वागत करना चाहिए, जिनका उद्देश्य सामाजिक अत्याचारों को दूर करना हो।'[87.1]

बाल-विवाह और विधवा-विवाह के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के विचारों की अभिव्यक्ति यद्यपि उनकी रचनाओं से होती है। लेकिन इस सम्बन्ध में उनके विचारों में अर्न्तविरोध भी परिलक्षित होता है। 'प्रेमा' (1906) में उन्होंने विधवा पूर्णा और अमृतराय का विवाह कराया, जबकि बीस साल बाद लिखे गए उपन्यास 'प्रतिज्ञा' (1927) में उन्होंने विधवा पूर्णा का पुनर्विवाह न कराकर उसे अमृतराय के 'वनिताश्रम' में डाल दिया। इस सम्बन्ध में रघुवीर सिंह की शंका का समाधान करते हुए प्रेमचन्द ने स्वयं स्वीकार किया था कि 'प्रेमा' में उन्होंने विधवा का विवाह कराके हिन्दू नारी

को आदर्श से गिरा दिया था।"[88] यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि स्वयं प्रेमचन्द का 1906 तक विधवा शिवरानी देवी से विवाह नहीं हुआ था।[89]

विधवा-विवाह के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने 'धिक्कार' (1925) कहानी में अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है, "मैं विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं हूँ। मेरा ख्याल है कि पतिव्रता का यह आलौकिक आदर्श संसार का अमूल्य रत्न है और हमें बहुत सोच-समझकर उस पर आघात करना चाहिए। लेकिन मानी ('धिक्कार' की विधवा) के विषय में वह बात ही नहीं उठती। प्रेम और भक्ति, नाम से नहीं, व्यक्ति से होती है। जिस पुरुष की उसने सूरत भी नहीं देखी, उससे उसे प्रेम नहीं हो सकता। केवल रस्म की बात है, आडम्बर की, इस दिखावे की हमें परवाह न करनी चाहिए।"[90] इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ऐसी विधवाओं के पुनर्विवाह के समर्थक थे जिनका अपने पति से कोई संबंध ही न रहा हो और जो केवल इसलिए विधवा है कि उनका 'किसी' के साथ विवाह हो चुका था। इसके साथ ही वह विधवाओं को आर्थिक संसाधन देने का समर्थन करते हैं।

पन्निकर के अनुसार, "हिन्दू धर्म ने कभी भी नारी को नीच नहीं समझा है। वास्तव में नारी को शक्ति का स्वरूप और ब्रह्माण्ड की शक्ति के रूप में देखा गया है। यह धर्म नहीं, हिन्दुओं के कानून हैं जिन्होंने महिलाओं के सम्पत्ति अधिकारों को अस्वीकृत किया, उन्हें बाल-विवाह के लिए विवश किया और विधवा विवाह के अधिकारों को अस्वीकृत किया। इन तीनों में हिन्दू धर्म को प्रभावित किए बिना परिवर्तन आए हैं।"[91]

अनमेल विवाह और बहु विवाह

महिलाओं से संबन्धित ज्यादातर समस्याएँ आर्थिक स्थिति से जुड़ी होती हैं और इसीलिए धनाभाव के कारण समाज में अनमेल विवाहों को बढ़ावा मिला। 'नया विवाह' कहानी अनमेल विवाह पर आधारित है। प्रेमचन्द युग के सभी सुधारकों का ध्यान नारी समस्याओं और नारी उत्थान की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। अतः प्रेमचन्द ने जहाँ 'प्रतिज्ञा' में विधवा समस्या को उठाया, वहीं 'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' में वेश्या जैसी ज्वलंत समस्याओं पर रचनाएँ लिखीं। 1923 में उन्होंने 'निर्मला' उपन्यास द्वारा अनमेल विवाह और दहेज़ जैसे अन्य प्रश्नों को लिया। इस रचना के उद्देश्यों के बारे में प्रेमचन्द ने लिखा, "इस रचना का उद्देश्य समाज की बुराइयों का पर्दाफाश करना है।"[92] इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने दिखाया कि दहेज़ और अनमेल विवाह भारतीय समाज में पनपती हुई बीमारियाँ हैं और इनके प्रति सामाजिक चेतना समाप्त हो गई है। यदि शीघ्र ही बुद्धिजीवियों का इस ओर ध्यान

नहीं जाएगा तो यह समाज पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। क्योंकि यह एक व्यक्ति या परिवार की समस्या नहीं है वरन् पूरा समाज इसमें शामिल है।

'वरदान' में प्रतापचन्द्र और विरजन का विवाह आर्थिक विषमताओं के कारण नहीं हो पाता। जहाँ प्रतापचन्द्र शिक्षित और प्रतिभाशाली था, वहीं विरजन उसी के अनुरूप योग्य कवयित्री और विदूषी थी। उसका विवाह एक आवारा, पतंग और कबूतर उड़ाने वाले लड़के से हो जाता है। यहाँ विवाह के लिए योग्यता नहीं, सम्पन्नता पर ध्यान दिया जाता है और यह परिस्थितियाँ प्रेमचन्द के लिए असहनीय थीं। 'नया विवाह' कहानी में लाला डंगामल की दूसरी पत्नी आशा, जो आयु में उनसे बहुत छोटी है, अपने पति की सेवा में स्वयं को समर्पित नहीं करती। लालाजी उसे आभूषणों और सैर-सपाटे से बहलाने की असफल कोशिश करते हैं, यह प्रलोभन उसे उसी घर के रसोइए जुगल के प्रति आकर्षण से रोक नहीं पाते। जिन इच्छाओं को अपने बूढ़े पति के कारण अपने मन के किसी कोने में दबा दिया था, थोड़ी सी आँच लगते ही वेग के साथ बाहर छलक पड़ती है। इस कहानी का अन्त जिस वार्त्तालाप से हुआ वह प्रेमचन्द के विचारों की अभिव्यक्ति है। 'जुगल, आशा और लालाजी के सम्बन्धों के विषय में कहता है, 'मेरा ब्याह कोई 50 साल की बुढ़िया से कर दे तो मैं घर छोड़कर भाग जाऊँ या तो खुद जहर खा लूँ।'[92.1]

बेमेल विवाह उनसे उत्पन्न पारिवारिक परिस्थितियों का विशद वर्णन 'निर्मला' में मिलता है। एक तरफ भालचन्द्र और रंगीलीबाई का विवाह अनमेल था। भालचन्द्र काले भुजंग शरीर के धनी और त्तकालीन रुग्ण समाज के प्रतिनिधि स्वरूप थे। वहीं रंगीलीबाई गोरे रंग की प्रसन्न सुख महिला थी। भालचन्द हिन्दी के अक्षर बिल्कुल न पहचानते थे, लेकिन रंगीलीबाई ख़त पढ़ लेती थी।"[93] दहेज के आभाव में निर्मला का विवाह तीन बच्चों के 40 वर्षीय पिता तोताराम से होता है। अपराधी जैसे दंड की प्रतीक्षा करता है, उसी भाँति वह विवाह की प्रतीक्षा करती थी।[94] निर्मला की मनोवैज्ञानिक स्थिति का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा "अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी। अब उनकी अवस्था का एक आदमी पति था। वह उसे......... सम्मान की वस्तु समझती थी।"[95]

'निर्मला' में प्रेमचन्द ने स्पष्ट किया है कि नारी, विवाह के संबंध में धन की जगह योग्यता को महत्व देती है।[96] लेकिन ऐसे भी अनमेल विवाह हैं, जहाँ धन को महत्व दिया गया है। 'गबन' की रतन और 'गोदान' की रूपा ऐसे ही नारी पात्र हैं जो विवाहोपरान्त आर्थिक परिस्थितियों से संतुष्ट हैं। यहाँ असंतोष और संदेह की संभावना नहीं है। जबकि 'निर्मला' और 'सेवासदन' की सुमन को अपने-अपने वृद्ध

पति के संदेहों का शिकार होना पड़ता है। निर्मला का प्रौढ़ पति यद्यपि स्पष्ट रूप से अपने संदेहों को प्रकट नहीं करता, लेकिन वह अपने बेटे मंसाराम और निर्मला के पवित्र संबंधों पर संदेह कर एक ओर बेटे की मौत का कारण बनता है, वहीं दूसरी ओर निर्मला की घृणा का पात्र भी।"[97] सुमन के पति की संदेह भावना का परिचय प्रेमचन्द ने इन शब्दों में दिया है, "गजाधर प्रसाद की दशा उस मनुष्य की सी थी, जो चोरों के बीच में अशर्फियों की थैली लिए बैठा हो।"[98] वह सुमन को सुभद्रा और पद्मसिंह के घर जाने से रोकता है और अन्तः उसे घर से निकाल देता है।

अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को भी प्रेमचन्द ने स्पष्ट किया है। प्रायः नवयुवती असमय विधवा हो जाती है। निर्मला जीवन भर घुटती है और अंत में उसकी मृत्यु हो जाती है। सुमन अन्ततः वेश्या का घृणित जीवन अपनाने को बाध्य है। वेश्या जीवन बाहर से कितना ही विलासितापूर्ण नज़र क्यों न आए, स्त्री जीवन की भयावह त्रासदी का चरम रूप था। एक बार वेश्या पथ पर गई हुई औरत को दुबारा सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिलती थी। वेश्याओं की स्थिति का विशद वर्णन 'सेवासदन', 'वेश्या', 'दो कब्रें' और 'एक्टेस' में किया है। इन दुष्परिणामों से बचने के लिए प्रेमचन्द ने यह सुझाव दिया, "लड़की कंगाल को दे दें, पर बूढ़ें को न दें। गरीब रहेगी तो क्या, जन्मभर का रोना-झींकना तो न रहेगा।"[99] साथ ही वह अभिभावकों से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह भी वर पक्ष की आर्थिक सम्पन्नता को नहीं उसके व्यक्तिगत गुणों को देखें। "अपनी बालिकाओं के लिए मत देखो धन, मत देखो जायदाद, मत देखो कुलीनता, केवल वर देखो। अगर उसके लिए जोड़ का वर नहीं पा सकते तो लड़की को क्वाँरी रख छोड़ो, ज़हर देकर मार डालो पर किसी बूढ़े खूसट को मत ब्याहो।"[100]

निर्मला अपनी मृत्यु के समय रुक्मणी को अपनी बेटी देते हुए कहती है "बच्ची को आपकी गोद में छोड़े जाती हूँ। अगर जीती जागती रहे, तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा।... चाहे क्वाँरी रखिएगा, चाहे विश देकर मार डालिएगा, पर कुपात्र के गले न मढ़िएगा।"[101] जीवन भर जिस त्रासदी को उसने झेला उससे वह अपनी बेटी को मुक्त रखना चाहती थी। इन वैवाहिक कुप्रथाओं के प्रति प्रेमचन्द समाज को चुनौती देते हैं, "मैं कहता हूँ कि अगर हमारा समाज अब भी नहीं समझता और स्त्रियों के साथ इंसाफ का बर्ताव नहीं करता, तो बहुत मुमकिन है कि वह दिन जल्द ही आने वाला है, जब हिन्दुओं के घर की लड़कियाँ अत्याचारों से घबड़ाकर, अपनी इच्छानुसार शादी कर लिया करेंगी।"[102] वह समाज और उसकी मर्यादाओं को विखण्डित होने से बचाना चाहते थे।

समाज के लिए यह अपमानजनक होगा कि महिलाएँ पुरुषों के अत्याचार से पीड़ित होकर जीवन निर्वाह के लिए वेश्या जीवन को अपनाएँ। यह सामाजिक जीवन को विषाक्त बना देती है। अतः प्रेमचन्द ने इसके प्रति इसलिए घृणा उत्पन्न की ताकि इसका उन्मूलन संभव हो। वह इस प्रथा के विरुद्ध हैं, व्यक्ति के नहीं।"[106]

"मंदिरों में वेश्यावृति की प्रथा नए भारत को अतीत से विरासत में मिली थीं, ... ये बचपन में ही मंदिर की सेवा में समर्पित हो जाती थीं। हाल में मद्रास में उनकी संख्या लगभग दो लाख रही होगी, यद्यपि इनकी संगीत और नृत्य कुशलता के कारण ये कलाएँ जीवित बनी रहीं, फिर भी इस तथ्य के कारण कि ये देवदासियाँ वेश्यायें थीं, सम्मानीय कुलीन औरतों के लिए ये कलाएँ, निकृष्ट और अप्रिय अरुचिकर थी।"[107] पूर्वकालीन देवदासियों ने ही आधुनिक समाज में वेश्यावृति का रूप धारण किया। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें स्वयं इस जीवन से घृणा होने लगती है, जो सुमन के पश्चाताप से स्पष्ट है "मुझे केसा धोखा हुआ! यह स्थान दूर से कितना सुहावना, कितना मनोरम, कितना सुखमय दिखाई देता था। मैंने इसे फूलों का बाग समझा, लेकिन है क्या? एक भयंकर वन, मांसाहारी पशुओं और विषैले कीड़ों से भरा हुआ।"[108] यहाँ स्पष्ट रूप से प्रेमचन्द वेश्या जीवन के प्रति घृणा को अभिव्यक्त करते है। वेश्या जीवन बाहर से कितना ही विलासितापूर्ण नज़र क्यों न आए, स्त्री जीवन की भयावह त्रासदी का चरम रूप था। एक बार वेश्या पथ पर गई हुई औरत को दुबारा सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिलती थी।

'सेवासदन' की सुमन ने यह महसूस किया था कि एक सामान्य गृहस्थिन जीवन में उसके आत्मसम्मान का तिरस्कार किया जाता है, लेकिन वेश्या जीवन में प्रवेश करने के साथ ही वह सम्मानीय और आदरणीय हो गई। "मेरा तो यह अनुभव है कि जितना आदर मेरा अब हो रहा है उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही। किसी ने भी भीतर न जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानों मेरे चरणों से वह मंदिर पवित्र हो गया।"[109] समाज ऊपर से इन्हें जितना अपमानित समझता है, भीतर से उतना ही अधिक सम्मानित करता है।[110]

प्रेमचन्द ने इस समस्या के जो समाधान दिए हैं वह यद्यपि व्यावहारिक नहीं हैं। लेकिन इस दिशा में किया गया एक महत्वपूर्ण प्रयास है। विट्ठलदास दालमंडी से सुमन को विधवाश्रम में रखते हैं। उनके और पद्मसिंह के नेतृत्व में प्रेमचन्द ने वेश्याओं के उद्धार के लिए सुधार आंदोलन चलवाये। पद्मसिंह इसी आशय से एक प्रस्ताव म्युनिसिपैलिटी के समक्ष रखते हैं—

1. "वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थान से हटाकर बस्ती से दूर रखा जाय,
2. उन्हें शहर के मुख्य सैर करने के स्थानों और पार्कों में आने का निषेध किया जाय,
3. वेश्याओं का नाच कराने के लिए एक भारी टैक्स लगाया जाय, और ऐसे जलसे किसी हालत में खुले स्थानों में न हों।"[111]

बड़े-बड़े सेठों और रईसों के विरोध के बावजूद यह प्रस्ताव स्वीकृत होता है और वेश्यायें शहर के बाहर बने मकानों में जाने के लिए तैयार हैं।

प्रेमचन्द उपरोक्त मत के अनुसार उन्हें समाज से बहिष्कृत करना नहीं चाहते वरन् उनका उद्देश्य उन्हें सुमार्ग पर लाना है। 'हमने वेश्याओं को शहर के बाहर रहने का प्रस्ताव इसलिए नहीं किया कि हमें उनसे घृणा है। हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा।....... हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें सुमार्ग पर लाएँ, उनके जीवन को सुधारें और यह तभी संभव हो सकता है, जब वे शहर से बाहर दुर्व्यसनों से दूर रहे।'[112]

निःसंदेह प्रेमचन्द के समाधनों में स्थायित्व और व्यावहारिकता नहीं है। वास्तव में यह समस्या तब तक बनी रहेगी जब तक समाज पुनः उन्हें स्वीकार करने को त्तपर नहीं हो जाता। 'दो कब्रें, कहानी में रामेन्द्र और वेश्या पुत्री सुशिक्षित सुलोचना का विवाह तो होता है, लेकिन व्यावहारिक रूप से समाज के तथाकथित उदारवादियों ने इसका बाहिष्कार किया, कुलवधुओं ने घर आना बंद कर दिया और अन्तः रामेन्द्र ने भी परम्परागत विचारों का अनुसरण करते हुए सुलोचना पर संदेह किया।[113] यह स्पष्ट करता है कि सामाजिक परिवर्तन का काम कितना कठिन है। इसी प्रकार 'सेवासदन' में पद्मसिंह म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर चुने जाने पर अपनी प्रसन्नता के इज़हार में भोली का मुजरा कराते हैं। तारीफ तो यह हैं कि 'वह वेश्याओं के नाच-गाने के कट्टर शत्रु थे। इस कुप्रथा को मिटाने के लिए उन्होंने एक सुधारक संस्था स्थापित की थी। उन शिक्षितों की तरह जो दहेज़ के विरोधी होते हुए भी उसे लेते जाते थे, पद्मसिंह ने भी मुजरा कराना निश्चित किया।'[114]

सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने की आवश्यकता को प्रेमचन्द ने स्पष्ट रूप से 'गोदान' में वर्णित किया है। "जब तक समाज की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक बदल न डाली जाय, इस तरह की मंडली (आर्थिक सहायता देने के लिए स्थापित नाटक मंडली) से कोई फायदा न होगा।"[115] यहाँ प्रेमचन्द सुधारवादी आंदोलन की अपेक्षा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देते हैं। इस समय

(1936) तक उन्हें यह स्पष्ट हो गया था कि "जड़ पर जब तक कुल्हाड़े न चलेंगे पत्तियाँ तोड़ने से कोई नतीजा नहीं।"[116] और यह जड़ है 'त्तकालीन दूषित सामाजिक व्यवस्था'।

प्रेमचन्द ने इस दुष्प्रवृत्ति के प्रसार के कारणों की ओर संकेत किया है कि वेश्याओं के जीवन में एक समय ऐसा आता है जब वे अपनी दशा सुधारना चाहती हैं, लेकिन जीवन निर्वाह के अन्य साधनों के आभाव में उन्हें विवश होकर अपनी बेटियों को घृणित पेशे में लाना पड़ता है।[117] इसलिए प्रेमचन्द वेश्या-पुत्री को उस वातावरण से अलग रखने और उन्हें शिक्षित करने के समर्थक हैं। लेकिन स्वयं प्रेमचन्द इसे समस्या का स्थाई समाधान नहीं मानते और सफल भावी जीवन के प्रति सशंकित हैं "यह तो टेढ़ी खीर है। हमारा कर्तव्य है कि इन कन्याओं को चतुर गृहणी बनने के योग्य बना दें। उनका आदर समाज करेगा या नहीं मैं नहीं कह सकती।"[118] 'दो कब्रें' और 'आगा-पीछा' जैसी कहानियों में प्रेमचन्द ने इस समस्या का यथार्थ चित्रण किया है। जहाँ श्रद्धा और सुलोचना सभ्य और सुसंस्कृत वातावरण में पली हैं, लेकिन उनके आचरण के प्रति भगतराम और रामेन्द्र का सन्देह कायम रहता है।[119]

वेश्या-पुत्रियों को पुनः समाज का अंग बनाकर समाज के कोढ़ को यथासम्भव दूर किया जा सकता है। प्रेमचन्द वेश्या जीवन में सुधार का विरोध करने वाले समाज के संकीर्ण दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों पर प्रहार करते हैं, "उनके जीवन का सर्वनाश करने वाले हमीं लोग हैं।.... जिस प्रथा में इतनी बुराइयाँ उत्पन्न हों, उसका त्याग करना क्या अनुचित है।"[120] वह ऐसे लोगों को आगाह करते हैं, "हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें सुमार्ग पर लाएँ, उनके जीवन को सुधारें,... जिस समाज में अत्याचारी ज़मींदार, रिश्वती राज्य कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बंधु, आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमंडी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरामखोरी के सिवा और कहाँ जा सकता है।"[121] इसीलिए प्रेमचन्द ने सामाजिक व्यवस्था को सुधारने पर बल दिया है।

प्रेमचन्द स्त्रियों की पराधीनता के लिए विवाह जैसी संस्था को भी दोषी मानते हैं। वह कन्या को दान की वस्तु नहीं मानते थे। स्वयं उन्होंने अपनी बेटी का कन्यादान नहीं किया था। हिन्दू विवाह प्रथा का आधार धर्म है और धर्म के साथ धार्मिक कुरीतियाँ सहज रुप से शमिल हो जाती हैं। हिन्दुओं में यह मान्यता है कि अगर लड़की का कन्यादान माता-पिता समय पर नहीं करते तो वह पाप के भागीदार होते हैं। कन्यादान से पितृ ऋण से मुक्ति मिलती है। कन्या के विवाह का निर्णय माता-पिता अपनी इच्छा से करते हैं। इसमें कन्या की राय लेना निर्लज्जता माना जाता है।

'मैं वर्तमान वैवाहिक प्रथा को पसंद नहीं करता। इस प्रथा का आविष्कार उस समय हुआ था, जब मनुष्य सभ्यता की प्रारम्भिक दशा में था। तब से दुनियाँ बहुत आगे बढ़ी है। मगर विवाह प्रथा में जौ भर भी अन्तर नहीं पड़ा। यह प्रथा वर्तमान काल के लिए उपयोगी नहीं है।... इस प्रथा में सबसे बड़ा ऐब यह है कि ये एक सामाजिक प्रश्न को धार्मिक रुप दे देती है। दूसरा यह व्यक्तियों की स्वाधीनता में बाधक है।... हमारी बुद्धि के विकास में जितनी रुकावट इस प्रथा ने डाली है, उतनी और किसी भौतिक या दैनिक क्रान्ति से भी नहीं हुई।... आज तक हम उन्हीं पुरानी, सड़ी हुई लज्जाजनक पाश्विक लकीरों को पीटते जा रहे हैं।... क्या स्त्री का कर्त्तव्य केवल पुरुष की सम्पत्ति के लिए वारिस पैदा करना है? उस सम्पत्ति के लिए जिस पर हिन्दू नीतिशास्त्र के अनुसार पति के देहान्त के बाद उसका कोई अधिकार नहीं रहता। मैं इस वैवाहिक प्रथा को सारी बुराइयों का मूल समझता हूँ।'... 'मैं मनुष्य होने के नाते उसी श्रेणी को श्रेष्ठ समझता हूँ, जो जीवन पर्यन्त एक साथ रहते हैं, मगर स्वेच्छा से।'[121.1]

महिलाओं पर आधुनिक शिक्षा का प्रभाव

सामान्यतया यह माना जाता था कि महिलाएँ अपने जीवकोपार्जन के लिए काम नहीं करतीं, अतः उनके लिए शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। भक्ति आन्दोलन और ईसाई मिशनरियों ने लड़कियों की शिक्षा में रुचि ली और इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'बाल विवाहों' के प्रचलन के कारण लड़कियों की शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। 'अर्थ' की बढ़ती हुई महत्ता ने भी नारी शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित कराया।"[122] यद्यपि शिक्षित स्त्रियाँ सहज ही पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और नारी स्वाधीनता के विचारों से इतनी प्रभावित हो जाती हैं कि विवाह प्रथा एवं सामाजिक रूढ़ियों पर से उसका विश्वास उठने लगता है।

"कुछ अपवादों को छोड़कर प्राक् ब्रिटिश भारत में स्त्रियों को प्रायः शिक्षा नहीं मिलती थी। मध्ययुगीन विचार प्रणाली में स्त्रियों को केवल गृहकार्य की जिम्मेदारी दी गई थी। लड़कों के लिए गाँवों और शहरों में स्कूल होते थे, लेकिन स्त्रियों के लिए कहीं शिक्षा का प्रबन्ध नहीं था।"[123] समय के साथ-साथ प्रगतिवादी बुद्धिजीवियों ने स्त्री शिक्षा की आवश्यकता को स्वीकार किया, परिणामस्वरूप रूढ़िगत प्रतिरोध समाप्त हुए और "इसे राष्ट्रीय प्रगति की आवश्यक शर्त माना गया। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि सुधारवादी संगठनों—डैनिश, अमरीकी, जर्मन और ब्रिटिश मिशनरी संस्थाओं और अल्पसंख्यक, परन्तु प्रगतिशील पारसी सम्प्रदाय ने स्त्री शिक्षा की दिशा में पथ-प्रदर्शन का काम किया।"[124]

प्राक् ब्रिटिश भारत में कुछ उच्च वर्गीय महिलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध घर में ही किया जाता था। "बम्बई में अमेरिकन मिशन द्वारा पहला लड़कियों का विद्यालय 1824 में खोला गया। यद्यपि 1975 तक महिलाओं के लिए कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालयों में प्रतिबन्ध थे। 1882 के बाद लड़कियों को उच्च शिक्षा की अनुमति मिली। 1901 में भारत में महिलाओं की शिक्षा का प्रतिशत 0.6 से बढ़कर 1931 में 2.93 प्रतिशत हुआ। और 1941 में यह प्रतिशत बढ़कर 7.30 हो गया।"[125] 1927 के पूना के 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' का प्राथमिक लक्ष्य महिलाओं की शिक्षा में सुधार रखा गया।[126] प्रो. कर्वे द्वारा 1916 में स्थापित 'इण्डियन वूमेन्स यूनिवर्सिटी' ने स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करने के सिलसिले में बड़ा कामं किया।[127]

इस प्रकार प्रेमचन्द युग में स्त्रियाँ विस्तृत रूप से आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो रही थीं और उनमें विवाह न करने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। निःसन्देह यह प्रवृत्ति त्तकालीन सामाजिक अन्याय की प्रतिक्रिया का परिणाम थी। प्रेमचन्द आर्थिक आत्मनिर्भरता या सामाजिक अन्याय के विरोध की आलोचना नहीं करते हैं वरन् वह उस पाश्चात्य सभ्यता के विरोधी हैं जिसको शिक्षित महिलाएँ शिक्षा प्राप्त कर अन्धानुकरण करती हैं। "वर्तमान शिक्षा प्रणाली उन्हें माता और गृहणी बनने के योग्य नहीं बनाती। मुश्किल तो यह है कि पुरुषों ने महिलाओं को इतना सताया है कि अब वे माताएँ और गृहिणी न बनकर अपनी आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने पर तुली हुई हैं।"[128]

प्रेमचन्द ने शिक्षित महिलाओं की स्वार्थपरता और विलासिता का वर्णन किया है। 'गोदान' में मालती और 'मिस पद्मा' कहानी में पद्मा को त्तकालीन शिक्षित नारी के प्रतीक के रूप मे वर्णित किया है। शिक्षित नारी पुरुषों के अधीन नहीं रहना चाहती इसलिए अपनी शिक्षा पूरी कर लेने के बाद वह कोई-न-कोई व्यवसाय पनाती है। इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने प्रयाग महिला विद्यापीठ की शिक्षा पद्धति की प्रशंसा करते हुए लिखा, "खुशी इस बात से हुई कि यहाँ की विदुषियाँ त्तिलियाँ बनकर नहीं, गृहदेवियाँ बनकर निकलती हैं, जो जीवन के किसी क्षेत्र में अपने गृह विज्ञान कौशल से अपने लिए स्थान बना सकती हैं, दूसरों पर भार न होकर उनका उबार कर सकती हैं।"[129]

प्रेमचन्द ने स्वयं अपनी बेटी को स्कूली शिक्षा नहीं दी। उनके अनुसार, "मेरी लड़की किसी भी सुशिक्षित महिला से इन अर्थों में उत्तम शिक्षित है, कि वह अपना धर्म, अपना साहित्य, अपना कर्तव्य तथा अपने ऋणों से पूर्णतया अवगत है। मैंने स्कूली शिक्षा से उसे बचाया है, क्योंकि मेरा यह अनुभव है कि महिलाओं की वर्तमान शिक्षा पद्धति हमारे आदर्शों के अनुरूप नहीं है।"[130]

प्रेमचन्द इस वास्तविकता से दुखी थे कि भारत की शिक्षित नारी भी पुरुष की तरह पाश्चात्य सभ्यता के आदर्शों को अपना रही है। एक बार काशी विश्वविद्यालय में उन्होंने लड़के-लड़कियों को स्वतन्त्र रूप से हँसी-मजाक करते देखकर शिवरानी देवी से कहा, "लड़कियों को तो देखो त्तिली की तरह फुदक रही हैं। यहीं की अपनी आदत के अनुसार घर भर को इसी तरह का बनाने की कोशिश करेंगी। ये यहाँ सीखेंगी तो क्या, रहे सहे माता-पिता के गुण खोकर ही जाएँगी। अब इनकी शादी के लिए माता-पिता को ज़्यादा से ज़्यादा कीमत देनी पड़ेगी। क्योंकि दूसरे के घर जब तक इन्हें उड़ाने को काफी दौलत न मिलेगी, तो इनका जीवन दूभर हो जाएगा।"[131] वह उच्च शिक्षा को पारिवारिक और सामाजिक जीवन के लिए हानिकारक मानते हैं। 30 जून, 1935 में उन्होंने दयानारायण निगम को लिखा, "भाई, मैं तो तालीमयाता लड़कियों की जानिब से खुदा जाने क्यों बदगुमान हूँ। अभी तक तो लड़कों की लापरवाहियों के बावजूद गृहस्थी चलती रहती थी, क्योंकि लड़कियाँ आम तौर पर गृहस्थी का पालन करती थीं, लेकिन जब दोनों एक ही रंग में रंग गए तो फिर खुदा ही हाफ़िज है।"[132]

प्रेमचन्द स्त्रियों को आधुनिक शिक्षा देने के विरोधी थे और स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण संकीर्णतावादी है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि उनका विरोध पाश्चात्य नारी के आदर्श को अपनाने के लिए प्रेरित करने वाली शिक्षा के प्रति है। 'मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई हैं।'[133] 'शक्ति' कहानी में प्रेमचन्द ने दिखाया है कि "पाश्चात्य नारी का अनुकरण करने वाली भारतीय नारी में त्याग, सेवा आदि गुणों का लोप हो जाता है और वह व्यक्तिगत स्वार्थ को प्रधानता देती है।"[134] प्रेमचन्द ने इस तथ्य को उजागर किया है कि सामाजिक अन्याय के प्रतिक्रियास्वरूप ही भारत की शिक्षित नारी, भारतीय नारी के जीवन आदर्श को अस्वीकृत कर रही हैं। प्रेमचन्द एक ओर स्त्रियों की मौजूदा स्थिति से असंतुष्ट थे वहीं वह नारी मुक्ति के पश्चिमी आदर्श के प्रति भी शंकालु थे। सतीत्व, मातृत्व, सेवा, करुणा जैसे आदर्शों के समक्ष, पश्चिम के आधुनिक पूँजीवादी समाजों द्वारा प्रचारित मूल्यों को भारतीय संदर्भ में पूरी तरह से लागू करने में संकोच करते हैं। संभवतः वह पूँजीवादी समाज के दुष्प्रभावों के प्रति सशंकित थे। वास्तव में प्रेमचन्द का युग ही इन अन्तर्विरोधों का युग था।

महिलाओं में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जागृति

19वीं सदी के अन्त तक महिलाओं में शिक्षा का प्रसार हो चुका था और वह धीरे-धीरे आर्थिक स्वावलम्बन की ओर बढ़ रही थीं। "इस समय महिलाएँ चिकित्सा और

अध्यापन के क्षेत्र की ओर ज्यादा आकर्षित हुई।"[135] भारतीय सामाजिक व्यवस्था का एक अहम् मुद्दा पुरुष प्रभुत्व है, जिससे भारतीय समाज में महिलाओं को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। विधवाओं की दयनीय स्थिति, अनमेल अथवा बहुविवाह, दहेज़ प्रथा आदि का मूल कारण यही आर्थिक परतन्त्रता है, जो विद्या पढ़कर पुरुष रोटी कमाता है और इसलिए औरतों को अपनी लौंडी समझता है, वही विद्या विधवा स्त्रियाँ भी सीखना चाहती हैं। वह खाना क्यों पकाएँ, वकालत क्यों न करें, अध्यापिका क्यों न बनें?"[136] इस प्रकार जहाँ वह आत्मनिर्भर होंगी वहीं पुरुष के अहम् को चोट लगेगी।

'कायाकल्प' में चक्रधर और अहिल्या का पारिवारिक जीवन आर्थिक तंगी का सामना करता है, अतः, "अहिल्या ने लेख लिखा, उसका पारिश्रमिक उसे मिला, जिससे आहिल्या ने एक कम्बल खरीदा। चक्रधर ने लेख पढ़ा और पढ़कर उसके अहंकार को धक्का-सा लगा। उसके मन में गृहस्वामी होने का जो गर्व अलक्षित रूप से बैठा हुआ था, वह चूर-चूर हो गया। वह अज्ञात भाव से बुद्धि में, विद्या में और व्यावहारिक ज्ञान में अपने को अहिल्या से ऊँचा समझते थे। रुपये कमाना उनका काम था। यह अधिकार उनके हाथ से छिन गया।"[137] लेकिन अहिल्या ने कहीं भी उसे नीचा दिखाने का प्रयास नहीं किया। वहीं उच्च शिक्षा प्राप्त मिस जोशी अपने विषय में कहती हैं, "मेरी उच्च शिक्षा ने गृहिणी जीवन से मेरे मन में घृणा पैदा कर दी मुझे किसी पुरुष के अधीन रहने का विचार अस्वाभाविक जान पड़ता था।..... मैं पुरुषों की भाँति स्वतन्त्र रहना चाहती थी।"[138]

प्रेमचन्द ने ऐसी आर्थिक स्वाधीनता की आलोचना की है। उनका मानना है कि "देवताओं (पुरुषों) में प्रधानता की जो भावना उत्पन्न हो गई है यह केवल उनकी मूर्खता के कारण। वह समझते हैं कि वे बाहर से धन कमाकर लाते हैं, इसलिए उनका महत्व अधिक है। वह यह भूल जाता है कि स्त्री घर में जो काम करती है, वह उनकी कमाई से कई गुना ज्यादा महत्व की चीज है।... दोनों ही एक-दूसरे के समान रूप से पराधीन हैं।"[139] 'ग़ोदान' में धनिया मर्दों के बराबर काम करती है, इसके सिवा घर का काम भी करती है। उसे दूसरों का वह लिहाज नहीं जो होरी को है। वह कहती है "हम तो मज़दूर ठहरे, जहाँ काम करेंगे, वहीं चार पैसे पाएँगे।"[140]

प्रेमचन्द ने धनिया के दृष्टिकोण की सराहना की है, लेकिन आधुनिक शिक्षा द्वारा जो पाश्चात्य आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना, 'मिस पद्मा और मिस जोशी' में आती है, उसका वह विरोध करते हैं। पं. जवाहर लाल नेहरू ने महिला विद्यापीठ के दीक्षांत भाषण में महिलाओं को केवल वैवाहिक जीवन के लिए तैयार की जाने वाली शिक्षा का विरोध किया और कहा कि जब तक आर्थिक स्वतन्त्रता न प्राप्त होगी उस

वक्त तक पति-पत्नी में साम्यवाद न उत्पन्न होगा। प्रेमचन्द ने इस भाषण पर एक लेख में लिखा, "अगर साम्य का एकमात्र आधार आर्थिक हो जाय, तब भी कमी बेशी का झंझट रहेगा ही। अगर देवीजी एक सौ रुपया लाती हैं, और देवता जी एक सौ बीस रुपया, तो अवश्य ही कुछ थोड़ी सी असमता आ जाएगी। उसी तरह देवी जी ज्यादा कमाती हैं, तब भी असमता पैदा होगी। दोनों बराबर लाएँ तभी मीज़ान ठीक बैठेगी।"[141] इस प्रकार प्रेमचन्द ने महिलाओं की आर्थिक भूमिका की उपेक्षा नहीं की है, लेकिन इसमें वह अहंकार की भावना को शामिल करना नहीं चाहते।

प्रेमचन्द ने पारिवारिक जीवन में महिलाओं की आर्थिक भूमिका की प्रशंसा की है, क्योंकि उनका यह मानना था कि पूँजीवाद का जाल पूरी सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था पर फैल चुका है। 'अग्नि समाधि' में रूक्मिन अपने पति को चिलम पीने के लिए पैसे देने से इनकार करती है। यह रुक्मिन की आर्थिक स्वाधीनता की भावना को प्रकट करता है लेकिन पारिवारिक आदर्श को कायम रखते हुए प्रेमचन्द ने लिखा कि रात को खेतों की रखवाली करते समय जब मड़ैया आग पकड़ लेती है तो वहीं रुक्मिन दौड़कर मड़ैया थाम लेती है और रुक्मिन भी प्रयाग के साथ अग्नि समाधि ले लेती है। यहाँ प्रेमचन्द ने आर्थिक निर्भरता के बावजूद रुक्मिन का भारतीय नारी के रूप त्याग और सेवा का वर्णन किया।[142] सेवा, करुणा और त्याग जैसे आदर्शों पर इतना बल देने का कारण, प्रेमचन्द पर गांधीवाद का प्रभाव है।

महिलाओं की आर्थिक भूमिका से हमारा तात्पर्य केवल धन कमाने से नहीं है, वरन् सीमित धन में भी एक महिला घर-गृहस्थी को केसे सँभालती है, इससे भी है। 'पूस की रात' में हल्कू की पत्नी घर खर्च से कम्बल लेने के लिए पैसे बचाती है। तो 'कुन' में माधव की पत्नी माधव और घीसू दोनों बेगैरतों का दोज़ख भरती है। यहाँ तक कि भूख की समस्या सामने न रहने से दोनों काम तक करना नहीं चाहते। कोई काम के लिए बुलाता तो दुगनी मज़दूरी माँगते ताकि काम न करने का बहाना मिल जाए। वही औरत जब मृत्यु की कगार पर बैठी कराहती है तो दोनों इसी इंतजार में बैठे रहते हैं कि वह मर जाय तो आराम से आलू खाएँ।[143] "यहाँ प्रेमचन्द ने महिलाओं को नहीं वरन् पुरुषों की आर्थिक परतन्त्रता को वर्णित किया है। वह शोषण को समाप्त करने और सामाजिक न्याय के लिए आर्थिक समानता के तथ्य को स्वीकार करते हैं।"[144]

प्रेमचन्द ने राजनीति, विशेष रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन, में महिलाओं की सराहनीय भूमिका की प्रशंसा की है जो निश्चित रूप से गांधी के आन्दोलनों में महिलाओं की भूमिका का परिणाम था। गांधी ने शहरी महिलाओं को अपने घरों से

बाहर निकालकर राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रेरित किया। बहिष्कार आन्दोलन के लिए उन्होंने महिलाओं का विशेष रूप से आह्वान किया। परिणामस्वरूप हजारों महिलाएँ अपने घरों से बाहर निकलीं।

1917 में कांग्रेस ने औपचारिक रूप से महिलाओं को अध्यक्षता के लिए आमन्त्रित करके समानता की भावना का प्रदर्शन किया और पुरुषों के समान उन्हें मताधिकार देने की माँग की। 1919 के जलियाँवाला बाग दुर्घटना के बाद कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में दो सौ महिला प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जो महिलाओं की राजनीतिक चेतना की दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। गांधी के प्रयासों से हजारों महिलाएँ अपने घरों से बाहर निकलीं और उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन में भाग लिया।[145] असहयोग आन्दोलन और सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भी महिलाओं की भूमिका सराहनीय रही। प्रेमचन्द ने इस भूमिका को बहुत नजदीक से देखा था। 1930 के नमक सत्याग्रह में उनकी पत्नी शिवरानी देवी ने भी भाग लिया था और विदेशी वस्त्रों की दुकान पर धरना देने के अपराध में नौ नवम्बर 1930 में गिरफ्तार हुई थीं।[146]

बदली हुई परिस्थितियों और शिक्षा के प्रसार के कारण महिलाओं में राजनीतिक जागृति आई। 1920-21 के राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका की प्रेमचन्द उपेक्षा नहीं कर सके। 'रंगभूमि' में इन्दु को अपने भाई विनयसिंह द्वारा स्थापित 'सेवा समिति' में पूर्ण आस्था है, वहीं इनकी माँ जाह्नवी अपने बच्चों को देश पर कुर्बान होने की शिक्षा देती है। वह कहती हैं कि "अगर कोई ऐसा अवसर आ पड़े कि जाति की रक्षा के लिए उसे (विनय) प्राण देने पड़ें तो मुझे ज़रा भी शोक न होगा। शोक तब होगा जब मैं उसे ऐश्वर्य के सामने सिर झुकाते या कर्तव्य के क्षेत्र से हटते देखूँगी।"[147] "इन्दु विदेशी शासकों की अनीति से परिचित है और वह उनका समर्थन करने वाले अपने पति का सम्मान करने में स्वयं को असमर्थ पाती है।"[148] इसी उपन्यास में सोफिया विनय के देशप्रेम पर आसक्त है, लेकिन जब वह अपने मार्ग से भ्रमित होता है तो वह उसकी आलोचना करती है।

क्रान्तिकारियों के विरुद्ध गवाही देने वाले रमानाथ की पत्नी जालपा बहुत क्रोधित होती है, "तुम्हें अपने को मनुष्य कहने का कोई अधिकार नहीं,... लोगों ने हँसते-हँसते सिर कटा लिए हैं, अपने बेटों को मरते देखा है,... पर सच्चाई से जौ भर भी न हटे।... तुम क्यों धमकी में आ गए... क्यों नहीं सिर झुका दिया? देह के भीतर इसीलिए आत्मा रखी गई है कि देह उसकी रक्षा करे। इसलिए नहीं कि उसका सर्वनाश कर दे।"[149] अन्तः रमानाथ जज के समक्ष सच बोलता है और क्रान्तिकारी बच जाते हैं। यहाँ प्रेमचन्द ने जालपा के दृढ़ निश्चयी चरित्र के माध्यम से उनकी

राजनीतिक भूमिका पर प्रकाश डाला है। 'कर्मभूमि' की सुखदा अपने देश-भक्त समाज सेवक पति अमरकांत से कहीं भी कम नहीं है। 'वरदान' की सुवामा एक पुत्र प्राप्ति का वरदान माँगती है और उसे भी देशसेवा में अर्पित कर देती है।

1930 के नमक सत्याग्रह के दौरान प्रेमचन्द ने जो कहानियाँ और उपन्यास लिखे उनमें महिलाओं की राजनीतिक चेतना का प्रभावी वर्णन किया है। 1927 में प्रकाशित कहानी 'सती' मे चिन्तादेवी अपने पति रत्नसिंह के रणक्षेत्र से भाग आने पर कहती है, "तुम मेरे रत्नसिंह नहीं, मेरा रत्नसिंह... इस तुच्छ देह को बचाने के लिए, अपने क्षत्रिय धर्म का परित्याग न कर सकता था।... वह वीर राजपूत था, रणक्षेत्र से भागने वाला कायर नहीं।"[150] और रत्नसिंह के जीवित रहते हुए भी चिन्ता सती हो जाती है।

1930 के राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रेमचन्द ने महिलाओं की सक्रिय भूमिका का यथार्थ वर्णन किया है। 'जेल' और 'शराब की दुकान' में ऐसी महिलाओं का वर्णन है जो कठिनाइयों से जूझते हुए विदेशी वस्त्रों एवं ताड़ी की दुकानों पर पिकेटिंग करती हैं। 'जेल' कहानी में मृदुला इसी अपराध में गिरफ्तार होती है।[151] 'शराब की दुकान' कहानी में नगर की कांग्रेस कमेटी की महिला मेम्बर मिसेज सक्सेना शराब और ताड़ी की दुकान पर धरना देती है।[152] 'होली का उपहार' में पति द्वारा लाई गई विदेशी साड़ी को अमर लज्जित होकर जला देता है, क्योंकि बहिष्कार आन्दोलन में उसकी पत्नी सक्रिय रूप से भाग ले रही थी।[153] 'पत्नी से पति' और 'जुलूस' कहानियों की महिला पात्रों गोदावरी और मिट्ठनबाई ऐसी नारियाँ हैं जो विदेशी हुकूमत का समर्थन करने वाले अपने पति का तिरस्कार करती हैं।[154] 'माँ' कहानी की देशभक्त नारी पति के देश पर बलिदान के बाद पुत्र को भी उसी के पदचिन्हों पर चलाना चाहती है।[155]

प्रेमचन्द ने यह स्पष्ट किया कि नारी पुरुष की अपेक्षा अहिंसा के सिद्धान्त का अनुसरण अधिक सफलतापूर्वक कर सकती है। उनकी राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय जागृति को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन में नारी के सक्रिय सहयोग का यथार्थ वर्णन प्रेमचन्द की रचनाओं में मिलता है। प्रेमचन्द युग में "बड़ी तादाद में राजनीतिक जन आन्दोलन में भाग लेती हुई, शराब की दुकानों पर धरना देती हुई, प्रदर्शन में मोर्चा करती हुई, जेल जाती हुई, लाठी और गोलियों का सामना करती हुई स्त्रियों का दृश्य भारतीय इतिहास में अभूतपूर्व था।"[156] इन सबकी अभिव्यक्ति प्रेमचन्द की रचनाओं में हुई है।

प्रेमचन्द स्त्री स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। पूँजीवादी समाज में महिलाओं की बाह्य स्थिति में परिवर्तन हुआ है। स्वतन्त्रता, मानवीय समानता के बिना संभव नहीं,

इसीलिए नारी स्वतन्त्रता का आदर्श भी सामने आया। आर्थिक और सामाजिक मुद्दों पर स्त्री-पुरुष समानता के बिना महिलाओं के शोषण का अन्त संभव नहीं है। अगर पुरुष, स्त्री के प्रति ईमानदार नहीं, वह अपनी पत्नी को धोखा देता है, विलासिता में डूबा रहता है, पत्नी के प्रति अपने दायित्वों को स्वीकार नहीं कर पाता, तो ऐसे पुरुष के साथ स्त्री को भी वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। 'धनी आदमी की पत्नी को अकेले जलने और कुढ़ने की बजाय विलासिता का आनन्द लूटना चाहिए। ऐय्याश मर्द की स्त्री ऐय्याश न हो तो यह उसकी कायरता है, लतखोरपन है।[156.1] 'कुसुम' कहानी में प्रेमचन्द ने ये कहकर महिलाओं को जाग्रत् किया, 'स्त्री में कुछ तो मान, कुछ तो अकड़ होनी चीहिए। अगर पुरुष उससे ऐंठता है, तो उसे भी चाहिए कि उसकी बात न पूछे। स्त्रियों को धर्म और त्याग का पाठ पढ़ा-पढ़ाकर हमने उसके आत्मसम्मान और आत्मविश्वास दोनों ही का अन्त कर दिया। अगर पुरुष स्त्री का मोहताज नहीं, तो स्त्री भी पुरुष की मोहताज क्यों? हाँ, ईश्वर ने पुरुष को हाथ दिए हैं; तो क्या स्त्री अबोध है? इसी नम्रता ने तो मर्दो का मिज़ाज आसमान पर पहुँचा दिया। पुरुष रूठ गया, तो स्त्री के लिए मानो प्रलय आ गया।'

फरवरी 1931 में प्रेमचन्द ने एक टिप्पणी[156.2] में महिलाओं की स्वतन्त्रता के पक्ष में कुछ माँगों का समर्थन किया—

- एक विवाह का नियम स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान रूप से लागू हो। कोई पुरुष, पत्नी के जीवन काल में दूसरा विवाह न कर सके।
- पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो। वह उसे रेहन-बय जो कुछ चाहे कर सके।
- पिता की सम्पत्ति पर, पुत्रों और पुत्रियों का समान अधिकार हो।
- तलाक का कानून जारी किया जाय और वह स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान हो।
- तलाक के समय स्त्री, पुरुषों की आधी सम्पत्ति पाए और यदि मौरूसी जायदाद हो, तो उसका एक अंश।

निष्कर्ष

प्रेमचन्द की रचनाओं में नारी जीवन और उससे जुड़ी विभिन्न समस्याओं का विशद वर्णन है। प्रेमचन्द उनकी सभी समस्याओं का मूल कारण उनकी आर्थिक पराधीनता को मानते हैं। इसके साथ ही इसकी प्रक्रियास्वरूप शिक्षित महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता को भी वर्णित किया है। वह समाज के विकास के लिए स्त्री और पुरुष

दोनों के सहयोग का समर्थन करते हैं।[157] "साथ ही आर्थिक स्वतन्त्रता पर भी बल देते हैं और उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत् करते हैं। अब तक समस्त संसार में यह कायदा था कि नारी को एक ही काम के लिए पुरुषों से कम मज़दूरी मिलती थी।... लेकिन समय बदल रहा है या बदल गया है और अब नारियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह बहुत से कामों में पुरुषों के बराबर ही नहीं पुरुषों से ज्यादा काम करती हैं।"[158] इसीलिए वह समानता की बात करते हैं। प्रेमचन्द नारी को पुरुष से महान् और दृढ़ निश्चयी मानते थे। "स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना प्रकाश अँधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा, त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है।"[159]

राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में महिलाओं के उद्धार के लिए 20वीं सदी के आरम्भ में बहुत से संगठनों का गठन हुआ। जिनमें प्रमुख थे, 'भारत महिला परिषद' (1904), 'भारत स्त्री महामण्डल' (1904), 'वूमेन्स इंण्डियन एसोसिएशन' (1917-एनीबेसेन्ट), 'नेशनल काउंसिल ऑफ वूमेन्स इन इण्डिया' (1925 लेडी एबरडन और लेडी टाटा), और 'ऑल इण्डिया वूमेन्स कांफ्रेंन्स' (1927 मार्गरिट क्यूजन), इसके अतरिक्त कस्तूरबा गाँधी की मृत्यु के बाद 'कस्तूरबा गाँधी नेशनल मेमोरियल ट्रस्ट' आरम्भ किया गया। इन संगठनों में महिलाओं की शिक्षा, पर्दा प्रथा[160] और बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों, हिन्दू कानून में सुधार, महिलाओं की नैतिक और भौतिक प्रगति, अधिकारों की समानता और महिलाओं के दृढ़ आधार के मुद्दे उठाए गए। "इस प्रकार महिला आन्दोलन के दो लक्ष्य थे — सामाजिक परंपराओं में सुधार कर महिलाओं का उत्थान करना और उन्हें समाज में समानता का अधिकार देना।"[161] प्रेमचन्द की रचनाओं में भी एक ओर सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयास हुआ है, तो दूसरी ओर उन्होंने स्पष्ट रूप से समान अधिकारों की वकालत की है।

प्रेमचन्द ने यह महसूस कर लिया था कि जब तक महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार नहीं मिलेंगे तब तक उनकी स्थिति में सुधार संभव नहीं। यद्यपि "सैद्धान्तिक रूप से महिलाओं को काफी स्वतन्त्रता दी गई है, लेकिन व्यावहारिक रूप से आज भी वह उपेक्षा, अपमान, दुर्व्यहार से पीढ़ित हैं।"[162] अपने अन्तिम और अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' में उन्होंने इसे स्पष्ट किया है। इसमें शिक्षित पुरुष, स्त्री को समान अधिकार देने की बात तो करता है, लेकिन व्यावहारिक रूप से इस पर अमल नहीं कर पाता। संतकुमार ऐसा ही पात्र है जो अपने आदर्शों को वास्तविक जीवन में लागू नहीं कर पाता। "स्त्री पर शासन करने का जो संस्कार है वह इतनी जल्द किसे बदल सकता है। ऊपर की बातों में संतकुमार उसे (पुष्पा) अपने बराबर

का स्थान देते थे, लेकिन इसमें एक प्रकार का अहसान छिपा रहता था। महत्व की बातों में वह लगाम अपने हाथों में रखते थे।"[163] शायद समानता की बात करके वह समझता है कि वह उस पर एहसान कर रहा है।

लेकिन समय के साथ साथ महिलाओं के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया उन्होंने अपने महत्व को समझा। परिणामस्वरूप उनमें अपने अधिकारों के प्रति नवीन जागृति आई। "विशेषकर जिन बंधनों से पुरुषों ने उन्हें जकड़ रखा था और उन पर शासन करते थे, उन बेड़ियों को तोड़ फेंकने के लिए वह बहुत विकल हो रही हैं... राजनीतिक क्षेत्र में भी महिलाओं ने अपने परिष्कृत सद्विचार का परिचय दिया है वह सार्वजनिक निर्वाचनाधिकार चाहती हैं, जायदाद या शिक्षा की केद उन्हें पसंद नहीं।"[164] अब वह अपमान या अन्याय सहने को तैयार नहीं थीं और अपने व्याभिचारी पति का तिरस्कार करने में भी सक्षम थीं।

एक प्रगतिशील दृष्टिकोण के साथ प्रेमचन्द के नारी पात्र भविष्य के तूफानों की भविष्यवाणी है, वह नए ऐतिहासिक परिवर्तन की सूचना है और वह इतनी तीव्रता से आगे बढ़ेगी, जिसके समाने अतीत की सभी दुष्प्रवृत्तियाँ धूमिल हो जाएँगी। प्रेमचन्द ने नारी की पराधीनता और उससे मुक्त होने के लिए उसमें आई जागृति का सफल और यथार्थवादी वर्णन किया है। उसके सामाजिक आर्थिक शोषण को समाप्त करने को प्राथमिकता दी। उनकी दृष्टि में नारी जीवन की समस्याओं का एकमात्र समाधान उनको प्रत्येक क्षेत्र में समानता का अधिकार देने में निहित है। प्रेमचन्द द्वारा उठाए गए कई सवाल आज भी कायम हैं। महिलाओं की मुक्ति का संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है। इसीलिए प्रेमचन्द की प्रासंगिकता इस परिप्रेक्ष्य में आज भी कायम है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ए. आर. देसाई, 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि', पृ. 218-19
2. आर. कुप्पूस्वामी, 'सोशल चेन्ज इन इण्डिया', 1990, नई दिल्ली, पृ. 264.
3. ए. आर. देसाई, पृ. 218, 'महाजनी सभ्यता' प्रेमचन्द ,रचनावली, भाग-7, पृ. 519.
4. वही, पृ. 519.
5. कुप्पूस्वामी, पृ. 259-60. रमेश चन्द्र दत्त के अनुसार, 'Hindu Women held an honoured place. They inherited and possessed property, they took share in sacrifices and religious duties, they attended great assemblies and state occassions, they also distinguished themselves in sciences and learning at their times... considered as intellectual companions of their husbands, as the friends....... in their religious duties, and the centre of their domestic bliss, Hindu wives were honoured and respected in ancient times."

अनमेल विवाह के अतिरिक्त 'बहुविवाह' का भी प्रचलन भारतीय समाज में है, जिसकी प्रेमचन्द ने आलोचना की है। वह स्वयं अपने पिता के दूसरे विवाह और विमाता के कठोर व्यवहार के भुक्तभोगी थे। उन्होंने एक विवाह पद्धति का ही समर्थन किया है जहाँ पारिवारिक एकता की संभावना अधिक रहती है। 'कायाकल्प' में ठाकुर विशाल सिंह की तीन पत्नियाँ हैं, लेकिन उसे अपने जीवन में शान्ति नहीं मिली। "ब्याह जोड़ का अच्छा होता है। ऐसा ब्याह किस काम का कि वर वधू का बाप मालूम हो।"[103] 'गोदान' में झींगुरीसिंह की तीन पत्नियाँ उसकी आड़ में अभद्र व्यवहार करती हैं और स्वयं झींगुरीसिंह व्यंग्य का केन्द्र बनता है।

अनमेल विवाह और उसके दुष्परिणामों के लिए प्रेमचन्द किसी एक व्यक्ति को दोषी नहीं मानते। 'निर्मला' की माँ दोषी नहीं है, "वह बेचारी अपने वैधव्य, अन्य परेशानियों और अपने बच्चों के असुरक्षित भविष्य की आशंका से डरी हुई दुर्बल नारी है। इतनी निरीह प्रतीत होती है कि उसे निर्मला की हत्यारिणी कहने का साहस नहीं होता। तोताराम! उसे भी दोषी ठहराना मुश्किल है, 'बूढ़ा वकील तोताराम निर्मला के प्रति इतना सहृदय है और उसे प्रसन्न करने के प्रयत्नों में स्वयं को इतना उपहासस्पद बना लेता है कि न कहीं उसे लेखक दोषी मानता है, न पाठक।"[104] प्रेमचन्द ने सामाजिक व्यवस्था को ही दोषी ठहराया है।

वेश्या जीवन : एक घृणित जीवन

प्रेमचन्द ने सामाजिक समस्याओं को सुधारवादी ढंग से उठाया है। 'सेवासदन', 'वेश्या', 'निर्वासन', 'दो कब्रें', 'एक्ट्रेस', 'गोदान' और 'गबन' में उन्होंने वेश्या जीवन की त्रासदी का वर्णन किया है। 'सेवासदन' में उन्होंने विशद रूप से इस समस्या के कारणों को खोजने और उनका समाधान देने का प्रयास किया है। उन्होंने यह चिन्ता व्यक्त की कि भले ही परिस्थितियों से विवश होकर लड़कियाँ बाजार में आ गई हों लेकिन वह पुनः समाज में अपना स्थान बनाना चाहतीं हैं और यही उनके जीवन की विकट समस्या है। क्योंकि ऐसी महिलाओं को समाज पुनः स्वीकार करने के लिए त्तपर नहीं रहता। 'सेवासदन' की सुमन वेश्या जीवन छोड़कर विधवाश्रम में जाती है। एक पत्ति महिला कितना ही त्यागपूर्ण जीवन क्यों न व्यतीत करे उस पर समाज आसानी से विश्वास नहीं कर सकता। "देवता की मूरत टूटकर फिर नहीं जुड़ती। वह अब देवी बन जाए तब भी मैं उसका विश्वास नहीं करूँगी।"[105]

प्रेमचन्द ने वेश्याओं के प्रति कहीं भी घृणा की अभिव्यक्ति नहीं की है और उनमें सामान्य जीवन के प्रति प्रबल आकांक्षा के तथ्य को उजागर किया है। लेकिन उन्होंने वेश्या जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न करने का प्रयास किया है। "किसी भी

6. वही, पृ. 260.
7. वही, पृ. 260-61.
7.1. 'कुसुम' कहानी, मानसरोवर, भाग-2, पृ. 19.
8. 'उद्धार' और 'नैराश्य', कहानी', रचनावली, भाग-13, पृ. 88.
9. 'सुभागी' कहानी, रचनावली, भाग-14, पृ. 326.
10. ए. आर. देसाई, पृ. 219.
11. 'कर्मभूमि' पृ. 185-86.
12. 'नारी जाति के अधिकार', प्रेमचन्द, 'हंस', फरवरी 1931, रचनावली, भाग-8, पृ. 70.
13. 'गोदान', पृ. 167.
14. सुमित सरकार, पृ. 52, Swami Vivekanand (1863-1902) said, "that country and that nation which did not respect women have never become great nor will ever be in the future." कुप्पूस्वामी, पृ. 269.
16. 'सेवासदन', पृ. 88.
17. 'गोदान', पृ. 123-24.
18. वही, पृ. 2, 89, 126, 212.
19. 'प्रेमचन्द ने कहा था', सीताराम खोड़ावाला, पृ. 49-50.
20. 'गोदान', पृ. 134.
21. 'शाप' कहानी, प्रेमचन्द, रचनावली, भाग-11, पृ. 54.
22. कुप्पूस्वामी, पृ. 268-70, 'पंड़ित रमाबाई ने उच्च वर्गों की विधवाओं के लिए आश्रम बनाया, जबकि रमाबाई रानाडे, जो महादेव गोविन्द रानाड़े की पत्नी थीं, ने अशिक्षित और विधवा महिलाओं के लिए यह क्लब खोले थे।'
23. ए. आर. देसाई, पृ. 219. "In the middle of 1926, Margaret Cousins, the secretary of the 'Women's Indian Association', sent out an appeal to the various states in the country requesting the women leaders to hold constituent conferences in each state, during the last quarter of 1926 conferences were held in as many as 22 places. As a result of these local conferences the 'All India Women's Conference' was established...... Thus the women established an all India organisation to help them in their struggle for their rights."Kuppuswami, P. 275.
24. 'सेवासदन', पृ. 07.
25. 'एक आँच की कसर', कहानी, रचनावली भाग-13 पृ. 75.
26. 'सेवासदन' पृ. 6.
27. वही, पृ. 7.
28. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द', पृ. 33.

29. 'सेवासदन', पृ. 7.
30. 'निर्मला', पृ. 48, भुवनमोहन अपनी माँ से कहता है, "कहीं ऐसी जगह शादी करवाइए कि खूब रुपये मिलें। और न सही, एक लाख का डौल हो, वहाँ अब क्या रखा है वकील साहब रहे ही नहीं, बुढ़िया के पास अब क्या होगा।" पृ. 34.
31. भालचन्द का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा "भालचन्द बहुत ही स्थूल ऊँचे कद के आदमी थे। ऐसा मालूम होता था कि काला देव है या कोई हब्शी अफ्रीका से पकड़कर आया है।.......... बस कोयले की एक सजीव मूर्ति थी।" निर्मला, पृ. 8.
32. 'निर्मला', पृ. 29.
33. वही, पृ. 31.
34. वही, पृ. 40.
35. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द', पृ. 61.
36. 'कुसुम' कहानी, रचनावली, भाग-15, पृ. 57.
37. 'एक आँच की कसर', रचनावली, भाग-13.
38. 'गबन', पृ. 40
39. 'विद्रोही' कहानी रचनावली भाग-14, पृ. 144.
40. 'कायाकल्प' पृ. 11
41. 'एक आँच की कसर' कहानी
42. 'प्रेमचन्द के विचार', भाग-1, पृ. 265.
43. 'गोदान', पृ. 145, 386, 380, 257.
44. 'उद्धार' कहानी, रचनावली, भाग-13, पृ. 88.
45. 'कायस्थ कार्प्रेंस', प्रेमचन्द रचनावली, भाग-8, पृ. 223-24. जनवरी 1933, 'जागरण' में प्रकाशित
46. रचनावली, भाग-19, पृ. 239, 244, 246.
47. 'कायस्थ कांफ्रेस', पृ. 224.
48. 'वैवाहिक लेन-देन और कानून', 9 अप्रैल 1934, 'जागरण' रचनावली, भाग-9, पृ. 89.
49. वही, पृ. 89.
50. 'एक दुखी बाप', 19 अप्रैल 1933, 'जागरण' रचनावली, भाग-8, पृ. 291
51. कुप्पूस्वामी, पृ. 261, 264, "It must be remembered that even in 1930 the longevity of an Indian was only 25 yrs".

50.1. 'विविध प्रसंग', भाग-3, पृ. 256.

52. वही, पृ. 259
53. वही, पृ. 263-64.

54. 'सुमागी' कहानी, रचनावली, भाग-14, पृ. 326.
55. 'प्रेम की होली', रचनावली, भाग-14, पृ. 228.
56. 'सेवासदन' पृ. 03.
57. ए. आर. देसाई, पृ. 220.
58. 'अभागिनी विधवा', 17 जुलाई 1933, 'जागरण', रचनावली, भाग-8, पृ. 372.
59. अल्तेकर, 'द पोजीशन ऑफ वीमेन्स इन हिन्दू सिविलाइजेशन', पृ. 164,1959, दिल्ली।
59.1. 'विविध प्रसंग', भाग-3, पृ. 217.
60. राम विलास शर्मा, 'प्रेमचन्द', पृ. 121.
61. रचनावली, भाग-19, पृ. 413.
62. 'प्रेमा', (1906), पृ., 156-157, 190.
63. 'नागपूजा' रचनावली, भाग-12, पृ. 465.
64. 'धिक्कार', रचनावली भाग-14, पृ. 313.
65. 'बालक' रचनावली भाग-15, पृ. 181.
66. 'प्रतिज्ञा', पृ. 27, 'प्रेमाश्रम', पृ. 325.
66.1. 'नरक का मार्ग', मानसरोवर, भाग-3, पृ. 27.
67. 'निर्मला' पृ. 08, 'सेवासदन' पृ. 05, 'बेटों वाली विधवा', रचनावली, भाग-15, पृ. 87.
68. 'सुभागी', रचनावली, भाग-14, पृ. 326.
69. 'गोदान', पृ. 78.
70. 'ज्योति', रचनावली, भाग-15, पृ. 187.
71. "99 प्रतिशत से अधिक विधवाओं का यह मानना है कि एक स्थापित परम्परा से विचलित होना उनके लिए एक महान पाप होगा। महिलाएँ बहुत रूढ़िवादी हैं और इस सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण उनके ही हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।" अल्तेकर, पृ. 159.
72. जे. कृष्णमूर्ति, 'वुमेन इन कोलोनियल इंडिया-एस्से ऑन सरवाइवल, वर्क एण्ड द स्टेट', पृ. 2.
73. कुप्पूस्वामी, पृ. 262-63.
74. बिपिन चन्द्रा, 'भारत का स्वतन्त्रा संघर्ष', पृ. 52.
75. 'नैराश्यलीला', रचनावली, भाग- 12, पृ. 389.
76. 'नरक का मार्ग' रचनावली, भाग- 13, पृ. 160.
77. 'धिक्कार' कहानी, पृ. 16.
78. 'निर्मला', पृ. 62.
78.1 'मानसरोवर', भाग- 2, पृ. 18.
79. 'विधवाओं के गुजारे का बिल', 2 अक्टूबर 1933, जागरण , रचनावली, भाग-8, पृ. 448

80. कुप्पुस्वामी, पृ. 259, 264.
81. 'बेटों वाली विधवा' कहानी, पृ. 61.
82. 'गबन' पृ. 263.
83. 'विधवाओं के गुजारे का बिल', रचनावली, भाग-8, पृ. 448.
83.1 'मानसरोवर' भाग-2, पृ. 260.
84. कुप्पुस्वामी, पृ. 276.
85. रचनावली भाग-8, पृ. 448.
86. वही, पृ. 449
87. कुप्पुस्वामी, पृ. 277, "It will be clear that the claim of the daughter, the wife and the widow, to share in the property of the family involve a revolution use an but fundamental in the Hindu life" कुप्पुस्वामी, पृ. 277.
87.1. 'विविध प्रसंग', भाग-3, पृ. 258.
88. 'आजकल', फ़रवरी 1952, पृ. 20
89. रंचनावली, भाग-19, पृ. 413.
90. 'धिक्कार' कहानी, पृ. 70.
91. K.M. Panikkar, "Hindu Society At Cross Roads" पृ. 97.
92. रामविलास शर्मा, पृ. 65.
92.1. 'नया विवाह', कहानी, मानसरोवर, भाग-2, पृ. 337.
93. 'निर्मला' पृ. 12-13.
94. वही, पृ. 142.
95. वही, पृ. 59.
96. 'नया विवाह' कहानी मानसरोवर, भाग-2, पृ. 377.
97. 'निर्मला' पृ. 72.
98. 'सेवासदन' पृ. 23.
99. 'कायाकल्प' पृ. 126.
100. 'नरक का मार्ग' कहानी, पृ 61.
101. 'निर्मला' पृ. 206
102. 'प्रेमचन्द घर में', शिवरानी देवी, पृ. 97
103. 'कायाकल्प', पृ. 68, विशालसिंह की पहली पत्नी लौंगी मनोरमा के साथ उसके तीसरे विवाह का विरोध करती है।
104. 'प्रेमचन्द', नरेन्द्र कोहली, पृ. 63.
105. 'सेवासदन', पृ. 230.

106. सीताराम खोड़ावाला, पृ. 63.
107. ए. आर. देसाई, पृ. 220-21.
108. 'सेवासदन', पृ. 78.
109. वही, पृ. 99.
110. 'वेश्या' कहानी, रचनावली, भाग-15, पृ. 161.
111. 'सेवासदन', पृ. 182.
112. वही, पृ. 148.
113. 'दो कब्रें' कहानी, रचनावली, भाग-14, पृ. 367.
114. 'सेवासदन', पृ. 277.
115. रामविलास शर्मा, पृ. 36.
116. 'गोदान' पृ. 331.
117. वहीं
118. 'सेवासदन' पृ. 120.
119. वही, पृ. 240.
120. 'आगापीछा' कहानी, रचनावली, भाग-14, पृ. 153, और 'दो कब्रें' कहानी।
121. 'सेवासदन', पृ. 116.
121.1. 'दो सखियाँ', कहानी, 'मानसरोवर', भाग-4, पृ. 238-41.
122. वही, पृ. 155, 192.
123. अल्तेकर, पृ. 27-28.
124. ए. आर. देसाई, पृ. 221.
125. राम आहूजा, 'इंडियन सोशल सिस्टम', 1993, न्यू देहली. 'हैण्डबुक ऑन सोशल वेलफेयर स्टैटिस्टिक्स्', मिनिस्टरी ऑफ सोशल वेल्फेयर, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, 1981, पृ. 85, और 'सेंसस ऑफ इंडिया', 1991.
126. कुप्पुस्वामी, पृ. 275-76.
127. ए. आर. देसाई, पृ. 222, "1901 में प्राथमिक विद्यालयों में 100 लड़कों के मुकाबले मात्र 12 लड़कियों ने प्रवेश लिया, 1950-51 में यह संख्या बढ़कर 39 हुई और 1965-66 में प्रत्येक 100 लड़कों के मुकाबले 55 लड़कियों ने प्रवेश लिया।" कुप्पुस्वामी, पृ. 278-79.
128. 'कुमारी शिक्षा का आदेश', प्रेमचन्द 22 जनवरी 1934, 'जागरण', रचनावली, भाग-9, पृ.28.
129. 'प्रयाग महिला विद्यापीठ की साहित्यिक प्रगति', प्रेमचन्द, फरवरी 1933, 'हंस', रचनावली, भाग-8, पृ. 242.
130. रचनावली, भाग-19, पृ. 202. यह पत्र प्रेमचन्द ने अप्रैल 1928 को अपनी बेटी के विवाह के सम्बन्ध में विपिन बिहारी श्रीवास्तव को लिखा था।

131. 'प्रेमचन्द घर में', पृ. 166.
132. रचनावली, भाग-19, पृ. 475
133. 'गोदान', पृ. 166.
134. 'शक्ति' कहानी, रचनावली, भाग-15, पृ. 237.
135. कुप्पुस्वामी, पृ. 267.
136. 'कुमारी शिक्षा का आदर्श', रचनावली, भाग-9, पृ. 28.
137. 'कायाकल्प', पृ. 240.
138. 'विश्वास' कहानी, रचनावली, भाग-13, पृ. 179.
139. 'महिलाओं की शिक्षा पर पं. जवाहरलाल नेहरू', प्रेमचन्द, 29 जरवरी 1934, जागरण, रचनावली, भाग-9, पृ. 38.
140. 'गोदान', पृ. 180.
141. रचनावली, भाग-9, पृ. 38.
142. 'अग्नि समाधि', रचनावली, भाग-14, पृ. 11.
143. 'पूस की रात', रचनावली, भाग-14, पृ. 35, 'कुन', रचनावली, भाग-15, पृ. 401.
144. डॉ. सुरेश धींगड़ा, 'प्रेमचन्द की आर्थिक भूमिका', पृ. 64.
145. कुप्पुस्वामी, पृ. 270-73. Amrit Kaur wrote, 'Gandhi's fundamental faith in the equality of women was based on the doctrine of non-violence'.
146. 'कलम का सिपाही', अमृतराय, पृ. 463 शिवरानी देवी लखनऊ की महिला स्वयं सेवकों की संस्था में शामिल हुई थी। यदि कोई दुकानदार अपने माल पर मुहर नहीं लगाता तो उसकी पत्नी धरना देने आ बैठती थी।' पट्टाभी सीतारमैया, 'कांग्रेस का इतिहास', पृ. 340.
147. 'रंगभूमि', पृ. 100.
148. वही, पृ. 174.
149. 'गबन', पृ. 231-32.
150. 'सती' कहानी, रचनावली, भाग-13, पृ. 363.
151. 'जेल' कहानी, रचनावली, भाग-14, पृ. 443.
152. 'शराब की दुकान', रचनावली, भाग-14, पृ. 355.
153. 'होली का उपहार', रचनावली, भाग-14, पृ. 480.
154. 'जुलूस' रचनावली, भाग-14, पृ. 31, 'पत्नी से पति', रचनावली, भाग-14, पृ. 333.
155. 'माँ', रचनावली, भाग-14, पृ. 243.
156. ए. आर. देसाई, पृ. 222.

156.1. 'मानसरोवर', भाग-2, पृ. 238.

156.2. 'विविध प्रसंग', भाग-3, पृ. 250.

157. 'प्रेमचन्द घर में', पृ. 125. "मैं तो यहाँ तक समझता हूँ कि कोई पुरुष बिना स्त्रियों के कुछ भी नहीं कर सकता। जब तक स्त्रियों का हाथ किसी काम में न लगेगा, तब तक कोई काम पूरा नहीं पड़ सकता। जब घर की स्त्रियाँ और पुरुष हिन्दुस्तान की तरक्की में लगेंगे, तभी कल्याण होगा।"

158. 'नारियों के साथ अन्याय क्यों?' 'हंस', मई 1934, रचनावली, भाग-9, पृ. 107.

159. 'गोदान' पृ. 163, 160. रचनावली, भाग-8, पृ. 117, 'पर्दा थोड़े दिनों का मेहमान है, 'हंस' 1932, मई।

161. राम आहुजा, पृ. 98-99.

162. वहीं, पृ. 99.

163. 'मंगलसूत्र', प्रेमचन्द स्मृति, पृ. 272.

164. 'भारतीय महिलाओं में नई जागृति', 'हंस', दिसम्बर 1932, रचनावली, भाग-8, पृ. 198, 'लखनऊ की वेश्याओं में नयी जागृति', जागरण, 10 अप्रैल 1933, रचनावली, भाग-9, पृ. 286, ए. आर. देसाई, पृ. 223.

निष्कर्ष

प्रेमचन्द ने व्यक्ति और समाज के अन्तर्सम्बन्धों को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों और अपने व्यक्तिगत अनुभवों से जिस साहित्य की रचना की वह भारत की आम जनता की वास्तविक स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है। उन्होंने जिन सामाजिक-आर्थिक मुद्‌दों को अपनी रचनाओं में उठाया, उसका वास्तविक चित्रण करने का सफल प्रयास किया। चाहे यह मुद्दे सामाजिक जीवन या किसानों की दयनीयता से संबंधित हों, चाहे महिलाओं की स्थिति और शिक्षा के परिणामस्वरूप उनमें आई जागृति या समाज सुधार आन्दोलनों की भूमिका से संबंधित हों या फिर तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन की ज्वलन्त समस्या साम्प्रदायिकता ही क्यों न हो। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में जिन मुद्‌दों को उठाया है, वह आज भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कायम हैं। इसीलिए प्रेमचन्द तब भी उतने ही प्रासंगिक थे जितने आज हैं।

प्रेमचन्द ने संकीर्णतावादी आलोचकों की परवाह न करते हुए उन सभी विषयों की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आलोचना की जो समाज की प्रगति में बाधक थे और भारत को एक चिरकालीन पराधीनता में जकड़े रहना चाहते थे। वह सामन्तशाही परम्परा का विरोध करते हैं, साम्राज्यवादी सरकार की साजिशों को उजागर करते हैं जिन्होंने पूँजीवाद को बढ़ावा दिया, वह हिन्दू एवं मुस्लिम साम्प्रदायिकता की खुलकर आलोंचना करते हैं और जिसका उन्होंने पक्ष लिया वह संघर्षशील आम जनता थी, जो इन सभी जटिलताओं से मुक्त स्वाधीन भारत चाहती थी।

प्रेमचन्द ने अपने व्यक्तिगत जीवन में हमेशा संघर्षों का सामना किया था और वही संघर्ष उनकी रचनाओं में भी दिखाई देते हैं। उनकी रचनाओं में ग्रामीण जीवन के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पक्षों को विशेष महत्व दिया गया, जो समय के साथ-साथ नवीन और आधुनिक वातावरण से प्रभावित हो रहा था और इस नवीन जागृति को उजागर करने का श्रेय प्रेमचन्द को है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रेमचन्द की रचनाओं का विशेष महत्व है उन्हें केवल हिन्दी साहित्य तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है। औपनिवेशिक भारत का जो वर्णन उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है उनकी शासकीय और गैर-शासकीय स्रोत पुष्टि करते हैं। यद्यपि यदा-कदा कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी मिलते हैं, लेकिन उससे उनका ऐतिहासिक महत्व कम नहीं होता।

किसानों और उसके शोषकों का वर्णन प्रेमचन्द ने अपनी अधिकतर रचनाओं में किया। किसानों के जीवन, दयनीयता और शोषण का जैसा चित्रण प्रेमचन्द ने किया है वैसा चित्रण अन्यथा मिलना असंभव है। उन्होंने किसानों के शोषण को बहुत नज़दीक से देखा था, जहाँ किसानों पर करों के बोझ के अतिरिक्त ज़मीदारों की बेगार, सरकारी चंदे और अफसरों को दी जाने वाली दावतों का भी बोझ रहता था, साथ ही रामलीला जैसे उत्सवों पर भी उससे चन्दा लिया जाता है, जिससे सम्पन्न और गणमान्य अतिथियों का बेहतर सत्कार संभव हो। लेकिन आर्थिक शोषण से दबे यह किसान, जिनका प्रतिनिधित्व 'होरी' करता है, स्वयं अपनी मर्यादा (भूमि) और आर्थिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने का अथक प्रयास करता है, और अन्ततः स्वयं उसका गोदान मात्र 20 आने में किया जाता है। औपनिवेशिक शासन में ऐसे कई अवसर आए थे जब साम्राज्यवादी सरकार ने भारत की आम जनता से धन एकत्र करके बड़े-बड़े समारोह आयोजित किए थे। ए. आर. देसाई मानते हैं कि "भूमिकर की ऊँची दर, ऋणग्रस्तता और ऊपर गिनाए गए अन्य कारणों की वजह से यह वर्ग अपने अस्तित्व काल से ही अधिकाधिक दरिद्र होता गया था।" किसानों के वर्णन में प्रेमचन्द की मानवतावादी और जनवादी संवेदनायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं।

किसानों की दयनीय स्थिति के साथ ही उन्होंने उन परिस्थितियों का भी विशद वर्णन किया जब उनमें देश-विदेश की राजनीति में होने वाले परिवर्तनों के साथ अपने अधिकारों के प्रति जागृति आई। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने वास्तविक शोषकों अर्थात साम्राज्यवादी शासन को पहचाना और उनके तथा उनके समर्थकों के विरुद्ध संगठित आन्दोलन किए। एक लम्बे समय तक वह ज़मींदारों को ही अपना शोषक मानते रहे। 1920-22 के आन्दोलन के बाद उनमें यह जागृति आई जिसकी अभिव्यक्ति 'प्रेमाश्रम' में की गई। रामविलास शर्मा के अनुसार, "विश्व के किसी भी कथाकार ने किसानों के जीवन का ऐसा सम्पूर्ण वर्णन प्रस्तुत नहीं किया है।"

1920-22 में लिखे गए 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने किसानों के असंगठन के प्रति चिन्ता व्यक्त की। "1918 के बाद किसानों में राजनीतिक चेतना की शुरूआत हुई। वे संगठित राष्ट्रीय संघर्षों में भाग लेने लगे।" लेकिन 'कर्मभूमि' (1932) लिखे जाने तक उनकी यह चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची जहाँ किसानों ने एक संगठित आन्दोलन चलाया। इन रचनाओं में प्रेमचन्द ने कहीं भी राष्ट्रीय राजनीति की अवहेलना नहीं की है। वरन् उसी से प्रेरित होकर उन्होंने 'कर्मभूमि' में किसानों को नेतृत्व प्रदान किया। साथ ही उन्होंने यह भी महसूस किया कि किसान आन्दोलनों के दबाव में सरकार ने जो कानून बनाए उनका अन्तिम लाभ छोटे किसानों को नहीं मिला, वहीं वह मध्यवर्ग के शहरी लोगों की किसान आन्दोलन में भूमिका को लेकर

भी असंतुष्ट थे। गांधी की तरह प्रेमचन्द ने भी हिंसक आन्दोलन का समर्थन नहीं किया था।

किसान आन्दोलनों की सीमा प्रेमचन्द की नहीं ऐतिहासिक परिस्थितियों और राष्ट्रीय आन्दोलन की सीमा है। एक सामाजिक यथार्थवादी साहित्यकार एक सीमा तक ही इसका अतिक्रमण कर सकता है। वह तत्कालीन सामन्तवादी-महाजनी व्यवस्था में किसानों की मुक्ति को एक असंभव तो नहीं वरन् कठिन कार्य अवश्य मानते थे और उनका मानना था कि इनकी मुक्ति एक समाजवादी सामाजिक व्यवस्था द्वारा संभव है। इसीलिए उन्होंने रूस की समाजवादी व्यवस्था का समर्थन किया, जो राष्ट्रीय आन्दोलन पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव का भी परिणाम था। नेहरू ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन को विस्तृत आधार देने के लिए समाजवादी विचारधारा का समर्थन किया था।

प्रेमचन्द का युग समाज सुधार आन्दोलनों के कारण तीव्र संक्राति का युग था। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के परिणामस्वरूप सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नए जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक प्रतिमानों को प्रतिष्ठित किया जा रहा था। प्रेमचन्द एक प्रगतिशील साहित्यकार थे और अपने युग के प्रति उनका दृष्टिकोण भी प्रगतिशील था। तत्कालीन भारतीय समाज जिन रूढ़िगत परम्पराओं से जकड़ा था और जिसके प्रभाव से समाज का विकास प्रभावित हो रहा था, उनकी निरर्थकता को प्रेमचन्द ने महसूस किया और अपनी रचनाओं के माध्यम से इन्हें तोड़ने का प्रयास किया। यदि यही कार्य कोई अंग्रेज़ करता तो संभवतः वह सफल न होता।

समाज में महिलाओं की तत्कालीन शोषित स्थिति से वह बहुत चिन्तित थे। उन्होंने दिखाया कि महिलाएँ या तो अत्याचारों से पीड़ित हैं या वह पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से स्वतन्त्र जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करना चाह रही हैं, जिसे प्रेमचन्द ने भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल मानते हुये, लड़कियों को स्कूली शिक्षा देने का विरोध किया। यद्यपि वह नारी जीवन की विसंगतियों को दूर करना चाहते थे, लेकिन पाश्चात्य सभ्यता के अनुकूल नहीं वरन् भारतीय संस्कृति के अनुरूप। वह नारी शिक्षा के विरोधी नहीं थे वरन् उनके लिए ऐसी शिक्षा का समर्थन करते थे जिससे वह एक योग्य और सुसंस्कृत घरेलू महिला ही नहीं बनेंगी वरन् आवश्यकता पड़ने पर धनोपार्जन भी कर सकती हैं। अतः वह कला, शिक्षण, गृह विज्ञान संगीत, चित्रकला, फोटोग्राफी, सिलाई और कढ़ाई जैसे विषयों की शिक्षा को लड़कियों के लिए आवश्यक मानते थे। उन्होंने समकालीन सुधारवादी आन्दोलन के अनुरूप स्त्री स्वतन्त्रता और उनके अधिकारों का खुलकर समर्थन किया। उन्होंने कहा कि

बालिकाएँ स्वयं अपना भाग्य अपने हाथ में लें। वह लोग जो स्त्री स्वतन्त्रता के दुष्परिणामों का वर्णन करके उनकी आज़ादी पर प्रतिबंध लगाने का समर्थन करते थे, उसका जवाब उन्होंने स्त्री स्वतन्त्रता पर लेख लिखकर दिया। इसी दौरान आजादी की लड़ाई में महिलाओं की भागीदारी बढ़ रही थी। स्त्री स्वतन्त्रता के समर्थक होने के बावजूद वह स्वतन्त्रता के पश्चिमी आदर्श से सशंकित थे। सेवा, करुणा, पवित्रता और क्षमा जैसे आदर्शों की अवहेलना को वह अक्षम्य मानते थे।

प्रेमचन्द ने पारिवारिक जीवन, विशेष रूप से संयुक्त परिवार को बहुत महत्व दिया है। वह परिवार के पाश्चात्य आदर्श अर्थात एकल परिवार के विरोधी थे। परिवार सामाजिक जीवन का आधार होता है और यह आधार जितना मजबूत होगा, समाज भी उतना ही शक्तिशाली होगा। इसीलिए प्रेमचन्द ने पारस्परिक सहयोग पर आधारित संयुक्त परिवार की अवधारणा को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया है।

प्रेमचन्द ने मन्दिर-प्रवेश जैसे ज्वलन्त सामाजिक विषयों के प्रति भी आम जनता का ध्यान आकर्षित किया। यद्यपि पूँजीपति और सामंती विचारधारा के व्यक्तियों ने उनकी आलोचना की। लेकिन प्रेमचन्द ने इसकी परवाह न करते हुए जिस रूप में सम्पूर्ण परिवेश को देखा उसका ईमानदारी के साथ उसी रूप में वर्णन किया है। उनकी इस ईमानदारी का प्रत्यक्ष प्रमाण पंडित शालिगराम शास्त्री द्वारा प्रेमचन्द पर दायर किए गए मुकदमे से स्पष्ट होता है। 'इस्लामी सभ्यता' में प्रेमचन्द ने लिखा, 'हिन्दू समाज ने जिन लोगों को नीच बना दिया है, उनको कुएँ की जगत पर भी चढ़ने नहीं देता, उन्हें मन्दिरों में घुसने नहीं देता। ये अपने में मिलाने के नहीं, अपने से अलग करने के लक्षण हैं।'

प्रेमचन्द ने पृथकतावादियों की तीव्र आलोचना की है। सम्भवतः उनका यह मानना है कि सभी सम्प्रदायों की एकता पर ही समाज, देश और स्वयं मनुष्य की उन्नति संभव है। उन्हें इस बात का कभी अफसोस नहीं रहा कि पृथकतावादी कट्टर मौलवी या पंडित उनकी आलोचना करते हैं। यद्यपि साम्प्रदायिकता के लिए वह सरकार और उसकी कूटनीतिज्ञता को उत्तरदायी मानते हैं, लेकिन जहाँ उन्होंने यह महसूस किया कि सरकार के साथ अन्य तत्व भी उत्तरदायी हैं तो उसकी भी उन्होंने खुलकर आलोचना की। उन्होंने कांग्रेस की इसलिए आलोचना की, क्योंकि उन्होंने मुसलमानों को अपना सहयोगी बनाने का उतना प्रयास नहीं किया, जितना उन्हें करना चाहिए था और जो भी प्रयास किए गए उनमें ईमानदारी का अभाव था। साम्प्रदायिकता के लिए प्रेमचन्द ने शिक्षा प्रणाली को दोषी मानते हुए सही इतिहास लिखने की आवश्यकता पर बल दिया। आर्य समाजी होने के बावजूद प्रेमचन्द ने उनकी मुसलमान विरोधी भावनाओं का कभी भी समर्थन नहीं किया। उन्होंने शुद्धि

आन्दोलन को ही तबलीग (प्रचार) और तंजीम (संगठन) के लिए उत्तरदायी माना था। 'हम संगठन और तंज़ीम प्रेमियों से यह निवेदन करना चाहते हैं कि इन आयोजनों से आप हम दोनों जातियों के बीच में एक लोहे की दीवार खड़ी कर रहे हैं।' अतः प्रेमचन्द धार्मिक संकीर्णताओं की अपेक्षा मानव मात्र की एकता को महत्व देते हैं प्रेमचन्द ने कभी भी गांधी के रामराज्य का समर्थन नहीं किया, क्योंकि ऐसे समाज से भारत के एक सम्प्रदाय का असंतुष्ट होना स्वाभाविक था।

वास्तव में दोनों समुदायों में टकराहट की जड़ें विशद रूप से इतिहास में हैं, जहाँ एक विजेता है और दूसरा विजित। प्रेमचन्द ने अपने लेख 'इस्लामी सभ्यता' में लिखा, 'न हिन्दू को इतनी फुरसत है कि इस्लाम के तत्वों की छानबीन करे, न मुसलमान को इतना अवकाश है कि हिन्दू-धर्म-तत्वों के सागर में गोते लगाए। दोनों एक-दूसरे में बेसिर पैर की बातों की कल्पना करके माथा फुटौवल करने पर आमादा रहते हैं। हिन्दू समझते हैं दुनिया भर की बुराइयाँ मुसलमानों में भरी हुई हैं, इनमें न दया है, न धर्म, न सदाचार, न संयम। मुसलमान समझता है हिन्दू पत्थरों को पूजने वाला, गर्दन में धागे डालने वाला, माथा रंगने वाला, और दाल-भात खाने वाला पशु है। दोनों एक-दूसरे के साये से बचते हैं। और दोनों दलों में जो बड़े-बड़े धर्माचार्य हैं वह इस भेदभाव में सबसे आगे हैं।.......यह दशा अस्थायी है और वह समय दूर नहीं जब हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी गलती पर पछताएँगें।'

हिन्दू-मुस्लिम विवाद के कारणों के सम्बन्ध में सुमित सरकार प्रेमचन्द के विचारों से सहमत है कि "मस्ज़िद के आगे बाजे बजाना और गौकुशी बन्द करना ही विवाद का मुख्य मुद्दा था।" बिपिन चन्द्रा के अनुसार, "हिन्दी की जगह उर्दू लाने के आन्दोलन में मदद देकर ब्रिटिश सरकार ने उत्तर प्रदेश और बिहार के हिन्दू-मुसलमानों के बीच सामाजिक और साम्प्रदायिक कड़वाहट को जन्म दिया।" इस सत्य की गंभीरता को समझते हुए प्रेमचन्द ने 'हिन्दुस्तानी भाषा' का समर्थन किया था।

पूँजीवादी व्यवस्था से आर्थिक जीवन में जिस तीव्रता से आर्थिक विषमता की अवधारणा को एक ठोस आधार मिल रहा था, प्रेमचन्द ने उसका विरोध किया। वह समतावादी समाज के समर्थक थे अर्थात् उनका आदर्श समाज रूसी समाज था न कि अमरीकी समाज। बिपिन चन्द्रा के अनुसार, "पूँजीपति वर्ग सत्ता के खिलाफ लम्बे समय तक आक्रामक आन्दोलन को समर्थन देने में हिचकिचाता था, क्योंकि इससे उसकी रोजमर्रा की व्यापारिक गतिविधियाँ प्रभावित होती थीं और उसे लगता था कि आन्दोलन का रुख स्वयं उसके वर्गीय अस्तित्व के लिए खतरा है।" प्रेमचन्द ने ऐसे समाज की वकालत की जो किसानों और मज़दूरों का समाज हो। इसीलिए किसी हद

तक उनका मन न था कि भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष मेहनत मज़दूरी करने वालों के सहयोग से ही सफल होगा न कि सफेदपोश नेताओं से।

सामान्तवादी व्यवस्था की आलोचना करने के बावजूद प्रेमचन्द ने सामन्तवाद और पूँजीवाद की तुलना करने पर पूँजीवादी शोषण को अधिक हानिकारक माना है। पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक लाभों और व्यक्तिगत स्वार्थों पर ही सारी व्यवस्था आधारित है, जहाँ व्यक्ति के आदर्शों का कोई मूल्य नहीं। इस विचारधारा से धीरे-धीरे ग्रामीण क्षेत्र भी प्रभावित होने लगे। परिणामस्वरूप उनका सामूहिक जीवन तेजी से विघटित होने लगा। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति का आत्मिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों का सामंजस्य ही धन है। इसने ही दहेज़, भ्रष्टाचार आदि अनैतिक कार्यों को एक मजबूत आधार दिया है, जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठित होने का प्रयास कर रहा है। यह प्रेमचन्द का प्रगतिशील दृष्टिकोण ही था कि आज आर्थिक विषमता से पीड़ित सामान्य व्यक्ति ही नहीं सम्पन्न व्यक्ति भी इन सामाजिक बुराइयों से जकड़े हुए है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति का समान अवसर तभी मिल सकता है, जब समाज में आर्थिक विषमता न हो और प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम का फल मिले। आर्थिक दृष्टिकोण से प्रेमचन्द एक ऐसी व्यवस्था चाहते हैं, जिसमें एक वर्ग अपने आर्थिक स्वार्थ के लिए शेष समाज का शोषण करने के लिए स्वतन्त्र न हों।

प्रेमचन्द की रचनाओं और उनके व्यावहारिक जीवन में कुछ विषयों को लेकर अन्तर्विरोध है। जैसे उन्होंने अपने दोनों बेटों को शिक्षा दी, लेकिन स्त्री शिक्षा और नारी स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक होने के बावजूद उन्होंने अपनी बेटी को उस स्तर की शिक्षा नहीं दी। क्योंकि उनका यह मानना था कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ गृहस्थी नहीं चला सकतीं, इसके अतिरिक्त उनके चरित्र को भी प्रेमचन्द ने आशंका की नज़र से देखा। इसी प्रकार दहेज़ को एक सामाजिक कुप्रथा मानते हुए प्रेमचन्द ने सलाह दी कि बेटियों का विवाह धनी परिवारों में नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे परिवारों में दहेज़ प्रतिष्ठा का प्रश्न मुद्दा बन जाता है। लेकिन एक ओर जहाँ उन्होंने अपनी बेटी का विवाह सागर के एक बड़े जमींदार के बेटे (वासुदेव प्रसाद) से किया, वहीं उनकी बेटी कमला देवी ने लिखा कि उन्होंने मेरे विवाह में दहेज़ दिया था और विवाह में सात हज़ार रुपये खर्च किए थे। यही विरोधाभास सामाजिक अन्धविश्वासों के प्रति भी दिखाई देता है। अपनी बेटी के विवाह में उन्होंने कन्यादान नहीं किया, लेकिन वैदिक रीति से पाणिग्रहण संस्कार कराया गया। कन्यादान के बारे में प्रेमचन्द का मानना था कि बेजान चीज दान में दी जाती है। जानदार चीजों में तो गाय का ही दान किया जाता है, फिर कन्या का दान केसा? यह मुझे पसन्द नहीं।

सिद्धान्तों और व्यावहारिकता में यह मतभेद समाज-सुधारकों में भी दिखाई देता है। जैसे विधवा विवाह का समर्थन करने के बावजूद सुधारकों के लिए इस पर अमल करना संभव न था, क्योंकि उन्हें अपने सामाजिक-धार्मिक बहिष्कार का भय रहता था। इसके बावजूद 1931 की जनगणना के अनुसार विधवा विवाहों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। स्वयं प्रेमचन्द ने भी विधवा शिवरानी देवी से दूसरा विवाह किया था। अतः कुछ अपवादों को छोड़कर प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में युगीन समाज का यथार्थ वर्णन करते हुए तत्कालीन समाज में प्रचलित रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों पर प्रहार किया है। विधवाओं की जिस दयनीय स्थिति का वर्णन प्रेमचन्द ने किया था उसकी पुष्टि बिपिन चन्द्रा करते हैं—"यदि कोई महिला सती होने से बचा ली जाती थी तो उसे वैधव्य भोगना पड़ता था—अपमान, तिरस्कार, उपेक्षा और मुसीबतों की पहाड़ सी जिन्दगी।"

प्रेमचन्द ने समाज के सभी वर्गों के जीवन का विशद वर्णन किया है, लेकिन सर्वाधिक सफलता उन्हें किसानों के चित्रण में मिली। रामविलास शर्मा के अनुसार, "हिन्दी में किसानों की समस्याओं पर ज्यादा उपन्यास लिखे ही नहीं गए, जो लिखे भी गए हैं, उनमें प्रेमचन्द की सूझबूझ का अभाव रहा है।" इसीलिए आज भी प्रेमचन्द के विषय अपने आप में श्रेष्ठ हैं। उन्होंने एक शोषणमुक्त समाज की स्थापना को महत्व दिया, जो एकता की भावना पर आधारित हो।

प्रेमचन्द एक समस्यामूलक साहित्यकार थे और उन्होंने जिन समस्याओं को उठाया उसका यथासंभव समाधान भी देने का प्रयास किया। किसानों की समस्याओं का समाधान करने के लिए, 'सेवासदन' में कृषि संस्था की स्थापना की 'प्रेमाश्रम' में कृषिशाला की और 'रंगभूमि' में सेवा समिति की स्थापना पर बल दिया वहीं 'कर्मभूमि' में संगठित आन्दोलन की आवश्यकता पर बल दिया। यद्यपि यह समाधान तत्कालीन समाज से काफी आगे थे, लेकिन आज यह अवश्य प्रासंगिक समाधान है। मन्मथनाथ गुप्त ऐसे समाधान की आलोचना करते हैं जहाँ ज़मींदार सहृदय हो जाएँगे। उनके अनुसार, "ऐसे ज़मींदार नहीं के बराबर हैं जो अपना सर्वस्व बलिदान कर दें और फिर लाखों में 99,999 क्षेत्र का क्या समाधान है?" संभवतः प्रेमचन्द को भी ऐसे समाधानों की निरर्थकता का अभास था इसीलिए इसकी पुनरावृत्ति नहीं की गई।

'प्रेमाश्रम' के समाधानों का महत्व 13 अप्रैल, 1951 के 'भूदान आन्दोलन' से प्रमाणित हुआ, जिसे विनोबा भावे ने आरम्भ किया था। उन्होंने सम्पन्न भूमिपतियों से प्रार्थना की कि वह अपनी भूमि का थोड़ा भाग भूमिहीनों को स्वेच्छा से दें। सुक्खू चौधरी के रूप में ऐसे भूस्वामियों को प्रेमचन्द ने 1922 में ही वर्णित कर दिया था।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने जिस कृषिशाला की स्थापना की, उसे स्वतन्त्र भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में देखा जा सकता है, जहाँ उत्तम किस्म के बीज, खाद, आधुनिक तकनीक आदि को महत्व दिया गया। 'सर्वोदय आन्दोलन' अर्थात् सभी की उन्नति से संबंधित आन्दोलन में सभी के हितों का ध्यान रखा जाता है, साथ ही इसमें समानता की भावना भी निहित है। निःसंदेह वर्तमान युग में सर्वोदय की भावना का विशेष महत्व है और 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने 'सेवासमिति' के रूप में इसकी उपयोगिता को पहले ही वर्णित कर दिया था। आज सर्वोदय आन्दोलन सुखद भविष्य का संकेत दे रहा है।

हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक डॉ. कमल किशोर गोयनका, जिन्होंने प्रेमचन्द पर शोध एवं अनुसंधान कार्य में अपने जीवन के तीस साल लगा दिए, ने 30 जुलाई, 2000 में प्रेमचन्द की रचनाओं को दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से हटाए जाने के प्रति अपना असंतोष व्यक्त किया। विश्वविद्यालय ने यह तर्क दिया कि पाठ्यक्रम को आधुनिक बनाया जा रहा है, लेकिन क्या प्रेमचन्द आधुनिक और प्रासंगिक नहीं थे। उनसे अधिक आधुनिक लेखक कौन हो सकता है।

20वीं सदी के आरम्भिक चालीस वर्षों के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक यहाँ तक कि राजनीतिक जीवन का वास्तविक और जीवंत इतिहास देखना हो तो इसके लिए प्रेमचन्द की रचनाएँ कुछ अपवादों के साथ वास्तविक दस्तावेज कही जा सकती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

प्रेमचन्द की रचनाएँ:

उपन्यास

1. प्रेमा, 1907. 'हम खुरमा-वा हम सवाब' का हिन्दी अनुवाद, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1961
2. किसना, 1907.
3. रुठी रानी, 1907.
4. सेवासदन, 1918-19, 'बाज़ार ए हुस्न', उर्दू में, सरस्वती प्रेस, बनारस, 1961.
5. प्रेमाश्रम (1921, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977).
6. वरदान (1921, 'जलवा ए इसरार' का हिन्दी अनुवाद, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1961).
7. रंगभूमि (1925, उर्दू में 'चौगान ए हस्ती', सरस्वती प्रेस, बनारस, 1961).
8. कायाकल्प 1926, उर्दू में 'पर्दा ए मज़ाज', हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1961.
9. निर्मला (1926, सरस्वती प्रेस, बनारस, 1961).
10. प्रतिज्ञा (1927, उर्दू में 'बेवा', हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962).
11. गबन (1931 हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1961).
12. कर्मभूमि 1932, उर्दू में 'मैदान ए अमल', हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962.
13. गोदान (1936, उर्दू में 'गौदान', सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1970).
14. मंगलसूत्र (अपूर्ण) प्रेमचन्द स्मृति अंक, हंस प्रकाशन, बनारस, 1948.
15. कहानियाँ और नाटक प्रेमचन्द रचनावली, भाग-11 से भाग-15. में संकलित, डॉ. रामविलास शर्मा, संपादक, राम आनन्द दिल्ली, 1996.
    1. संग्राम (1923 सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1980.
    2. 'कर्बला', 1924 प्रेमचन्द रचनावली, भाग-10.
    3. 'प्रेम की वेदी', 1933 प्रेमचन्द रचनावली, भाग-10.
16. प्रेमचन्दः चिट्ठी-पत्री, अमृतराय, भाग-1 भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 1978.
17. प्रेमचन्द के लेख, भाषण, संपादकीय, समीक्षाएँ, प्रेमचन्द रचनावली, भाग-7, 8, 9.
18. कुछ विचार-प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973.
19. 'कलम, तलवार और त्याग', सरस्वती प्रेस, बनारस 1940.
20. साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1959.
21. विविध प्रसंग, भाग-1, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 1980.
22. विविध प्रसंग, भाग-2 और 3, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 1978.
23. मानसरोवर, भाग-1 से 8 तक, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1982.
24. सोलह अप्राप्य कहानियाँ, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1982.

अन्य स्रोतः

21. प्रेमचन्दः हमारे समकालीन, डॉ. शशिभूषण पाण्डेय, 'शीतांशु', अमृतसर, 1986.
22. प्रेमचन्द एक इतिहास एक वर्तमान, डॉ. चन्द्रबली सिंह, कलकत्ता, 1980.
23. प्रेमचन्द एक समकालीन भारतीय उपन्यासकार, डॉ. कलावती प्रकाश, जयपुर, 1998.
24. प्रेमचन्द का कथा संसार, बादाम सिंह रावत
25. प्रेमचन्द कलम का सिपाही, अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962.
26. प्रेमचन्द-एक विवेचना, इन्द्रनाथ मदन, दिल्ली, 1981.
27. प्रेमचन्द, डॉ. राम विलास शर्मा, नई दिल्ली, 1994.
28. प्रेमचन्द और उसका युग, डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल, नई दिल्ली, 1981.
29. प्रेमचन्द एक अध्ययन, डॉ. राजेश्वर गुरू, भोपाल, 1958.
30. प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन, नन्ददुलारे बाजपेयी, इलाहाबाद, 1979.
31. प्रेमचन्द घर में, शिवरानी देवी, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, 1981.
32. प्रेमचन्द की आर्थिक भूमिका, डॉ. सुरेश धीगड़ा
33. प्रेमचन्द और यथार्थवादी परम्परा, राजकुमार शर्मा, दिल्ली, 1981.
34. प्रेमचन्द और ग्राम समस्या, प्रेमनारायन टण्डन, आगरा, 1976.
35. प्रेमचन्द साहित्य में ग्राम्य जीवन, डॉ. सुभद्रा, दिल्ली, 1972.
36. प्रेमचन्द अध्ययन की नई दिशायें, डॉ. कमल किशोर गोयनका, दिल्ली, 1970.
37. प्रेमचन्द साहित्य में व्यक्ति और समाज डॉ. रक्षापुरी, दिल्ली, 1970.
38. प्रेमचन्द और भारतीय किसान, डॉ. रामबक्ष, दिल्ली, 1982.
39. प्रेमचन्द ने कहा था, सीताराम खोड़ावाल, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 1990.
40. प्रेमचन्द की विचार यात्रा, कमर रईस, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 1995.
41. प्रेमचन्द, सचित्र जीवन परिचय, अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994.
42. किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचन्द, वीर भारत तलवार, नार्दन बुक सेन्टर, नई दिल्ली, 1990.
43. कलम का मज़दूर, मदन गोपाल, नई दिल्ली, 1965.
44. भारत का मुक्ति संग्राम, अयोध्या सिंह, मैकमिलन, नई दिल्ली, 1977.
45. भारत वर्तमान और भावी, रजनीपाम दत्त, नई दिल्ली, 1982.
46. भारतीय चिन्तन परम्परा, के. दामोदरन, अनुवादक श्री धरन, नई दिल्ली, 1968.
47. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, ए.आर. देसाई, दिल्ली, 1999.
48. भारत की स्वतन्तत्र संघर्ष, बिपिन चन्द्रा, नई दिल्ली, 1996.
49. भारतीय अर्थशास्त्र, जाथर एण्ड बेरी, दिल्ली, 1956.
50. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तनः के.एम. पन्निकर, नई दिल्ली, 1967.

51. आधुनिक भारत, सुमित सरकार, नई दिल्ली, 1995.
52. आज का भारत, रजनी पाम दत्त, नई दिल्ली, 1977.
53. प्रेमचन्द विश्वकोश, डा. कमल किशोर गोयनका, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1981.
54. मेरी कहानी, जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मंडल, 11वां संस्करण, नई दिल्ली, 1971.
55. हिन्दुस्तान की कहानी, पंडित नेहरू, अनुवाद-श्री राम चन्द्र टंडन-नई दिल्ली, 1977.
56. साहित्य का श्रेय और प्रेय, जैनेन्द्र कुमार, दिल्ली, 1959.
57. सामाजिक न्याय, लोकतंत्र और जाति व्यवस्था, रामगोपाल सिंह, जयपुर, 1999.
58. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, एम.एन. श्री निवास, नई दिल्ली, 1967.
59. भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्‌भव और विकास, बिपिन चंद्र, दिल्ली, 1993.
60. प्रेमचन्द, जीवन, कला और कृतित्व, हंसराज रहबर, आत्माराम, दिल्ली, 1962.
61. 'प्रेमाश्रम', डॉ. इन्द्रनाथ मदन द्वारा सम्पादित 'प्रेमचन्द प्रतिभा' में संकलित निबंध, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1967.
62. चम्पारन में महात्मा गांधी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1965.
63. An Autobiography: Pt. J. L. Nehru, New Delhi, 1962.
64. Agrarian Unrest in North India, The United Provinces 1918 22: M.H. Siddiqi, Vikas, New Delhi, 1978.
65. Agrarian Unrest in U.P., S. Gopal, New Delhi, 1973.
66. Between Two Worlds, An Intellectual Biography of Premchand, Geetanjali Pandey, New Delhi, 1989.
67. Court, Character and Primary Education in the N-W Provinces of Avadh: M.M. Malviya, Allahabad, 1897.
68. The Cambridge Economic History of India, Vol.-II, (1757-1970): Dharma Kumar, Hyderabad, 1989.
69. Curzon's Speeches, Calcutta, (1901-06) (Relevant Volumes).
70. Caste and Race in India: G.S. Ghuriye, Bombay, 1950.
71. Communalism in Modern Indian: Bipin Chandra, New Delhi, 1996.
72. Communalism — A Struggle for Power: Prabha Dixit, New Delhi, 1974.
73. Premchand and Peasantry; Economic and Political Weekly, June 25, 1983.
74. Hindu Society at Cross Roads, K.M. Panikkar, Bombay, 1956.
75. Hindu-Muslim Relation, Raghuraj Gupta, Lucknow, 1976.
76. Indian Peasant Uprising, Kathleen Gough.
77. India Today, R. P. Dutt, Bombay, 1949.
78. Indian Social System, Ram Ahuja, New Delhi, 1993.

79. Kinship Organisation in India, Irawati Karve, Bombay, 1953.
80. Land Problem in India, Radha Kamal Mukherji, New Delhi, 1933.
81. Life and Works of Premchand, Manohar Bandopadhyay, Publication Division, 1981.
82. Land Reform in India, H.D. Malviya, All India Congress Committee, Delhi 1954.
83. Modern India, 1885-1947, Sumit Sarkar, Macmillan, New Delhi, 1983.
84. Muslims and Indian Nationalism–The Emergence of the Demand for India's Partition (1928-40), Uma Kaur, New Delhi 1977.
85. Muslim Politics (1906-40), Humayun Kabir, Calcutta, 1969.
86. Marriage and Family in India, K.M. Kapadia, London, 1972.
87. Our Economic Problem, Wadia and Merchant, Bombay, 1943.
88. Premchand, Indra Nath Madan, New Delhi.
89. Pakistan 1940, K.M. Ashraf.
90. Popular Movements and Middle Class Leadership in Late Colonial India: Perspective and Problems of a History from Below: Sumit Sarkar, K.P. Bagchiand Co., Calcutta, 1980.
91. Peasant Movement in Awadh, 1918-22, Kapil Kumar, Thesis, History Deptt. Meerut University, 1979.
92. Peasant Revolt and Indian Nationalism, The Peasant Movement in Awadh, 1919-22: Gyan Pandey, Essay compiled in Subaltern Studies, edited by Ranjeet Guha.
93. Speeches of Sardar Patel, Compiled By Parikh and Shah.
94. Society — A Guide to Problems and Literature, T.B. Battomore, Bombay, 1972.
95. Social Movement in India, M.S.A. Rao, New Delhi, 1978.
96. Selected Works of Pt. Jawahar Lal Nehru, S. Gopal (Relevant Volumes), New Delhi, 1972.
97. Some Aspects Of Family in Mahuve, I.P. Desai, Bombay, 1964.
98. Social Change in India, R. Kuppuswami, New Delhi, 1990.
99. The Agrarian Problem in India, Z.A. Ahmad, New Delhi, 1936.
100. The Industrial Evolution in India in Recent Times, D.R. Gadgill, Oxford Univ. Press, 1933.
101. The Harijan Movement, Rameshwari Nehru, New Delhi, 1940.
102. The Cultural Background of Personality, Ralph Linton, London, 1947.
103. The Poverty Problem in India, Prithueesh Chandra Rai, Bombay, 1898.

104. The History of the Indian National Congress, Pattabhi Sitaramayya, New Delhi, 1946-47.

105. Towards Non-Violent Socialism, M.K. Gandhi, New Delhi, 1951.

106. The Position of Women in Hindu Society, A. S. Altekar, Delhi, 1959.

107. The Garden of India, Chapters on Awadh History and Affairs , 1-2, H.C. Irwin, Pustak Kendra, Lucknow, 1973.

108. Women in Colonial India — Essays on Survival Work and The state: J. Krishanamurti, New Delhi, 1989.

109. Studies in Indian Economics, C.N. Vakil and M. H. Patel, Bombay, 1940.

110. Jawahar Lal Nehru — A Biography, S. Gopal, London, 1975.

111. History of Freedom Movement in India, V. P. Singh, Barielly - 1988.

112. The Family in India, A. M. Shah, New Delhi, 1998.

113. 'Peasants Perception of Gandhi and His Programme, Awadh, 1920-22', Kapil Kumar, Social Scientist, February, 1983.

114. 'Population of India and Pakistan', K. Davis, 1951 'Modern Islam in India': W. C. Smith, 1943.

115. 'Modern Islam in India', W. C. Smith, Lahore, 1963.

116. 'Census of India, United Provences of Agra and Awadh', E.H.H. Edye, Allahabad, 1923.

117. 'The Deoband School and Demand for Pakistan', Ziaul Hassan Faruqi, Bombay.

118. 'Society— A Guide to Problems & Literature, T.B. Bottomore,

119. Rise and Growth of Indian Nationalism, M. A. Baq, 1939.

120. Using the Ramcharitmanas as a Redical Text, Baba Ramchand in Awadh, 1920-50. Research Paper of Kapil Kumar read in a Seminar organized by Jawaharlal Nehru Memorial Museam and Library, New Delhi, Feb. 7-11, 1983.

121. Peasants and Workers Movement; 1905-29, Sukhbir Choudhary, Delhi, 1971.

122. Indian National Liberalism, B. P. Sinha, New Delhi, 1947.

123. The Wretched of the Earth, Frantz Fanon, England, 1976.

124. Gokhale Speeches, G. V. Joshi Delhi, 1977.

125. The Rise and Growth of Economic Nationalism in India, Bipin Chandra, New Delhi, 1984.

Govt. Publications/Reports/News Papers

1. Report of Royal Commission on Agriculture-1928.
2. The Deccan Riot Commission-1925.
3. Report of the Indian Statutory Commission, 1930 (Simon Commission).
4. Proceedings of the Council of the Governor of Bombay-1901.
5. Report of the Central Banking Enquiry Committee-1931.
6. Indian Historical Review-July 1975.
7. Congress Agrarian Enquiry Committee Report-1931.
8. Report of the Bombay Riots Enquiry Committee-1925.
9. Mehta Report-1920.
10. Agrarian Distress in U.P. 2nd Sep. 1931 Submit By-G.B. Pant, Rafi Ahmad Kidwai and Venkatesh Narain Tiwari.
11. Report of an Informal Committee Appointed to Examine and Advise Regarding pairagraph 212 to 259 of the Report on Indian Constitutional Reforms, Govt. Press, Allahabad, 1918.
12. Proceedings of the Council of the Government of Bombay, 1901, Part 39.
13. Census of India— United Provences of Agra and Awadh, Vol. XVI, E. H. H. Edye, Allahabad, 1923.
14. Journal of the Royal Statistical Society -1901.
15. Economic and Political Weekly, vol. IX, August 1947.
16. London Times 26 Jan. 1921.
17. Pioneer, March 1922.
18. 'प्रताप', 1917-22. माइक्रोफिल्म, जे.एन.एम.एम.एल., दिल्ली.
19. 'अभ्युदय', 1917-22, माइक्रोफिल्म, जे.एन.एम.एम.एल., दिल्ली.
20. 'हंस', 1934-36, माइक्रोफिल्म, जे.एन.एम.एम.एल., दिल्ली.
21. 'सरस्वती', 1914-23, माइक्रोफिल्म, जे.एन.एम.एम.एल., दिल्ली.
22. 'मर्यादा', 1918-22, माइक्रोफिल्म, जे.एन.एम.एम.एल., दिल्ली.
23. 'जागरण', 1921-24, माइक्रोफिल्म, जे.एन.एम.एम.एल., दिल्ली
24. 'माधुरी', 1922-23, माइक्रोफिल्म, जे.एन.एम.एम.एल., दिल्ली
25. 'ज़माना',1930.
26. 'सुलभ दैनिक', नवम्बर 1985.
27. 'रामचन्द्र पेपर्स', आर.सी. 1, पांडुलिपी विभाग, जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाइब्रेरी, नई दिल्ली।

अनुक्रमणिका

औपनिवेशिक भारत का इतिहास

पुस्तक के विषय में

बनारस के एक छोटे से गांव लमही ने भारत को प्रेमचन्द जैसा श्रेष्ठ साहित्यकार दिया, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। वह पहले ऐसे रचनाकार थे जिन्होंने समाज के सर्वाधिक परिश्रमी परन्तु शोषित किसानों को अपनी रचनाओं का मुख्य आधार बनाया। उन्होंने कहीं भी स्वयं को तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों से अलग नहीं किया। औपनिवेशिक व्यवस्था में किसान ही ऐसा वर्ग था जिसके पास खोने के लिये कुछ भी नहीं था और पाने के लिए बहुत कुछ था। इसीलिये उन्होंने कहा कि भविष्य मजदूरों और किसानों का है और दुनिया की घटनाओं के रुझान ने इसे प्रतिबिम्बित किया।

प्रेमचन्द के यथार्थवादी दृष्टिकोण ने उनकी रचनाओं को एक विशेष प्रकार की व्यापकता प्रदान की। उनके द्वारा प्रदत्त जानकारियों की पुष्टि ऐतिहासिक स्रोतों से भी होती है, फिर चाहे वह किसानों में आई जागृति के परिणामस्वरूप उनका आंदोलित होना हो, या फिर भारत की अखण्डता का प्रश्न हो, या स्वंय पर ब्राहमण विरोधी होने का आरोप हो अथवा सामाजिक जीवन में आई विसंगतियाँ ही क्यों न हों। ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक इस क्षेत्र में कोई व्यापक कार्य नहीं हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में तत्कालीन परिस्थितियों का ऐतिहासिक सीमाओं के अन्तर्गत वस्तुनिष्ठ और तुलनात्मक वर्णन करने का प्रयास किया गया है।

लेखिका के विषय में

डा. मनीषा लखनऊ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में असिस्टेन्ट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं। इन्होंने इसी विश्वविद्यालय से एम. ए. किया, 1994 में यू. जी. सी. नेट/जे. आर. एफ. की परीक्षा उत्तीर्ण की तत्पश्चात अपना शोध कार्य पूरा किया। इन्होंनें विभिन्न सेमिनारों में सोलह से अधिक शोध पत्र प्रस्तुत किये है। वर्तमान में इनके पांच शोध पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। अवध के इतिहास से सम्बन्धित जानकारियां प्राप्त करने में इनकी विशेष रुची है। वर्तमान में यह अवध के नवाब के दरबार में आये ब्रिटिश रेजिडेन्टों के कार्यकाल पर *Awadh: Residency, Residents and the Nawab's Court* (1772-1857) शीर्षक से पुस्तक पर कार्य कर रहीं हैं। इसके अतिरिक्त *The Status of Taluqdars: Pre and Post Independence* नामक पुस्तक पर भी कार्य कर रहीं हैं।

BOOKSHELF

Publication Division of
KNOWLEDGE EVOLUTION MEDIA (KEM) PVT. LTD.
A-4, B-49, Joshi Colony, Patparganj, Delhi-110092

H.O. : Plot No. 418, Ground Floor-I, Sector 5
Vaishali, Ghaziabad-201010

Price ₹ 375/-

ISBN 978-93-80258-03-4

9 789380 258034